उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त
विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

MAHI-111
निबंध और अन्य गद्य विधाएँ

खंड

01

गद्य साहित्य की अन्य विधाएँ-I

इकाई 01
निबंध : धोखा 5

इकाई 02
निबंध : लोभ और प्रीति 18

इकाई 03
निबंध : कुटज 30

इकाई 04
निबंध : संस्कृति और जातीयता 42

इकाई 05
निबंध : तीसरे दर्जे का श्रद्धेय 57

पाठ्यक्रम विशेषज्ञ समिति

प्रो. ओम अवस्थी
गुरू नानक देव
विश्वविद्यालय, अमृतसर
प्रो. गोपाल राय
नई दिल्ली
प्रो. नामवर सिंह
नई दिल्ली
प्रो. नित्यानंद तिवारी
दिल्ली विश्वविद्यालय,
दिल्ली
प्रो. निर्मला जैन
गुड़गाँव, हरियाणा
प्रो. प्रेम शंकर
सागर विश्वविद्यालय
सागर
प्रो. मुजीब रिज़वी
नई दिल्ली
प्रो. मैनेजर पाण्डेय
जवाहरलाल नेहरु विश्वविद्यालय
नई दिल्ली
प्रो. रामस्वरूप चतुर्वेदी
इलाहाबाद
प्रो. लल्लन राय
शिमला
प्रो. शिवकुमार मिश्र
वल्लभ विद्यानगर,
गुजरात
स्व. शिव प्रसाद सिंह
प्रो. सूरजभान सिंह
नई दिल्ली

संकाय सदस्य
प्रो. वी.रा. जगन्नाथन
कार्यक्रम संयोजक
डॉ. जवरीमल्ल पारख
डॉ. रीता रानी पालीवाल
डॉ. सत्यकाम
डॉ. राकेश वत्स
डॉ. शत्रुघ्न कुमार
डॉ. नीलम फारूकी
श्रीमती स्मिता चतुर्वेदी
डॉ. विमल खांडेकर

पाठ्यक्रम निर्माण

मूल लेखक	इकाई संख्या	संशोधन
डॉ. भगवती प्रसाद शर्मा दिल्ली विश्वविद्यालय	15 और 18	डॉ. जवरीमल्ल पारख (इकाई 15, 16 और 18)
डॉ. पवन कुमार मिश्र उज्जैन	16 और 17	
डॉ. हरिमोहन शर्मा दिल्ली विश्वविद्यालय	19	

पाठ्यक्रम संपादक
प्रो. निर्मला जैन
पाठ्यक्रम संयोजक
डॉ. जवरीमल्ल पारख
डॉ. नीलम फारूकी
खंड संपादन
डॉ0 जवरीमल्ल पारख

निर्माण सहयोग

मुद्रण
श्री कुलवंत सिंह
अनुभाग अधिकारी (प्रकाशन)

कैमरा रेड्डी कॉपी
श्री नरेश कुमार

आवरण
शंख सामंता

मार्च, 2003 (पुनर्मुद्रित)

© इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, 2000

ISBN-81-7605-921-8

सर्वाधिकार सुरक्षित। इस कार्य का कोई भी अंश इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय की लिखित अनुमति के बिना किसी भी रूप में मिमियोग्राफ (मुद्रण) द्वारा या अन्यथा पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

इन्दिरा गॉधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय की अनुमति से पुनः मुद्रित। उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय की ओर से कर्नल विनय कुमार, कुलसचिव द्वारा पुनः मुद्रित एवं प्रकाशित, 2024

मुद्रक : चन्द्रकला यूनिवर्सल प्रा0 लि0, 42/7 जवाहर लाल नेहरु रोड, प्रयागराज

खंड 1 का परिचय

एम.ए. हिंदी के पाठ्यक्रम-4 'नाटक और अन्य गद्य विधाएँ' का यह चौथा खंड गद्य साहित्य की अन्य विधाओं से संबंधित है। इस खंड में गद्य की एक प्रमुख विधा निबंध से संबंधित पाँच इकाइयाँ हैं। इस पाठ्यक्रम के लिए जो निबंध पाठ्यचर्या के रूप में निर्धारित किए गए हैं, ये इकाइयाँ उन्हीं निबंधों पर आधारित हैं।

पाठ्यक्रम में निम्नलिखित पाँच निबंध अध्ययन हेतु प्रस्तावित हैं :

धोखा	:	प्रतापनारायण मिश्र
लोभ और प्रीति	:	रामचंद्र शुक्ल
कुटज	:	हजारी प्रसाद द्विवेदी
संस्कृति और जातीयता	:	रामविलास शर्मा
तीसरे दर्जे का श्रद्धेय	:	हरिशंकर परसाई

उक्त पाँचों निबंधों का अध्ययन आपने कर लिया होगा। आप इन लेखकों के जीवन और कृतित्व के बारे में भी जान चुके हैं। अब आप इस खंड में उपर्युक्त निबंधों पर आधारित इकाइयों का अध्ययन करेंगे।

निबंध एक महत्वपूर्ण गद्य विधा है। इसे गद्य की कसौटी भी कहा गया है। हिन्दी में निबंध लेखन की शुरुआत पत्रकारिता के उदय के साथ हुई। एक स्वतंत्र विधा के रूप में निबंध लेखन का आरंभ हम भारतेंदु युग से मान सकते हैं। भारतेंदु हरिश्चंद्र, प्रतापनारायण मिश्र बालकृष्ण भट्ट, राधाचरण गोस्वामी, बालमुकुंद गुप्त आदि इस युग के प्रमुख निबंधकार हैं। एक प्रमुख निबंधकार प्रतापनारायण मिश्र का निबंध **धोखा** को पाठ्यक्रम में शामिल किया गया है। इस निबंध को पढ़ते हुए आप भारतेंदु युग के निबंधों की विशेषताओं को अवश्य ध्यान में रखें। इस निबंध के बारे में आप इकाई 15 में पढ़ेंगे।

भारतेंदु युग के बाद निबंध विधा का विकास हमें द्विवेदी युग में देखने को मिलता है। विषयवस्तु, भाषा और शैली सभी दृष्टियों से निबंध साहित्य में प्रौढ़ता आती है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल इस विधा को श्रेष्ठता के शिखर तक ले जाते हैं। विशेषकर उनके भाव और मनोविकार संबंधी निबंधों का उल्लेख किया जा सकता है। पाठ्यक्रम में आचार्य शुक्ल का निबंध **लोभ और प्रीति** रखा गया है और इस निबंध के बारे में आप इकाई 16 में पढ़ेंगे।

शुक्लोत्तर युग के प्रमुख निबंधकारों में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का विशेष स्थान हैं। भारतेंदु युग के निबंधों में हास्य, व्यंग्य, लालित्य, विचार और भावना सभी का समावेश होता था। निबंध की भाषा और शैली का निर्माण हो रहा था, जबकि शुक्लजी के निबंधों में विचारों की प्रधानता थी, यद्यपि हृदय पक्ष की उपेक्षा नहीं थी। हजारी प्रसाद द्विवेदी के निबंध जिन्हें ललित निबंध के नाम से जाना जाता है, निबंध के क्षेत्र में एक नयी और रचनात्मक शुरुआत थी। बाद में इस विधा को विद्यानिवास मिश्र, कुबेरनाथ राय, विवेकी राय आदि कई निबंधकारों ने समृद्ध किया। द्विवेदीजी के निबंध **कुटज** के बारे में आप इकाई 17 में अध्ययन करेंगे।

शुक्लजी की आलोचना और निबंध परंपरा दोनों को आगे बढ़ाने का श्रेय डॉ. रामविलास शर्मा को है। बौद्धिक विचार-विमर्श को कितने सहज और प्रभावशाली रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है, इसका प्रमाण हमें उनके लेखन में मिलता है। पाठ्यक्रम में उनका निबंध **संस्कृति और जातीयता** रखा गया है, जिसके बारे में आप इकाई 18 में पढ़ेंगे।

इकाई 19 में आप हरिशंकर परसाई के निबंध **तीसरे दर्जे का श्रद्धेय** के बारे में अध्ययन करेंगे। यह व्यंग्य निबंध है। व्यंग्य का गण भारतेंद यग के निबंधों की खास विशेषता थी और बाद में

भी व्यंग्य का सहारा निबंधकार लेते रहे हैं। लेकिन व्यंग्य को एक स्वतंत्र विधा का रूप देने का काम हरिशंकर परसाई ने ही किया है। इस इकाई को पढ़ने से आपको व्यंग्य निबंध की विशिष्टता और महत्व को समझने में मदद मिलेगी।

इस खंड के अध्ययन से पूर्व आप पाँचों निबंध और इनके लेखकों के बारे में दी गई पाठ्य सामग्री का अध्ययन अवश्य करें।

इकाई 1 निबंध : धोखा

इकाई की रूपरेखा

15.0 उद्देश्य
15.1 प्रस्तावना
15.2 प्रतापनारायण मिश्र का लेखकीय व्यक्तित्व
15.3 धोखा निबंध की अंतर्वस्तु
15.4 निबंध पर लेखकीय व्यक्तित्व का प्रभाव
15.5 निबंध का प्रतिपाद्य
15.6 निबंध का भाषिक सौंदर्य
15.7 निबंध की शैलीगत विशेषताएँ
15.8 सारांश

1 .0 उद्देश्य

एम.ए. हिंदी के बीज पाठ्यक्रम-4 (एम.एच.डी.-4) नाटक और अन्य गद्य विधाएँ के चौथे खंड से हम गद्य की अन्य विधाओं का अध्ययन आरंभ करने जा रहे हैं। इस खंड में आप पाँच निबंधों के बारे में अध्ययन करेंगे। इसके बाद के खंडों में निबंध के अलावा जो अन्य गद्य विधाएँ हैं, उनसे संबंधित इकाइयाँ होंगी। इस खंड में कुल पाँच इकाइयाँ हैं।

निबंध गद्य की सबसे महत्वपूर्ण विधा है। इस इकाई में आप भारतेंदु युग के प्रमुख निबंधकार प्रतापनारायण मिश्र के निबंध **धोखा** के बारे में अध्ययन करेंगे। हिंदी में निबंधों की शुरुआत भारतेंदु युग से हुई थी। इस दृष्टि से प्रस्तुत निबंध का अध्ययन करने से आपको उस युग के गद्य और खासतौर पर निबंध रचना की विशेषताओं को समझने में मदद मिलेगी।

प्रतापनारायण मिश्र भारतेंदु युग के प्रमुख लेखक हैं। अपने निबंधों के द्वारा उन्होंने तत्कालीन गद्य साहित्य को समृद्ध किया है। उनके निबंधों की भाषा और शैली की विशेषताओं के अध्ययन द्वारा आप उनके निबंध की विशेषताओं को समझ सकेंगे।

धोखा निबंध इस अध्ययन का आधार है। इस इकाई में इस निबंध की अंतर्वस्तु, निबंध पर लेखकीय व्यक्तित्व का प्रभाव, निबंध में व्यक्त प्रतिपाद्य, उसके भाषिक सौंदर्य और शैलीगत वैशिष्ट्य पर भी विचार किया गया है। इस अध्ययन से आपको **धोखा** निबंध का विवेचन करने में मदद मिलेगी।

1 .1 प्रस्तावना

एम.ए. हिंदी के चौथे पाठ्यक्रम में आप नाटक और अन्य गद्य विधाओं का अध्ययन कर रहे हैं। गद्य विधाओं की शुरुआत हिंदी में आधुनिक युग से हुई यह आपको हम बता चुके हैं। रीतिकाल तक हिंदी में गद्य लेखन बहुत ही कम हुआ। पहली बार हिंदी में गद्य की शुरुआत तेज़ी से उन्नीसवीं सदी में हई जब प्रेस की स्थापना ने अखबारों और पत्रिकाओं के प्रकाशन को मुमकिन बनाया। हिंदी में भी कई पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन आरंभ हुआ। खासकर उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में, जिसे हम हिंदी साहित्य के इतिहास में भारतेंदु युग के नाम से जानते हैं। भारतेंदु हरिश्चंद्र को इस युग का प्रवर्त्तक माना जाता है। उन्होंने हिंदी में कई महत्वपूर्ण पत्रिकाओं की शुरुआत की, साथ ही कई अन्य लेखकों ने उनसे प्रेरणा लेकर पत्रिकाओं का प्रकाशन आरंभ किया। इन सबका अध्ययन आप हिंदी साहित्य का इतिहास के पाठ्यक्रम में विस्तार से करेंगे।

भारतेंदु युग के लेखकों ने कविताओं के साथ-साथ गद्य लेखन की ओर खास तौर पर ध्यान दिया। इसकी वजह यह भी थी कि वे स्वयं या तो पत्रिकाओं का प्रकाशन करते थे या हिंदी में प्रकाशित होने वाली दूसरी पत्रिकाओं में लिखा करते थे। यही कारण है कि इस दौर में गद्य लेखन के अंतर्गत निबंध लेखन पर विशेष ध्यान दिया गया। भारतेंदु तो इसमें अग्रणी थे ही, साथ ही, उनके समकालीन लेखकों में प्रतापनारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट, राधाचरण गोस्वामी आदि प्रमुख थे। हम इस इकाई में भारतेंदु युग के अत्यंत महत्वपूर्ण लेखक प्रतापनारायण मिश्र के निबंध **धोखा** पर विचार करेंगे। इस इकाई को पढ़ने से पहले आपने **धोखा** निबंध पढ़ लिया होगा। अगर नहीं पढ़ा है तो ज़रूर पढ़ लें।

इस निबंध के अध्ययन में आपको निबंध की अंतर्वस्तु के बारे में तो जानने को मिलेगा ही साथ ही प्रतापनारायण मिश्र के लेखकीय व्यक्तित्व का निबंध पर प्रभाव और इस निबंध की भाषा और शैलीगत विशेषताओं के बारे में भी समझने का अवसर मिलेगा।

1 .2 प्रतापनारायण मिश्र का लेखकीय व्यक्तित्व

प्रतापरायण मिश्र भारतेंदु मंडल के प्रमुख सदस्य थे। वे उन लेखकों में से थे जो भारतेंदु द्वारा हिंदी जाति के उत्थान के लिए किए जाने वालों कार्यों में पूरी आस्था रखते थे। मिश्रजी ने भारतेंदु की मृत्यु के बाद नवजागरण के कार्य को न सिर्फ जारी रखा बल्कि उसे आगे बढ़ाया। मिश्रजी 'ब्राह्मण' नामक पत्रिका निकाला करते थे और उसके माध्यम से वे इस महत्त कार्य को आगे बढ़ाने में पूरी लगन से जुटे रहे। उनके इस योगदान को देखकर ही उनके समकालीन और भारतेंदु मंडल के ही एक और प्रमुख सदस्य बालकृष्ण भट्ट ने लिखा था, 'प्रातः स्मरणीय बाबू हरिश्चंद्र को जो हिंदी का जन्मदाता कहें तो प्रताप (नारायण) मिश्र को निस्संदेह उस स्तनधन्या दुधमुंही बालिका का पालन-पोषणकर्ता कहना ही पड़ेगा, क्योंकि हरिश्चंद्र के उपरांत उसे अनेक रोग दोष से सर्वदा नष्ट हो जाने से बचा रखने वाले यही देख पड़े हैं। इसी तरह भारतेंदु युग और द्विवेदी युग के संधिकाल के लेखक बाबू बालमुकुंद गुप्त के शब्दों में, 'पं. प्रतापनारायण मिश्र में बहुत बातें हरिश्चंद्र की सी थीं। कितनी ही बातों में कम थे, पर एकाध में बढ़कर भी थे।' उन्होंने प्रतापनारायण मिश्र का परिचय इन शब्दों में दिया : 'हिंदी साहित्य के आकाश में हरिश्चंद्र के उदय होने के थोड़े ही दिन पश्चात् एक ऐसा चमकता हुआ तारा उदय हुआ था, जिसकी चमक-दमक को देखकर लोग उसे दूसरा चंद्र कहने लगे थे। उस चंद्र के अस्त होने के पश्चात् इस तारे की ज्योतिमह ध्वनि निकलने लगी कि यही उस चंद्र की जगह लेगा।' अपनी भूमिका के ऐतिहासिक महत्व का एंहसास खुद मिश्रजी को था। उन्होंने स्वयं ये उद्‌गार प्रकट किए थेः 'बाज-बाज लोग हमें श्री हरिश्चंद्र का स्मारक समझते हैं। बाजों का ख्याल है कि उनके बाद उनका सा रंग-ढंग कुछ इसी में है। हमको स्वयं इस बात का घमंड है कि जिस मदिरा का पूर्ण कुम्भ उनके अधिकार में था, उसी का एक प्याला हमें भी दिया गया है और उसी के प्रभाव से बहुतेरे हमारे दर्शन की देवताओं के दर्शन की भाँति इच्छा करते हैं।' कहने का तात्पर्य यही है कि भारतेंदु ने जिस परंपरा की शुरुआत की उसको आगे बढ़ाने में सबसे ज्यादा अग्रणी मिश्रजी ही रहे।

प्रतापनारायण मिश्र (जन्मः 1856) को पूरी स्कूली शिक्षा नहीं मिल पाई थी। उन्होंने स्वाध्याय के बल पर अनेक भाषाओं का ज्ञान प्राप्त किया। उस समय के हिंदी लेखक बंगला भाषा का ज्ञान रखते थे। मिश्रजी ने बंगला से बंकिमचंद्र चट्टोपध्याय के उपन्यासों और ईश्वरचंद्र विद्यासागर की पुस्तकों के अनुवाद किए। साथ ही उन्हें संस्कृत, उर्दू, फारसी आदि भाषाओं का भी ज्ञान था। वे अंग्रेज़ी का भी कामचलाऊ ज्ञान रखते थे। इस तरह उन्होंने अपने को नवजारगण के महत्ती कार्य को संपन्न करने योग्य बनाने का प्रयत्न किया। यद्यपि मिश्रजी ने कविता, नाटक आदि साहित्य की कई विधाओं में लेखन कार्य किया। लेकिन एक बौद्धिक के रूप में उन्होंने अपने कार्य का मुख्य क्षेत्र पत्रकारिता को चुना।

मिश्रजी की पत्रकारिता एक मिशन की तरह थी। वह इस उद्देश्य से प्रेरित थे कि देश का उत्थान कैसे हो सकता है। हिंदी की पत्रकारिता के अभाव को देखकर ही उन्होंने मार्च 1883 से कानपुर से 'ब्राह्मण' निकालने का फैसला किया। यह पत्र वह जैसे-तैसे निकालते रहे। बीच-बीच में कभी-कभी अर्थाभाव के कारण इसे बंद भी होना पड़ा। आप 'ब्राह्मण' को पुत्र से भी अधिक स्नेह करते थे। अस्वस्थता के कारण मार्च 1886 से जुलाई 1887 तक 'ब्राह्मण' नहीं निकल सका। 1888 में हिदीं के पहले दैनिक पत्र 'हिन्दोस्थान' के सहकारी संपादक बनकर कालाकांकर गए और 1890 में आपने उससे संबंध विच्छेद कर लिया। यह दैनिक पत्र राजा रामपालसिंह निकाला करते थे। इसके संपादक मदनमोहन मालवीय थे और वहां मिश्रजी के साथ संपादक मंडल में उस समय के प्रसिद्ध उपन्यासकार गोपालराम गहमरी और बालमुकुंद गुप्त भी थे।

हिंदी पत्रों के बंद होने या देर से निकलने पर आप बड़े दुखी होते थे। वे इसके लिए देशवासियों को कोसते थे कि इतने बड़े देश में थोड़े से देश हितैषी समाचारपत्र भी नहीं रह सकते। वे कहते हैं : 'अरे, भाग्यहीन हिंन्दुस्तानियो! क्या तुम्हें अपनी भाषा तक ही इतनी ममता नहीं रही कि दस-बीस छोटे-मोटे समाचारपत्रों को कायम रख सको।' प्रतापनारायण मिश्र के लिए पत्रकारिता का मकसद नवजारगण के कार्य को आगे बढ़ाना था।

मिश्रजी की अधिकांश रचनाएँ 'ब्राह्मण' पत्र में ही निकली। पूरा पत्र प्रायः इन्हीं के द्वारा लिखा होता था। 'ब्राह्मण' की फाइलों में से उनके लेखों के एक संग्रह का प्रकाशन डॉ0 विजयशंकर मल्ल के संपादन में नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा 'प्रतापनारायण मिश्र ग्रंथावली' के नमा से किया। अभी कुछ वर्ष पूर्व आपकी कविताओं का महत्वपूर्ण संग्रह नरेशचंद्र चतुर्वेदी द्वारा प्रकाशित हुआ। लेकिन उनका संपूर्ण लेखन अभी तक प्रकाश में नहीं आया है।

प्रतापनारायण मिश्र मुख्यतः कवि थे। उन्होंने भक्ति, श्रृंगार, समाज सुधार और देशभक्ति से संबंधित कविताओं की रचनाएँ कीं। वे कविता में ब्रज भाषा के समर्थक थे। भक्ति और श्रृंगार के अलावा उनकी देश भक्ति पूर्ण रचनाओं में ब्रैडला स्वागत, बेगारी विलाप आदि प्रमुख हैं। मिश्रजी ने कविताओं के अलावा नाटकों की रचना भी की। इनके नाटक आमतौर पर देशभक्ति और देशोत्थान की भावना से प्रेरित होते थे। नाटकों मे कलिकौतुक रूपक, हठी हम्मीर, भारतदुर्दशा रूपक, आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। प्रतापनारायण मिश्र ने बंगला भाषा से उपन्यासों और बच्चों के लिए ज्ञानवर्धक और उपयोगी पुस्तकों का अनुवाद भी किया था। इनमें बंकिमचंद्र के उपन्यासों और ईश्वरचंद्र विद्यासागर की शिक्षा संबंधी पुस्तकों का उल्लेख करना जरूरी है।

मिश्रजी का निबंध साहित्य

गद्य की विभिन्न विधाओं को शुरू करने का श्रेय भारतेंदु युग को है। नाटक के विकास का श्रेय यदि भारतेंदु हरिश्चंद्र को है, तो, निबंध के विकास का श्रेय बालकृष्ण भट्ट और प्रतापनारायण मिश्र को जाता है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल के शब्दों में, 'पं. प्रतापनारायण मिश्र और पं. बालकृष्ण भट्ट ने हिंदी गद्य साहित्य के क्षेत्र में वही काम किया, जो अंग्रेजी गद्य साहित्य में एडीसन और स्टील ने किया था।' मिश्रजी के संपूर्ण लेखन में निबंधों का सर्वाधिक महत्व है। आज भी उनका निबंधकार रूप ही अधिक याद किया जाता है। डॉ. रामविलास शर्मा उनके निबंधों की मौलिकता दर्शाते हुए लिखते हैं : 'निबंध लिखना हिंदी में नई चीज़ थी। बंगला में उपन्यास, कविता, नाटक के लिए आदर्श मिल सकते थे, परंतु प्रतापनारायण मिश्र के से निबंध हिंदी की अपनी उपज थे।'

निबंधकार के रूप में आपके इस महत्व को सभी ने एकमत से स्वीकारा है। इनके कुछ निबंधों का पहला संकलन 'निबंध नवनीत' नाम से 1919 ई. में प्रकाशित हुआ था। मात्रा की दृष्टि से भी आपके समग्र लेखन में निबंधों और लेखों की ही संख्या अधिक है। डॉ. विजयशंकर मल्ल के संपादन में 'प्रतापनारायण मिश्र ग्रंथावली' भाग-1 में 189 निबंध और लेख संग्रहीत हैं।

विषय की दृष्टि से भी इनके निबंधों में विविधता है। इनके निबंधों के शीर्षक एक या दो वर्ण से लेकर पूरे दोहे तक में हैं। ललित निबंधों के शीर्षक अधिकतर छोटे ही हैं। 'द', 'भौं', 'ट', 'त', 'दो' आदि निबंध एक वर्ण के शीर्षक वाले हैं।

विषय की दृष्टि से इन निबंधों में विविधता है। आपने समाज सुधार, देशोन्नति, राजनीति, धार्मिक सुधार निजभाषा आदि से संबंधित निबंध और लेख लिखे। नारी, स्त्री, जुआ, सहबास बिल अवश्य पास होगा, रसिक समाज, सोश्यल कांफ्रेंस, बाल्यविवाह, विलायतभामा आदि कुछ समाजसुधार संबंधी लेख है। बेगार, देशी कपड़ा, टैक्स, हम राजभक्त हैं, कांग्रेस की जय, धरती माता की पूजा, समय का फेर, स्वतंत्रता, उन्नति की धूम, आदि में देश की उन्नति की चिंता से प्रेरित आर्थिक और राजनीति विषयक लेख मिलते हैं। धार्मिक विचारों के लेखों में मुख्यतः मुक्ति के भागी, प्रेम एवं परोधर्म, बलि पर विश्वास, नास्तिक, मतवादी अवश्य नर्क में जायेंगे, धर्म और मत, मूर्तिपूजकों की महोषधि, श्रीभारत धर्म महामंडल, अवतार ईश्वर की मूर्ति, पुराण समझने को समझ चाहिए, झगड़ालू पंथ, प्रतिष्ठा केवल प्रेमदेव की है, गोरक्षा, शैव सर्वस्व आदि आते हैं। हिम्मत राखो एक दिन नागरी का प्रचार अवश्य ही होगा, नागरी महिमा एक चीज़, उरदू बीबी की पूंजी, खड़ी बोली का पद्य आदि निबंध हिंदी और नागरी के प्रचार से संबंधित है।

शैली की दृष्टि से प्रतापनाराण मिश्र के निबंधों को चार भागो में बांट सकते हैं :

1. वर्णनात्मक,
2. विचारात्मक,
3. भावात्मक, और
4. हास्य और व्यंग्यपरक

शैली की दृष्टि से मिश्रजी के निबंधों की सबसे बड़ी विशेषता रोचकता और जीवंतता है। डॉ. रामविलास शर्मा के अनुसार 'मनोरंजक निबंध रचना को प्रतापनारायण मिश्र ने चरम सीमा तक पहुँचा दिया है।' इस प्रकार मिश्रजी भारतेंदु युग के एक प्रमुख निबंधकार हैं। कई आलोचकों की दृष्टि में बालकृष्ण भट्ट की तुलना में मिश्र जी के निबंधों में लालित्य और रोचकता के अधिक दर्शन होते हैं।

1 .3 'धोखा' निबंध की अंतर्वस्तु

धोखा एक ललित निबंध है। यह निबंध पहली बार 'ब्राह्मण' के खंड 9, अंक 9 मे प्रकाशित हुआ था। उसके बाद 1919 में जब उनके निबंधों का पहला सकलन 'निबंध नवनीत' नाम से प्रकाशित हुआ तो उसमें यह निबंध संकलित था। यह एक मनोभावात्मक ललित निबंध है। इसमें मिश्रजी ने **धोखा** जैसे सामान्य विषय का बड़े ही मनोरंजक और दार्शनिक तरीके से वर्णन किया है और यह उन जैसे समर्थ लेखक द्वारा ही संभव था। इस निबंध में लेखक ने यह बताने की चेष्टा की है कि इंसान कैसे **धोखा** खाता है और किस तरह धोखे से निकलने की कोशिश करते हुए दूसरों को **धोखा** देने की चेष्टा करता है। **धोखा** सामान्य अनुभव का शब्द है। हम अपने दैनिक जीवन में इस शब्द का प्रयोग नकारात्मक अर्थ में करते हैं। **धोखा** देना अगर बुरा समझा जाता है, तो, किसी से **धोखा** खाना मूर्खता। लेकिन यह छोटा शब्द कितने बड़े निहितार्थ भी अपने में छुपाए हुए है, यह निबंध पढ़कर ही जाना जा सकता है। प्रतापनारायण मिश्र ने इस निबंध में दार्शनिक और मनोवैज्ञानिक पहलुओं का अत्यंत रोचक प्रयोग करके जीवन और जगत संबंधी कई महत्वपूर्ण टिप्पणियाँ की हैं। इकाई में आगे हम इस निबंध की अंतर्वस्तु और भाषा-शिल्प का विवेचन करेंगे ताकि आपको निबंध को समझने में आसानी हो।

मिश्रजी का यह निबंध आकार में छोटा है। इसका मुख्य विषय **धोखा** शब्द की विवेचना करना है **धोखा** सामान्य व्यवहार का हिंदी शब्द है। लोक व्यवहार में हम इसका व्यवहार कई प्रसंगों

में करते हैं। शब्दकोश में इसकी व्याख्या वस्तुस्थिति को छिपाकर दूसरों को भ्रम में डालने का व्यापार' के रूप में की गई है। इसके अन्य अर्थों में वंचना, विश्वासघात, दगा, झूठी बात या नकली चीज़ में विश्वास करने से होने वाला भ्रम, भुलावा, कुछ को कुछ समझ लेने का भाव, मिथ्या प्रतीति, भ्रम में डालने वाली वस्तु आदि हैं। हम आमतौर पर इन सभी अर्थों में इस शब्द का प्रयोग करते हैं। प्रतापनारायण मिश्र ने इन्हीं व्यवहारों को कुछ ऐसे प्रसंगों में प्रयुक्त किया है, जिससे जीवन और जगत संबंधी उनके सोच का पता लगता है। इनमें सबसे प्रमुख है, ईश्वर संबंधी उनका सोच।

ईश्वर संबंधी चिंतन

निबंध के आरंभ में ही मिश्रजी ने रामायण के एक प्रसंग का उल्लेख किया है। यह प्रसंग है, मारीच राक्षस द्वारा स्वर्णमृग बनकर भगवान् रामचंद्र को **धोखा** देना। रामायण के अनुसार इस स्वर्णमृग को प्राप्त करने की सीता की इच्छा को पूरा करने के लिए राम उसके पीछे धनुष लेके जाते हैं और पीछे से रावण सीता का अपहरण कर लेता है। राम को हिंदू पुराणों में ईश्वर का अवतार माना गया है। अगर राम ईश्वर के अवतार हैं तो वे सर्वज्ञ भी हैं। यानी जो ईश्वर है, सृष्टि का नियंता है, जिसकी इच्छा से ही दुनिया का व्यापार चलता है, अगर वही यह नही पहचान पाया कि दिखाई देने वाला सुवर्ण मृग नही मारीच राक्षस है, तो हम-आप के लिए **धोखा** खाना कितना आसान है। मिश्रजी अपनी बात इसी तर्क से शुरू करते हैं। वे लिखते हैं : 'इन दो अक्षरों में भी न जाने कितनी शक्ति है कि इनकी लपेट से बचना यदि निरा असंभव न हो तो भी महा कठिन तो अवश्य है। जब कि भगवान रामचंद्र ने मारीच राक्षस को सुवर्ण मृग समझ लिया था तो हमारी आपकी क्या सामर्थ्य है जो **धोखा** न खाएँ?' तात्पर्य यह है कि भगवान भी **धोखा** खा सकते हैं। कम-से-कम रामायण की उक्त बात से तो यही प्रमाणित होता हे। लेकिन अगर ईश्वर ईश्वर है तो वह **धोखा** नहीं खा सकता। अगर **धोखा** खाता है तो वह ईश्वर नहीं है। शायद यही विचार उनके मन में था इसलिए उन्होंने ईश्वर के **धोखा** खाने के उक्त प्रसंग का एक उत्तर देने का प्रयास किया। वे आगे लिखते हैं : 'बरंच ऐसी-ऐसी कथाओं से विदित होता है कि स्वयं ईश्वर भी केवल निराकार निर्विकार ही रहने की दशा में इससे प्रथक रहता है.... यानी रामचंद्र ने **धोखा** इसलिए खाया क्योंकि राम के रूप में वे मनुष्य रूप में थे और मनुष्य के लिए **धोखा** खाना ओर **धोखा** देना दोनों अत्यंत सहज है। यहाँ वे ईश्वर के दो रूपों को एक दूसरे से अलग करते हैं निराकार और साकार रूप। हिंदू परंपरा में ईश्वर के इन दोनों रूपों को स्वीकार किया गया है। जो ईश्वर को साकार और सगुण मानते हैं वे ही उनके अवतारों को भी मानते हैं। राम ऐसे ही एक अवतार हैं।

लेकिन मिश्रजी की बौद्धिकता को अपना यह तर्क बहुत संतुष्ट नहीं कर पाता। इसलिए इस वाक्य के ही दूसरे भाग में वे दूसरा तर्क पेश कर देते हैं। वे लिखते हैं, '...सो भी एक रीति से नहीं ही रहता, क्योंकि उसके मुख्य कामों में से एक काम सृष्टि का उत्पादन करना है, उसके लिए उसे माया का आश्रय लेना पड़ता है। और माया, भ्रम, छल इत्यादि धोखे के ही पर्याय हैं, इस रीति से हम कहें कि ईश्वर भी धोखे से अलग नहीं है तो अयुक्त न होगा।' यहाँ अब वे दूसरा तर्क सामने ले आते हैं। ईश्वर साकार हो या निराकार उसी ने इस संसार का निर्माण किया है और संसार का निर्माण करने के लिए अद्वैतवाद के अनुसार वह माया का सहारा लेता है। माया का अर्थ होता है, भ्रम, छल इत्यादि यानी ईश्वर की बनाई यह दुनिया बिना माया के अगर नहीं रची जा सकती तो यह दुनिया उसके द्वारा उत्पन्न एक छल या दूसरे शब्दों में **धोखा** ही है। मिश्र जी ठीक यही बात लिखते भी हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि अगर अवतार के रूप में ईश्वर द्वारा खाया गया **धोखा** भ्रम है तो भी निराकार के रूप में तो वह धोखे का ही सहारा लेता है। स्वयं उनक शब्दों में, 'क्योंकि ऐसी दशा में यदि वह **धोखा** खाता नहीं तो धोखे से काम अवश्य लेता है, जिसे दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि माया का प्रपंच फैलाता है वा धोखे की टट्टी खड़ी करता है।' इस प्रकार निबंध के पहले अनुच्छेद में ही वे निबंध को एक अत्यंत दार्शनिक विवाद में उलझा देते हैं। खास बात यह है कि ऐसा करते हुए भी कहीं भी उनकी बात न तो दार्शनिक जटिलता से आक्रांत होती है और न ही उनकी बात में निहित रोचकता कम होती है। यह जरूर जाहिर हो जाता है कि उनके लिए ये सब प्रसंग अत्यंत

सहज है और वे सामान्य लोगों की भाषा में और समझ आने वाले ढंग से उन्हें पेश करने की क्षमता रखते हैं।

ईश्वर संबंधी उनकी विचारणा यही समाप्त नहा हाती, वह आगे भी चलती रहती है। दूसरे अनुच्छेद में ईश्वर के विभिन्न अवतारों का उल्लेख करे हुए वे यह तर्क देते हैं कि 'जो सर्वथा निराकार होने पर भी मत्स्य, कच्छपादि रूपों में प्रकट होता है, और शुद्ध निर्विकार कहलाने पर भी नाना प्रकार की लीला किया करता है, वह धोखे का पुतला नहीं है तो क्या है?' जाहिर है यहाँ अवतार संबंधी अवधारणा में निहित अविवेकशीलता को ही वे उजागर कर रहे हैं। वे इस विश्वास में निहित अंतर्विरोध को किसी बाहरी साक्ष्य के बल पर नहीं बल्कि ईश्वर संबंधी मान्यता के संबंध में दिए जाने वाले तर्कों के संदर्भ में ही उजागर करते हैं। इसलिए वे आगे तर्क देते हैं कि ईश्वर को शुद्ध निर्भ्रम कैसे कहा जा सकता है, जबकि उसके अस्तित्व तक में नास्तिकों को संदेह और आस्तिकों को निश्चित ज्ञान का अभाव हो। इस प्रकार मिश्रजी इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि दुनिया के बनाने वाले के बारे में इतना **धोखा** फैला है तो संसार में धोखे का अभाव केसे होगा? इस तर्क से जाहिर है कि स्वयं मिश्रजी पूरी तरह से ईश्वर संबंधी विश्वास को नहीं छोड़ पाए थे, लेकिन उनके मन में संदेह के बीज जरूर उग आए थे। धोखे पर चर्चा के बहाने उन्होने अपने इसी संदेह को व्यक्त किया है।

जगत को मिथ्या भ्रम समझना

इस निबंध में वे दूसरा सवाल उठाते हैं, क्या जगत भ्रम यानी धोखे से मुक्त है? क्या उसका धोखे से मुक्त होना गलत है? और क्या जगत में कोई चीज़ धोखे से रहित हो सकती है? यहाँ फिर वे उसी अद्वैत तर्क प्रणाली का सहारा लेते हैं। संसार मिथ्या भ्रम के सिवा कुछ नहीं है, यह अद्वैतवादियों का मानना है। मिश्रजी इस बात से सहमति जताते हुए कहते हैं, 'भ्रमोत्पादक भ्रमस्वरूप भगवान के बनाए हुए भव (संसार) में जो कुछ है, भ्रम ही है।' यहाँ अद्वैतवादी धारणा का समर्थन करते हुए भी वे उसका विरोध कर रहे हैं। अद्वैतवाद संसार को तो माया मानता है, लेकिन भगवान् को नहीं। मिश्रजी अद्वैतवाद के तर्क को उलट देते हैं। वे संसार को मिथ्या या भ्रम मानते ही इसीलिए है क्योंकि उसको बनाने वाला ईश्वर भी मिथ्या भ्रम है। इस प्रकार वे अद्वैतवाद के सिद्धांत के तार्किक खोखलेपन को उजागर कर देते हैं। अद्वैतवाद में ब्रह्म और जगत के बीच माया का पर्दा है। माया ब्रह्म के स्वरूप को छुपाती है। लेकिन मिश्रजी के अनुसार यह माया ही है जिसने ब्रह्म और जगत दोनों के अस्तित्व को संभव बना रखा है। उन्ही के शब्दों में, 'जब तक भ्रम है, तभी तक संसार है बरंच संसार का स्वामी भी तभी तक है, फिर कुछ भी नहीं!' मिश्रजी ने यहाँ लगभग वही बात कह दी है जो उनसे कुछ पूर्व ग़ालिब ने कही थी :

> न था कुछ तो खुदा था, कुछ न होता तो खुदा होता।
> डूबोया मुझको होने ने, न मैं होता तो क्या होता।

संसार को मिथ्या मानना भले ही धार्मिक दृष्टि से सही हो, लेकिन लौकिक दृष्टि से सही नहीं है। प्रतापनारायण मिश्र के अनुसार ऐसा व्यक्ति संसार के लिए उपयोगी नहीं रहता। संसार के लिए ऐसे व्यक्ति उनके अनुसार अकर्मण्य है। उन्हीं के अनुसार, 'जो लोग पूरे ब्रह्मज्ञानी बन कर संसार को सचमुच माया की कल्पना बन बैठते हैं वे अपनी भ्रमात्मक बुद्धि से चाहे अपने तुच्छ जीवन को साक्षात् सर्वेश्वर मान के सर्वथा सुखी हो जाने का **धोखा** खाया करें, पर संसार के किसी काम के नहीं रह जाते हैं, बरंच निरे अकर्ता, अभोक्ता बनने की उमंग में अकर्मण्य और 'नारि नारि सब एक है जस मेहरि तस माय' इत्यादि सिद्धांतों के मारे अपना तथा दूसरों का जो अनिष्ट न कर बैठें वही थोड़ा है, क्योंकि लोक और परलोक का मज़ा भी धोखे ही में पड़े रहने से प्राप्त होता है।' मिश्रजी के इस कथन का तात्पर्य यही है कि संसार सत्य हो या असत्य, लेकिन मनुष्य के लिए उसे सत्य स्वीकार करने में ही भलाई है। संसार को **धोखा** समझकर उसके व्यापार से विरत रहकर भले ही हम कितने ही बड़े ज्ञानी क्यों न कहलाएँ, सच्चाई सिर्फ इतनी है कि हम इस संसार के लिए **व्यर्थ हो जाते हैं। यह संसार, संसार के**

सभी पदार्थ, मानव देह और इनसे जुड़े क्रियाकलाप और भावनाओं से ही हमारे जीवन को अर्थ मिलता है।

धोखा निबंध में लेखक ने यह सवाल भी उठाया है कि जीवन और जगत से इतर भी कुछ है या नहीं। इस संबंध में मिश्रजी इस नास्तिक विचार को प्रस्तुत करते हैं कि जीवन जब तक है तभी तक 'मुख से शब्द और मन से भाव तथा इन्द्रियों से कर्म का प्राकट्य होता रहता है, जहाँ इसके क्रम में व्यतिक्रम प्रकट हुआ, वहीं सब खेल बिगड़ गया, बस फिर कुछ नहीं, कैसा जीव? कैसी आत्मा?' न कोई नर्क है और न ही स्वर्ग। जो कुछ है वह इस संसार ही में है। अगर यह संसार माया है तो भी इससे परे कुछ नहीं है। तब लेखक प्रश्न करता है कि क्यों धोखे को लोग बुरा समझते हैं।

धोखे की नीति और बाह्य प्रभाव के विरुद्ध चेतावनी

लेखक ने इसी दृष्टिकोण से प्रेरित होकर कहा है कि **धोखा** खाना या **धोखा** देना दोनों ही को बुरा समझा जाता है लेकिन जैसे 'कोई काम वा वस्तु वास्तव में भली अथवा बुरी नहीं होती, केवल उसके व्यवहार का नियम बनने बिगड़ने से बनाव बिगाड़ हो जाया करता है।' उसी तरह **धोखा** देना और **धोखा** खाना भी बुरा या भला हो सकता है। अगर **धोखा** खाकर आदमी संभल जाए तो ऐसा **धोखा** खाना बुरा नहीं है। वे व्यंग्य में यह भी कहते हैं कि **धोखा** देना भी तब तक ठीक है, जब तक **धोखा** पकड़ा न जाए। वे कहते हैं : 'बेईमानी तथा नीतिकुशलता में इतना ही भेद है कि जाहिर हो जाय तो बेईमानी कहलाती है और छिपी रहे तो बुद्धिमानी है।' उनके इस कथन का यह अर्थ कदापि नहीं है कि वे नीतिकुशलता के आवरण में छुपी बेईमानी को अच्छा समझते हैं। बल्कि वे **धोखा** शब्द पर चर्चा करके बेईमानी को नीतिकुशलता समझने की प्रवृत्ति की आलोचना करते हैं। निबंध के अंत में वे उन लोगों से सावधान करते हैं जिन्होंने अपनी भाषा, भोजन, वेशभूषा, भाव और भाईचारे को छोड़ दिया है और जिनकी कोशिश है कि दूसरे लोग भी इन्हें छोड़ दें। इस बात का संबंध धोखे से उतना नहीं है जितना कि देशभक्ति की भावना से है। यहाँ साफतौर पर प्रतापनारायण मिश्र अपने दौर में बढ़ रही उस प्रवृत्ति की आलोचना कर रहे है जिसके अनुसार लोग अंग्रेज़ी शिक्षा और सभ्यता के प्रभाव में आकर अपने देश की सभ्यता और संस्कृति को छोड़ते जा रहे हैं। उनका मानना है कि 'जो पुरुष और पदार्थ अपने न हों वे देखने में चाहे जैसे सुशील और सुंदर हों, पर विश्वास के पात्र नहीं हैं, उनसे **धोखा** हो जाना असंभव नहीं है।' यह अंग्रेज़ी राज की राजनीतिक आलोचना नहीं है बल्कि सामाजिक-सांस्कृतिक आलोचना है। इस आलोचना पर हिंदू पुनरुत्थानवाद का भी प्रभाव है। यह इस बात से भी साबित होता है कि निबंध के अंत में वे सिर्फ हिंदुओं को संबोधित करते हुए कहते हैं कि 'इतना स्मरण रखिएगा तो धोखे से उत्पन्न होने वाली विपत्तियों से बचे रहिएगा। नहीं तो हमें क्या, अपनी कुमति का फल अपने ही आंसुओं से धो और खा, क्योंकि जो हिंदू होकर ब्रह्मवाक्य नहीं मानता वह **धोखा** खाता है।'

1 .4 निबंध पर लेखकीय व्यक्तित्व का प्रभाव

भारतेंदु युग के निबंधों पर लेखकों के व्यक्तित्व का प्रभाव साफ तौर पर दिखाई देता है। **धोखा** निबंध पर भी हम प्रतापनारायण मिश्र के व्यक्तित्व की विशेषताओं का स्पष्ट प्रभाव देख सकते हैं। मिश्रजी के व्यक्तित्व की सर्वप्रमुख विशेषता जिसकी ओर हमारा ध्यान जाता है वह है उनका विवेकशील व्यक्तित्व। इस निबंध में हम उनकी इस विशेषता का स्पष्ट प्रभाव देख सकते हैं। उन्होंने **धोखा** जैसी मामूली सी बात को जिस तार्किक ढंग से जीवन और जगत से संबंधित दार्शनिक बातों से जोड़ा है और उनको नये अंदाज़ में प्रस्तुत किया है वह उनकी विवेकपूर्ण समझ का ही परिणाम है। निबंध के पहले अनुच्छेद में ही उन्होंने धोखे को ईश्वर की माया शक्ति से जोड़ा है वह इसी विवेक क्षमता का परिणाम है। रामायण की कथा का उदाहरण देते हुए राम द्वारा मारीच को न पहचान पाने को उन्होंने ईश्वर की शक्ति की सीमा

से जोड़ा है और इसी बात को माया से जोड़कर ईश्वर के वजूद के बारे में सवाल खड़ा किया है, वह लेखक की इस क्षमता का प्रमाण है। यह क्षमता हम पूरे निबंध में देख सकते हैं।

प्रतापनारायण मिश्र के व्यक्तित्व की दूसरी विशेषता जो इस निबंध में दिखाई देती है, वह है उनकी विद्वता। जीवन और जगत संबंधी दार्शनिक मतों की गहरी समझ तो उनके पास है ही। इसके अलावा उन्होंने प्राचीन भारतीय ग्रंथों के जो उदाहरण दिए हैं, वे भी उनकी विद्वता का ही प्रमाण है। पौराणिक संदर्भों के अलावा वेदादि ग्रंथों से जिस तरह के उदाहरण उन्होंने दिए हैं वे भी इसी बात को साबित करते हैं। मसलन उनका यह उद्धरण देखिए, क्योंकि वेदों में उसे 'आश्चर्योस्य वक्ता', 'चित्रन्देवानमुदगातनीक' इत्यादि कहा है और आश्चर्य तथा चित्रत्व को मोटी भाषा में **धोखा** ही कहते हैं।' इसी तरह वे 'अविदितिसुखदुख निर्विशेषस्वरूप' या इसी तरह के दार्शनिक पदों का प्रयोग करके अपने विस्तृत ज्ञान का प्रमाण देते हैं। एक अन्य जगह वे तुलसीदास और सूरदास की काव्य पंक्तियों को उद्धृत करते है। इनके अलावा वे दार्शनिक बातों को वैसे ही प्रभावशाली दार्शनिक शब्दावली के माध्यम से व्यक्त करते हैं। मसलन ये वाक्य देखिए' जो सर्वथा निराकार होने पर भी मत्स्य, कच्छपादि रूपों में प्रकट होता है और शुद्ध निर्विकार कहलाने पर भी नाना प्रकार की लीला किया करता है।'

प्रतापनारायण मिश्र के व्यक्तित्व की तीसरी विशेषता जो निबंध में व्यक्त हुई है, वह है, उनकी जिंदादिली और हास्य-व्यंग्य की क्षमता। मसलन हास्य का यह उदाहरण देखिए : ' एक महात्मा ने किसी जिज्ञासु को भली भाँति समझा दिया था कि विश्व में जो कुछ है, और जो कुछ होता है, सब भ्रम है। किंतु यह समझाने के कुछ ही दिन उपरांत उनके किसी प्रिय व्यक्ति का प्राणांत हो गया, जिसके शोक में वह फूट-फूट कर रोने लगे। इस पर शिष्य ने आश्चर्य में आकर पूछा कि आप तो सब बातों को भ्रमात्मक मानते हैं, फिर जान बूझकर रोते क्यों है? उसके उत्तर में उन्होंने कहा कि रोना भी भ्रम ही है।' इस घटना पर उनके व्यंग्य की बानगी देखिए : 'सच है, भ्रमोत्पादक भ्रमस्वरूप भगवान के बनाए हुए भव (संसार) में जो कुछ है भ्रम ही है।' यहाँ ब्रह्म स्वरूप भगवान को भ्रमस्वरूप कहना और भ्रम के बार-बार प्रयोग द्वारा अनुप्रास का चमत्कार पैदा करना उनके व्यंग्य की ताकत को दिखाता है। व्यंग्य का एक और उदाहरण देखिए : 'हमें आशा है कि इतने लिखने से आप धोखे का तत्व यदि निरे खेत के धोखे न हों, मनुष्य हों तो समझ गए होंगे।' निरे खेत के धोखे यानी खेत में खड़ा रहने वाला पुतला (बजूका) जो न बोल सकता है न हिल सकता है लेकिन जिसके कारण पशु-पक्षी धोखे मे रहते हैं। या इन पंक्तियों में उनके जिंदादिल व्यक्तित्व की झलक देखिए : 'स्कूल में हमने भी सारा भूगोल और खगोल पढ़ डाला है, पर नर्क और बैकुंठ का पता कहीं नहीं मिला।' या ये पंक्तियाँ देखिए : 'और धोखे से अलग रहना ईश्वर की सामर्थ्य से भी दूर है, तथा धोखे ही के कारण संसार का चर्खा पिन्न-पिन्न चला जाता है, नहीं तो ढिच्चर-ढिच्चर होने लगे।' यहाँ पिन्न-पिन्न और ढिच्चर-ढिच्चर के प्रयोग से दार्शनिक अवधारणा को बिल्कुल साधारण लोगों के लिए भी सहज और जीवंत बना देने की उनकी क्षमता का बोध होता है। उनकी भाषा की इन विशेषताओं पर हम इकाई में आगे विचार करेंगे। यहाँ हम सिर्फ यह कहना चाहते हैं कि उनके व्यक्तित्व की इस जिंदादिली की सबसे ज्यादा अभिव्यक्ति भाषा के जरिए ही हुई है।

निबंध में मिश्रजी के व्यक्तित्व की जिस चौथी विशेषता का पता चलता है वह है, अपने देश और समाज के प्रति उनकी गहरी भक्ति। इस निबंध की चर्चा तो वे **धोखा** शब्द में निहित अर्थ-व्याप्ति से करते हैं लेकिन निबंध की समाप्ति वे देशवासियों को अपने देश और अपनी संस्कृति के प्रति कर्त्तव्य भावना जाग्रत करने से करते हैं। **धोखा** जैसे साधारण उपयोग वाले शब्द को पहले तो वे दार्शनिक और सैद्धांतिक तर्कजाल में उलझाते हैं और वह भी अत्यंत रोचक और सहज ढंग से। फिर वे इस शब्द को देशभक्ति की भावना से जोड़ते हैं। उनका मानना है कि जो लोग अपने देश की भाषा, भाव, भोजन और भेष को छोड़ चुके हैं वे धोखे में हैं। यह विचार भारतेंदु युग के प्रायः सभी लेखकों का रहा है। इसे हम भारतेंदु हरिश्चंद्र, बालकृष्ण भट्ट, राधाचरण गोस्वामी आदि लेखकों में भी देख सकते हैं। यह उस दौर में देशभक्ति के साथ नवजागरण की भावना के असर को भी दिखाता है। नवजागरण के उस दौर में लेखकों पर हिंदू

पुनरुत्थान का असर भी दिखाई देता था। यह असर हम उस युग के अधिकांश लेखकों में देखते हैं और यही असर हमें मिश्रजी में भी दिखाई देता है।

1 .5 निबंध का प्रतिपाद्य

धोखा निबंध के द्वारा लेखक क्या कहना चाहता है, यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है। हमने आरंभ में मिश्रजी के निबंधों की चर्चा करते हुए लिखा था कि उन्होंने देशभक्ति, समाज सुधार, धार्मिक सुधार, राजनीति आदि विषयों पर निबंध लिखे। लेकिन इन विषयों पर उन्होंने हमेशा प्रत्यक्ष ढंग से ही नहीं लिखा है। कई निबंध उन्होंने साधारण या अजीब सी लगने वाली चीज़ों पर लिखे हैं, लेकिन उन पर लिखते हुए भी उन्होंने जहाँ भी मौका मिला है, देशोन्नति और समाज सुधार की बात ज़रूर कह दी है। मसलन होली पर लिखे गए निबंध की इन पंक्तियों को देखिए : 'एतदनुसार आज हमारी होली है। चित्त शुद्ध करके वर्ष भर की कही सुनी क्षमा कर के, हाथ जोड़ के, पाँव पड़ के, मित्रों को मना के, बाहें पसार के उनसे मिलने और यथासामर्थ्य जी खोल के परस्पर की प्रसन्नता संपादन करने का दिन है। जो लोग प्रेम का तत्व तनिक भी नहीं समझते, केवल स्वार्थ-साधन ही को इतिकर्तव्य समझते हैं, पर हैं अपने ही देश जाति के, उनसे घृणा न करके, ऊपरी आमोद-प्रमोद में मिला के समयांतर में मित्रता का अधिकारी बनाने की चेष्टा करने का त्योहार है।' इन पंक्तियों में लेखक ने देशवासियों के बीच भाईचारे की ज़रूरत को अत्यंत प्रभावशाली ढंग से व्यक्त कर दिया है। **धोखा** निबंध में भी **धोखा** शब्द के बहाने वे अत्यंत जीवंत और रोचक चर्चा करते हैं। इस चर्चा में उनकी विद्वता और बौद्धिकता का प्रमाण मिलता है। लेकिन यह सारी चर्चा अंत में देशवासियों को अपनी कर्तव्य भावना के प्रति जागरूक करने के उद्देश्य से की गई प्रतीत होने लगती है। इसका अर्थ यह नहीं है कि शेष चर्चा का कोई महत्व नहीं है। निश्चय ही है।

जीवन और जगत के बारे में निबंध में की गई चर्चा भारतीय दार्शनिक परंपरा के एक महत्वपूर्ण मत को नये ढंग से सोचने के लिए प्रेरित करती है। यह ज़रूर है कि स्वयं प्रतापनारायण मिश्र के सोच का स्पष्ट ज्ञान नहीं होता लेकिन शायद यह उनका मकसद ही नहीं है। कहीं-न-कहीं यह निबंधकार की अपनी वैचारिक दुविधा को भी दर्शाता है। आमतौर पर दार्शनिक मत बहुत ही बोझिल और ऊबाऊ समझा जाता है। लेकिन निबंध का प्रत्यक्ष विषय दार्शनिक नहीं है इसलिए निबंधकार को यह स्वतंत्रता प्राप्त है कि वह निबंध के दौरान अपनी बात को जिस ढंग से चाहे कहे। दूसरे, निबंध का प्रत्यक्ष विषय **धोखा** है, इसलिए वह धोखे की चर्चा को कहीं भी हाथ से जाने नहीं देता। अंततः सारी चर्चा वह धोखे के माध्यम से ही करता है।

दार्शनिक चर्चा करते हुए भी लेखक ने यह ध्यान रखा है कि निबंध सामान्य पाठक के लिए रोचक और संप्रेष्य बना रहे। इसलिए वह एक ओर दार्शनिक ग्रंथों से पद उद्धृत करता है तो, दूसरी ओर, वह सामान्य कहावतों का भी प्रयोग करने से नही चूकता। उदाहरण के लिए अद्वैतवाद की यह धारणा कि संसार की सभी वस्तुएँ भ्रम हैं, हम अज्ञानवश उन्हें सत्य समझ लेते हैं। इस बात को वे एक कहावत के जरिए भी बताते हैं 'नारि नारि सब एक हैं जस मेहरि तस माय' यानी सभी स्त्रियाँ एक सी होती हैं चाहे वह घर की नौकरानी हो या माता। यह बात कहने में चाहे कितनी ही वाहियात क्यों न लगती हो, और कोई भी व्यक्ति अपनी माँ को घर की नौकरानी के तुल्य नहीं समझ सकता, उसी तरह संसार की सभी वस्तुओं को मिथ्या मानना और उन्हें एक समान तुच्छ समझना उतनी ही बड़ी मूर्खता है। यानी एक मूर्खतापूर्ण बात दार्शनिक शब्दावली में कहने से विवेकपूर्ण नहीं हो जाती। यही वजह है कि वे आगे लिखते हैं, बहुत ज्ञान छांटना सत्यानाशी की जड़ है! ज्ञान की दृष्टि से देखें तो आपका शरीर मलमूत्र, मांस मज्जादि, घृणास्पद पदार्थों का विकार मात्र है, पर हम उसे प्रीति का पात्र समझते हैं और दर्शन स्पर्शादि से आनंद लाभ करते हैं।' इन पंक्तियों से यह साफ़ जाहिर है कि लेखक इस निबंध में दुनिया को मिथ्या कहने वाले, कर्म को बंधन मानने वाले और जीवन को जंजाल समझने वाले धार्मिक और दार्शनिक विचारों के खोखलेपन को भी उजागर करना चाहते हैं। इन

विचारों के असर को जनता के बीच से दूर करना इसलिए ज़रूरी है क्योंकि लेखक का मानना है कि ऐसे विचार हमें अकर्मण्यता की ओर ले जाते हैं। और कोई अकर्मण्य जाति न तो अपने देश का भला कर सकती है और न बुरा करने वालों का विरोध करने का साहस दिखा सकती है। जिन लोगों का जीवन और जगत से लगाव होगा वे ही अपने देश ओर देशवासियो से प्यार कर सकेंगे। और जिनसे हम प्यार करते हैं, न तो हम उनका बुरा चाहेंगे, न बुरा करेंगे और न ही बुरा होता हुआ देख सकेंगे। कहने का तात्पर्य यह है कि मिश्रजी ने निबंध में चर्चा चाहे जिस बात की की हो, लेकिन उनका प्रतिपाद्य एक ही है - देश का हित या देश की उन्नति।

निबंध में देश के हित और देश की उन्नति में बाधक बनने वाले विचारों के असर को कम करना भी है। ईश्वर संबंधी विमर्श को भी इसी दृष्टिकोण से देखा जाना चाहिए। वे निबंध में ईश्वर के होने और न होने की बहस को वहाँ तक नहीं ले जाते जहाँ यह तय किया जा सके कि ईश्वर है या नहीं, बल्कि वे ईश्वर संबंधी अवधारणा के ऐसे पहलुओं का विरोध करते हैं जो लोगो को कर्म करने से रोकते हैं। स्वर्ग और नर्क की परिकल्पना या बैकुंठ का विचार उनकी दृष्टि में ऐसी ही अवधारणाएँ हैं। अगर दुनिया धोखा है तो इस धोखे से बाहर कुछ भी नहीं है, स्वयं ईश्वर भी नहीं इसलिए दुनिया को धोखा मानकर इस दुनिया से मुँह मोड़ने की बजाए इस दुनिया से संबंध जोड़ना ज्यादा जरूरी है।

दुनिया को सत्य समझना और उसके व्यापार में दिलचस्पी लेने वाला व्यक्ति ही अपने देश और समाज के हित के बारे में सोच सकता है और कुछ कर सकता है। मध्ययुग में जिन दार्शनिक विचारों ने समाज में अकर्मण्यता और समाज विमुखता को उत्पन्न किया उनके मोहपाश में बंधे रहकर हम गुलामी की जंजीरों से मुक्त नहीं हो सकते। मिश्रजी जानते हैं कि लोगों को नये विचारों के प्रति आकृष्ट करना आसान नही है। इसलिए वे अंत में लोगों को सावधान करने के लिए अपने बाह्मण होने का भी इस्तेमाल करते हैं : 'जो हिंदू होकर ब्रह्मवाक्य नहीं मानता वह धोखा खाता है।' यहाँ ब्रह्मवाक्य से तात्पर्य दैवीय वचन से भी है और ब्राह्मण द्वारा कहे कथन से भी। इससे पहले वाले वाक्य में वे कहते हैं, 'नहीं तो हमें क्या, अपनी कुमति का फल अपने ही आंसुओं से धो और खा' यहाँ कुमति से तात्पर्य उसी मत से है जो या तो हमें अकर्मण्य बनाती है या फिर हमें अपनी सभ्यता और संस्कृति से विलग करती है। इन दोनों तरह के धोखे में पड़े लोगों को सावधान करना ही इस निबंध का प्रतिपाद्य है।

1 .6 निबंध का भाषिक सौंदर्य

हिंदी में भारतेंदु युग को हिंदी गद्य के निर्माण का युग भी कहा जाता है। इससे पहले के सभी युगों में साहित्य रचना पद्य में होती थी। हम यहाँ इस बहस में नहीं जाएँगे कि उन्नीसवीं सदी में गद्य लेखन के उदय के कारण क्या थे। लेकिन जैसा कि आपने हिंदी साहित्य के इतिहास के अध्ययन के दौरान पढ़ा होगा कि गद्य लेखन के विकास में अहम भूमिका उन पत्र-पत्रिकाओं ने निभाई जिनका प्रकाशन उन्नीसवीं सदी में शुरू हुआ था। भारतेंदु युग के अधिकांश लेखक या तो स्वयं पत्र-पत्रिकाओं को प्रकाशित करते थे या वे उनमें नियमित रूप से लिखते थे। प्रतापनारायण मिश्र कानपुर से 'ब्राह्मण' नाम की पत्रिका का प्रकाशन और संपादन करते थे। और उसमें ही उनकी ज्यादातर रचनाएँ प्राकशित भी हुईं। 'ब्राह्मण' के लिए उन्होंने भिन्न-भिन्न तरह के 'निबंध लिखे। निबंध को गद्य की कसौटी माना गया है। गद्य के इस आरंभिक युग में लेखकों के लिए निबंध के जरिए अपनी बात कहने में रचनात्मकता को व्यक्त करने की ज्यादा संभावना नज़र आती थी। यही कारण है कि इस युग का निबंध साहित्य अत्यंत समृद्ध है।

निबंध में लेखकों को भाषा के साथ रचनात्मक खिलवाड़ करने की ज्यादा स्वतंत्रता नज़र आती थी। यही कारण है कि इस युग के लेखकों के निबंध पढ़ते हुए हमें उनकी भाषा की

शक्ति का सहज ही प्रमाण मिल जाता है। **धोखा** निबंध प्रतापनारायण मिश्र की भाषिक शक्ति का उत्कृष्ट उदहारण है। हम यहाँ इस निबंध की भाषा संबंधी विशेषताओं पर विचार करेंगे।

मिश्रजी की भाषा की सबसे बड़ी विशेषता है, उसकी जीवंतता। अपनी बात कहने के लिए उनको कभी शब्दों का अभाव नहीं खटकता। बात के अनुसार उनके वाक्य निर्मित होते जाते हैं। मसलन गूढ़ दार्शनिक वाक्य देखिए : '...जिसके विषय में कोई निश्चयपूर्वक 'इदमित्थं' कही नहीं सकता, जिसका सारा भेद स्पष्ट रूप से कोई जान ही नहीं सकता वह निर्भ्रम या भ्रमरहित क्यों कर कहा जा सकता है। शुद्ध निर्भ्रम वह कहलाता है जिसके विषय में भ्रम का आरोप भी न हो सके। पर उसके अस्तित्व तक में नास्तिकों को संदेह और आस्तिकों को निश्चित ज्ञान का अभाव रहता है, फिर वह निर्भ्रम कैसा?' लेकिन ऐसी विचार प्रधान बात को वे अनुप्रास और रूपकों का प्रयोग करके काव्यमय भी बना देते हैं। मसलन यह कथन 'भ्रमोत्पादक भ्रमस्वरूप भगवान के बनाए हुए भव (संसार) में जो कुछ है वह भ्रम ही है।' रूपक का उदहारण देखिए : 'घड़ी के जब तक सब पुरजे दुरुस्त हैं, और ठीक-ठीक लगे हुए हैं तभी तक उसमें खट खट, टन टन आवाज आ रही है, जहाँ उसके पुरजों का लगाव बिगड़ा नहीं न उसकी गति है, न शब्द हैं।' रूपक के इस उदाहरण में ध्यान देने की बात यह है कि उन्होंने घड़ी के चलने की ध्वनि को भी खट खट और टन टन के द्वारा जीवंत बना दिया है। इसी तरह का एक और उदाहरण : 'धोखे के कारण संसार का चर्खा पिन्न पिन्न चला जाता हे, नहीं तो ढिच्चर ढिच्चर होने लगे। यहाँ चर्खा चलने की दो भिन्न गतियों को पिन्न पिन्न और ढिच्चर ढिच्चर के द्वारा व्यक्त किया गया है। पहले में चर्खा चलने में निरंतरता और सहजता का आभास होता है जबकि दूसरे में इन दोनों का अभाव जाहिर हो जाता है। यहाँ चर्खा तेज़ आवाज़ करता हुआ रूक-रूक कर चल रहा है। इस प्रकार शब्दों के इन काव्यात्मक प्रयोगों से निबंध की भाषा में रचनात्मकता का समावेश हो गया है।

मिश्रजी ने अपने निबंध में कहावतों और मुहावरों का भी अत्यंत सुंदर प्रयोग किया है। मसलन इस वाक्य में धोखा से जुड़े मुहावरों का प्रयोग देखा जा सकता है : 'क्योंकि ऐसी दशा में यदि वह **धोखा** खाता नहीं तो धोखे से काम अवश्य लेता है, जिसे दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि माय का प्रपंच फैलाता है वा धोखे की टट्टी खड़ा करता है।' मुहावरों के प्रयोग पूरे निबंध में हर कहीं देखे जा सकते हैं। कलई खुलना, प्रपंच रचना, नाक भौंह सिकोड़ना, आगा पीछा सोचना, खेल बिगड़ना आदि मुहावरों के प्रयोग से भाषा अत्यंत जीवंत हो गई है। इसी प्रकार लोकोक्तियों का प्रयोग भी लेखक ने इतनी कुशलता से किया है कि देखते ही बनता है। मसलन इस लंबे वाक्य में प्रयुक्त कहावतों को देखा जा सकता है : 'दो एक बार **धोखा** खा के धोखेबाजों की हिकमतें सीख लो, और कुछ अपनी ओर से झपकी फुंदनी जोड़कर 'उसी की जुती उसी का सिर' कर दिखाओं तो बड़े भारी अनुभवशाली बरंच 'गुरू गुड़ ही रहा चेला शक्कर हो गया' का जीवित उदाहरण कहलावोगे।' इसी तरह 'नारि नारि सब एक हैं जस मेहरि तस माय', मूंदि गई आँखें तब लाखें केहि काम की, 'काजल की कोठरी में रहने वाला बेदाग नहीं रह सकता', या इसी तरह सूर, तुलसी की काव्य पंक्तियों या संस्कृत पदों का प्रयोग भी मिश्रजी की भाषा की शक्ति को बढ़ाते हैं।

शब्दों के चयन में भी मिश्रजी की प्रतिभा के दर्शन होते हैं। तत्सम और तद्भव शब्दों के साथ-साथ उन्होंने बोलचाल में प्रयुक्त होने वाले आरबी-फारसी के शब्दों का भी प्रयोग किया है। अगर तत्सम शब्दावली के ऐसे वाक्य हैं : 'जो सर्वथा निराकार होने पर भी मत्स्य, कच्छपादि रूपों में प्रकट होता है, और शुद्ध निर्विकार कहलाने पर भी नाना प्रकार की लीला किया करता है वह धोखे का पुतला नहीं तो क्या है?' तो, बोलचाल की उर्दू वाले ऐसे वाक्य भी हैं : '**धोखा** खाए बिना अक्किल नहीं आती, और बेईमानी तथा नीतिकुशलता में इतना ही भेद है कि जाहिर हो जाए तो बेइमानी कहलाती है और छिपी रहे तो बुद्धिमानी है।' इसी प्रकार उन्होंने देशज शब्दों का भी प्रयोग किया है। मसलन, पिन्न-पिन्न, ढिच्चर-ढिच्चर, खट-खट, झपकी, फुंदनी, संखिया, आदि प्रयोग इसी तरह के हैं। उनकी गद्य भाषा भारतेंदु युग की भाषा है जिसका अभी पूरा मानकीकरण नहीं हुआ है। यही कारण है कि इस निबंध में 'तो' के स्थान

पर तौं, स्वर्ण की जगह 'सुवर्ण', रखे की जगह 'रक्खे', सिर की जगह 'शिर' के प्रयोग तो मिलते ही हैं, साथ ही 'मुड़ियावें', 'बहुतेरों', 'वा', 'सुकुड़', 'होइएगा' आदि प्रयोग भी मिलते हैं। या ऐसे वाक्य जिन पर लोकभाषा का प्रभाव साफ तौर पर देखा जा सकता है 'बस, इतना स्मरण रखिएगा तो धोखे से उत्पन्न होने वाली विपत्तियों से बचे रहिएगा।'

प्रतापनारायण मिश्र के इस निबंध में वाक्य विन्यास सभी तरह के हैं - लंबे भी और छोटे भी। आमतौर पर लंबे वाक्य हैं, लेकिन उन्हें समझने में कोई कठिनाई नहीं होती। मसलन, इस वाक्य को लिया जा सकता है, 'हमको वास्तव में इतनी जानकारी भी नहीं है हमारे सिर में कितने बाल हैं वा एक मिट्टी के गोले कम सिरा कहां पर है, किंतु आप हमें बड़ा भारी विज्ञ और सुलेखक समझते हैं तथा हमारी लेखनी या जिह्वा की कारीगरी देख-देख कर सुख प्राप्त करते हैं।' ऐसे लंबे वाक्य इस निबंध में काफी हैं और यह उनके लेखन की शैलीगत विशेषता है।

1 .7 निबंध की शैलीगत विशेषताएँ

शैली की दृष्टि से **धोखा** निबंध को किस वर्ग में रखा जाए यह तय करना आसान नहीं है। इस निबंध में विचारप्रधान निबंध की विशेषताएँ मौजूद हैं तो दूसरी ओर इसमें भावप्रधान निबंध का प्रभाव भी देखा जा सकता है। संभव है कई इसको व्यंग्य निबंध कहना पसंद करें और कई इसे ललित निबंध। आइए, विचार करें कि **धोखा** निबंध को शैली की दृष्टि से किस वर्ग में रखा जाए। **धोखा** खाना या **धोखा** देना एक मानवीय क्रिया है। इसी **धोखा** को मिश्रजी ने निबंध का विषय बनाया है। **धोखा** शब्द पर विचार करते हुए लेखक ने इसके वैचारिक और दार्शनिक पक्षों पर भी पर्याप्त प्रकाश डाला है। इस निबंध की शुरूआत में ही लेखक ईश्वर और उसकी इस सृष्टि के पारस्परिक संबंधों पर विचार करने लगता है। 'शुद्ध निर्भ्रम वह कहलाता है जिसके विषय में भ्रम का आरोप भी न हो सके। पर उसक तो अस्तित्व तक में नास्तिकों को संदेह और आस्तिकों को निश्चित ज्ञान का अभाव रहता है, फिर वह निर्भ्रम कैसा?' इस तरह के विचार प्रधान वाक्य निबंध में शुरू से अंत तक भरे पड़े हैं। लेकिन दूसरी ओर वह इस वैचारिकता की गंभीरता को तोड़ता भी है। 'बहुत ज्ञान छांटना सत्यानाशी की जड़ है।' जैसे वाक्य ही नहीं बल्कि 'जहाँ भरम खुल गया वहीं लाख की भलमसी खाक में मिल जाती है।' या 'संसार का चर्खा पिन्न-पिन्न चला जाता है, नहीं तो ढिच्चर-ढिच्चर होने लगे।' वाक्य इस वैचारिक गंभीरता को तोड़ते हैं।

लेकिन इसका यह तात्पर्य भी नहीं है कि यह निबंध भावनात्मक निबंध है। यह ज़रूर है कि मिश्रजी की जिंदादिली और व्यंग्य विनोद की पूरी छटा निबंध में व्यक्त हुई है, लेकिन वे कहीं भी भावना के प्रवाह में बहे नहीं हैं। 'अपनी चतुरता के मधुर फल को मूर्खों के आंसू तथा गुरूघंटालों के धन्यवाद की वर्षा के जल से धो और स्वादुपूर्वक खा!' जैसे हास्य और व्यंग्य से परिपूर्ण वाक्यों और संस्कृत के श्लोकों, सूर-तुलसी की कविताओं, लोकोक्तियों और मुहावरों से सुशोभित निबंध को शैली की दृष्टि से ललित निबंध ही कहा जाना चाहिए। यह ज़रूर है कि हजारी प्रसाद द्विवेदी और उनके बाद के ललित निबंधकारों में व्यंग्य विनोद की ऐसी छटा दिखाई नहीं देती, जैसी मिश्रजी के निबंधों में है।

1 .8 सारांश

एम.ए. हिंदी के चौथे पाठ्यक्रम के चौथे खंड की इस पहली और पाठ्यक्रम की पंद्रहवीं इकाई में आपने भारतेंदु युग के प्रमुख लेखक प्रतापनारायण मिश्र के निबंध **धोखा** के बारे में अध्ययन किया है। इकाई को पढ़ने से आपने मिश्रजी के लेखकीय व्यक्तित्व की जानकारी प्राप्त कर ली है। **ब्राह्मण** पत्रिका के संपादक रहे मिश्रजी ने गद्य और पद्य दोनों में लिखा। गद्य लेखन में

निबंधों का महत्वपूर्ण स्थान है। **धोखा** उनके द्वारा लिखा गया ऐसा निबंध है जिसमें भारतेंदु युग के निबंध लेखन की प्रायः सभी विशेषताएँ दिखाई देती हैं।

धोखा शब्द की विवेचना के माध्यम से मिश्रजी ने निबंध में ईश्वर संबंधी अवधारणा, जगत को भ्रम समझना और धोखे के सामाजिक और वैयक्तिक प्रभावों पर विचार किया गया है। इस विचार की इकाई में विवेचना की गई है।

इस इकाई में प्रतापनारायण मिश्र के लेखकीय व्यक्तित्व के निबंध पर प्रभाव पर भी विचार किया है। मिश्रजी के व्यक्तित्व की प्रमुख विशेषताएँ है : विवेकपूर्ण समझ, विद्वता और व्यापक ज्ञान, ज़िंदादिली और हास्य व्यंग्य की क्षमता, देश और समाज के प्रति गहरी भक्ति। ये सभी विशेषताएँ उनके इस निबंध में व्यक्त हुई हैं।

इकाई में निबंध के प्रतिपाद्य पर भी विचार किया गया है। निबंध में मुख्य बल उन विचारों का विरोध करना है जो लोगों को अकर्मण्य और समाजविमुख बनाती है। जो व्यक्ति को अपनी सभ्यता और संस्कृति से विलग करती है।

धोखा निबंध की भाषा पर विचार करते हुए उसकी जीवंतता, रचनात्मकता और सहजता को रेखांकित किया गया है। मिश्रजी की भाषा यद्यपि मानक भाषा नहीं है, लेकिन शब्दों, मुहावरों, कहावतों आदि के प्रयोग में उनकी लेखकीय प्रतिभा का प्रमाण मिलता है। **धोखा** निबंध की शैली के बारे में विचार करते हुए इकाई में कहा गया है कि इस निबंध की शैली पर वैचारिक निबंध और भावात्मक निबंध का प्रभाव है, लेकिन इकाई में बताया गया है कि अपनी शैली में यह ललित निबंध के अधिक नज़दीक है।

अभ्यास

1. हिंदी निबंध परंपरा के संदर्भ में प्रतापनारायण मिश्र के निबंध **धोखा** का मूल्यांकन कीजिए।
2. भाषा और शैली की दृष्टि से **धोखा** का सोदाहरण विवेचन कीजिए।
3. **धोखा** निबंध में व्यक्त लेखकीय विचारों का उल्लेख करते हुए निबंध का प्रतिपाद्य बताइए।

इकाई 2 निबंध : लोभ और प्रीति

इकाई की रूपरेखा

2.0 उद्देश्य
2.1 प्रस्तावना
2.2 रामचंद्र शुक्ल के भाव और मनोविकार संबंधी निबंध
2.3 **लोभ और प्रीति** का वैचारिक पक्ष
2.4 **लोभ और प्रीति** का प्रतिपाद्य
2.5 **लोभ और प्रीति** पर लेखकीय व्यक्तित्व का प्रभाव
2.6 **लोभ और प्रीति** का संरचना शिल्प
2.7 सारांश

2.0 उद्देश्य

आचार्य रामचंद्र शुक्ल के मनोविकार संबंधी निबंधों में से एक **लोभ और प्रीति** को आपने पढ़ा होगा। यह इकाई इसी निबंध के बारे में है। इस इकाई में आचार्य शुक्ल के निबंधों की विशेष रूप से भाव और मनोविकार संबंधी निबंधों के परिप्रेक्ष्य में विचार किया गया है।

लोभ और प्रीति ऐसे भाव हैं, जिनका संबंध मनुष्य के जीवन व्यवहार से बहुत गहरा है। इन भावों का वास्तविक अर्थ क्या है, मानव जीवन में और भिन्न-भिन्न व्यवहार क्षेत्रों में इनकी अभिव्यक्ति कैसे होती है, इस पर शुक्लजी ने गहन विचार किया है। उनके इस पक्ष पर इकाई में विस्तार से विचार किया गया है।

उक्त निबंध में व्यक्त लेखकीय विचारों का महत्व क्या है और उसके द्वारा किस तरह का लेखकीय दृष्टिकोण व्यक्त हुआ है, इकाई में इस पर भी विचार किया गया है।

रामचंद्र शुक्ल के निबंध वैचारिक निबंध है, लेकिन उसमें उनके हृदयगत भावनाओं की भी अभिव्यक्ति हुई है। इस निबंध में लेखकीय व्यक्तित्व का प्रभाव किस रूप में दिखाई देता है, इकाई में इस पर भी विचार किया गया है।

लोभ और प्रीति निबंध की भाषिक विशेषताओं पर भी इकाई में विचार किया गया है। साथ ही, निबंध की शैलीगत विशेषताओं को भी रेखांकित किया गया है।

इकाई के अध्ययन से आपको **लोभ और प्रीति** को समझने में मदद मिलेगी।

2.1 प्रस्तावना

एम.ए. हिंदी के पाठ्यक्रम-4 'नाटक और अन्य गद्य विधाएँ' के चौथे खंड की यह दूसरी इकाई है और पाठ्यक्रम की यह सोलहवीं इकाई है। **इस इकाई में** आचार्य रामचंद्र शुक्ल के निबंध **लोभ और प्रीति** पर विचार किया गया है। **इससे पहले** की इकाई में आपने भारतेंदु युग के यशस्वी लेखक प्रतापनारायण मिश्र के निबंध **धोखा** के बारे में पढ़ा था। **धोखा** निबंध की भाषा और शैली और शुक्लजी के निबंध की भाषा और शैली में आपको अंतर साफ़ तौर पर महसूस हुआ होगा। यह अंतर दो लेखकों के बीच का अंतर नहीं है, वरन् दो युगों का अंतर है। भारतेंदु युग में हिंदी गद्य की शुरुआत हुई थी। निबंध का कोई परिनिष्ठित स्वरूप निर्मित नहीं हुआ था। लेकिन शुक्लजी के समय तक हिंदी का गद्य और विशेष रूप से निबंध साहित्य काफी परिपक्व हो गया था। अब ज्यादा गंभीर विषयों पर निबंध लिखे जा सकते थे। शुक्लजी

का **लोभ और प्रीति** निबंध इस बात का प्रमाण है कि विषयवस्तु और भाषा-शैली दोनों दृष्टियों से हिंदी निबंध प्रौढ़ रूप ले चुका था। शुक्लजी ने निबंधों की भाषा का ही संस्कार नहीं किया था, उन्होंने उसकी शैली में भी नये प्रयोग किये थे। शुक्लजी ने निबंधों के लिए ज्यादा गंभीर विषयों को चुना जिनमें उनकी विद्वता का स्पष्ट प्रमाण मिलता था। **लोभ और प्रीति** पर विचार करते हुए शुक्लजी के वैयक्तिक योगदान के साथ-साथ गद्य साहित्य के विकास की पृष्ठभूमि को भी ध्यान में रखना होगा। **लोभ और प्रीति** पर इकाई के अध्ययन से पूर्व आप निबंध को ज़रूर पढ़ें।

2.2 रामचंद्र शुक्ल के भाव और मनोविकार संबंधी निबंध

पं. रामचंद्र शुक्ल हिंदी के श्रेष्ठ निबंधकार हैं। पं. रामचंद्र शुक्ल के निबंधों को हम दो श्रेणियों में विभाजित कर सकते हैं, (अ) प्रारंभिक निबंध, (ब) प्रौढ़ावस्था के निबंध। उनके प्रारंभिक, निबंधों में, 'साहित्य', 'भाषा की शक्ति', 'उपन्यास', 'भारतेंदु हरिश्चंद्र और हिंदी' तथा 'मित्रता', विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। उनके प्रौढ़ावस्था के निबंधों को भी दो कोटियों में रखा जा सकता है : (1) भाव और मनोविकार संबंधी निबंध, (2) समीक्षात्मक निबंध। उनके समीक्षात्मक निबंधा भी दो प्रकार के हैं : (क) सैद्धांतिक समीक्षा से सम्बद्ध निबंध, (ख) व्यावहारिक समीक्षा से सम्बद्ध निबंध।

भाव और मनोविकारों पर लिखे गए निबंध, शुद्ध मनोवैज्ञानिक निबंध नहीं हैं। उसके दो कारण है - एक तो इनका प्रतिपादन विशुद्ध मनोवैज्ञानिक सिद्धांत-शास्त्र के आधार पर न होकर लोक-व्यवहार के आधार पर किया गया है तथा दूसरे ये सभी निबंध काव्यशास्त्रीय सीमा के भीतर आते हैं। एक अन्य महत्वपूर्ण तथ्य यह भी हैं कि इन निबंधों में अधिकांश उद्धरण - उदाहरण साहित्यिक ग्रंथों से दिए गए हैं और इनका विवेचन सामान्य लोक के लिए किया गया है। इन निबंधों में शुक्लजी की दृष्टि प्रधान रूप से काव्यगत एवं जीवनगत स्थितियों को रेखांकित करने पर रही है। आ. रामचंद्र शुक्ल के निबंधों में विचारों का बाहुल्य है। शुक्लजी ने भाव और मनोविकार को केंद्र में रखकर दस निबंध लिखे हैं। इन निबंधों के शीर्षक हैं - (1) भाव या मनोविकार, (2) उत्साह, (3) श्रद्धा-भक्ति, (3) करूणा, (5) लज्जा और ग्लानि, (6) लोभ और प्रीति, (7) घृणा, (8) ईर्ष्या, (9) भय और (10) क्रोध। ये समस्त निबंध 'चिंतामणि, प्रथम भाग' में संगृहीत हैं।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल के ये निबंध न तो नितांत बौद्धिक हैं और न नितांत भावात्मक। 'चिंतामणि-भाग एक' की भूमिका में शुक्लजी ने स्पष्ट रूप से लिखा है कि - "इस पुस्तक में मेरी अंतर्यात्रा में पड़ने वाले कुछ प्रदेश हैं। यात्रा के लिए निकलती रही है बुद्धि, पर हृदय को साथ लेकर।" इस कथन से यह तो स्पष्ट होता ही है कि इन निबंधों मे मूलतः बुद्धि तत्व की प्रबलता है। इसी कारण शुक्लजी की एक विशेष आलोचनात्मक प्रविधि इन निबंधों में स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती है। यह प्रविधि है - भाव या मनोविकारों के संबंध में विचार-विमर्श करना, उनकी परिभाषा देना, वर्गीकरण करना, दो मिलते-जुलते मनोविकारों में सूक्ष्म भेद बताना, उनके नैतिक और व्यावहारिक पक्षों का विश्लेषण करना, उनके विषय और लक्ष्य को स्पष्ट करना, उनका संबंध बुद्धि और चेतना की विकसित और अविकसित अवस्था से जोड़ना, उनके मनोविज्ञान को स्पष्ट करना, उनके काव्यगत और लोकगत स्वरूप की मीमांसा करना, उनके आलम्बनत्व पर व्यापक विचार-विमर्श करना तथा शील और सात्विकता के स्थापन में उनकी भूमिका पर विचार करना। भाव और मनोविकारों पर ऐसा निर्णय देना जो सर्वमान्य हो, संभव नहीं है। इस प्रकार के निबंधों में बुद्धि-तत्व की प्रमुखता तो है ही, पर शुक्लजी का कथन है कि इनमें हृदय तत्व भी जुड़ा हुआ है। इन निबंधों में शुक्लजी द्वारा दी गई परिभाषाएँ और वर्गीकरण मनोविज्ञान से पूर्णतः अलग नहीं है किंतु जब शुक्लजी भिन्न-भिन्न मनोविकारों पर विचार करते हैं तो उनका मौलिक चिंतन निश्चित रूप से अपनी छाप छोड़ता है। उदाहरण के लिए शुक्लजी के निबंध 'करूणा' का परीक्षण करें तो यह तथ्य सामने आता है कि, उन्होंने

करूणा के उद्भव का कारण और उसका दुखवर्ग में होना तो मनोवैज्ञानिक आधार पर बताया है, किंतु करूणा के संदर्भ में बाकी मीमांसा, सामाजिक, धार्मिक और नैतिक क्षेत्रों को दृष्टि में रखकर की है। साहित्य का आधार इस निबंध में केवल एक तथ्य को स्पष्ट करने के लिए किया गया है। वह यह है कि, प्रियजनों के सुख का अनिश्चय भी करूणा के उद्रेक का एक कारण होता है।

शुक्लजी ने इन निबंधों में हृदयगत अनुभूतियों की दृष्टि से भी विचार किया है। शुक्लजी की सहृदयता का विनियोग भाव तथा मनोविकार संबंधी निबंधों को सहजता और मानवीय संबंधों के संदर्भ में सार्थकता प्रदान करने वाला है। मनोभावों का संबंध विषय बोध से है। संसार के अनेकानेक विषय हमारे मन को आकर्षित करते हैं। जो रूप, गति या स्थिति हमें आकर्षित करने में समर्थ होती है, उससे हृदय स्निग्ध हो जाता है, मन रमने लगता है। इस स्थिति में शुक्लजी का आचार्यत्व एक सहृदय भावुक का स्वरूप धारण कर लेता है और उनकी शैली में एक आवेग झिलमिलाने लगता है। **लोभ और प्रीति** निबंध का एक उद्धरण इस संदर्भ में द्रष्टव्य है। यह प्रसंग सीता और राम के मर्यादित प्रेम से सम्बद्ध है। यथा - 'उनका प्रेम जीवन-यात्रा के मार्ग में माधुर्य फैलाने वाला है, उससे अलग किसी कोने में चौकड़ी या आहें भराने वाला नहीं, उसके प्रभाव से वनचर्या में एक अद्भुत रमणीयता आ गई है। सारे कटीले पथ प्रसूनमय हो गए हैं, सम्पूर्ण कर्मक्षेत्र एक मधुर ज्योति से जगमगा उठा है। कोमलांगी सीता अपने प्रिय पति की विशाल भुजाओं और कंधों के ऊपर निकली हई धनुष की वक्रकोटि पर मुग्ध निविड़ और निर्जन काननों में निःशंक विचर रही है। खर-दूषण की राक्षसी सेना कोलाहल करती आ रही है। राम कुछ मुसकराकर एक बार प्रेम भरी-दृष्टि से सीता की और देखते हैं फिर वीरदर्प से राक्षसों की ओर दृष्टि फेरकर अपना धनुष चढ़ाते हैं। उस वीर दर्प में कितनी उमंग, कितना उत्साह, कितना माधुर्य रहा होगा।'

भाव और मनोविकार संबंधी निबंधों पर एक अन्य दृष्टि से भी विचार करना आवश्यक है। प्रश्न उठता है कि ये निबंध विषय प्रधान है या व्यक्ति प्रधान। इन निबंधों के संदर्भ में शुक्लजी कहते हैं कि - 'इस बात का निर्णय मैं विज्ञ पाठकों पर ही छोड़ता हूँ कि ये निबंध विषय-प्रधान है या व्यक्ति प्रधान।' विषय प्रधान निबंध में प्रारंभ से अंत तक विषय को ही स्पष्ट करना और उस पर ही मूलतः केंद्रित होना, रहता है। यहाँ विषय की स्पष्टता ही प्रतिपाद्य है। इस प्रकार के निबंधों में आत्म-अभिव्यक्ति का स्थान नगण्य है। विषय प्रधान निबंधों में विषय के स्वरूप, विषय के संदर्भ में सम्पूर्ण जानकारी, आदि को क्रमबद्ध और युक्तिपूर्ण रूप से प्रस्तुत किया जाता है। इसके विपरीत व्यक्ति-प्रधान निबंधों में विषय गौण हो जाता है और लेखक की निजी भंगिमा और उसकी भावात्मकता प्रमुख हो जाती है। यह भावात्मकता कभी-कभी भावाकुलता भी बन जाती है। ऐसे निबंधों में तथ्य के स्थान पर लेखक की अनुभूति और अनुभव की ही प्रमुखता होती है। ऐसे निबंधों में रचनाकार के व्यक्तित्व की निश्छल अभिव्यंजना का प्रमुख स्थान रहता है। शुक्लजी द्वारा लिखित इन निबंधों में विषय प्रधान और व्यक्ति प्रधान निबंधों की विशेषताओं का अभूतपूर्व समन्वय है। विषय का सांगोपांग विवेचन, तर्क, युक्ति और उद्धरणों से विषय की पुष्टि, तथा विषय निवेचन की क्रमबद्धता के साथ ही शुक्लजी की गंभीरता, लोक मांगलिक दृष्टि, निजी सौंदर्य-भावना, अमोघ व्यंग्य शक्ति और सहृदयता का अद्भुत समावेश इन निबंधों को एक विशेष कोटि प्रदान करता है। शुक्लजी की निबंध रचना का अपना आदर्श है। मनोविकारों पर लिखते समय उन्होंने मनोविज्ञान का आधार तो ग्रहण किया है पर मनोविज्ञान के व्यापक सिद्धांतों को अपनी व्यक्तिगत प्रवृत्ति के अनुरूप ढाल कर ही निबंधों में प्रयुक्त किया है। इसी कारण वे विषय का प्रतिपादन, कहीं मनोविज्ञान, कहीं नीतिशास्त्र, कहीं साहित्य, और कहीं लोकानुभूति के बहुविध वैचारिक संबंध - सूत्रों के आधार पर स्वच्छंद गति से करते हैं। इसीलिए हम यह कह सकते हैं कि आचार्य रामचंद्र शुक्ल के इन निबंधों में विषय और व्यक्तित्व दोनों का गूढ़ सामंजस्य व्यंजित होता है।

2.3 'लोभ और प्रीति' का वैचारिक पक्ष

लोभ और प्रीति निबंध में शुक्लजी के विचारों की श्रृंखला परिलक्षित होती है। इस निबंध के प्रारंभ में वे लोभ की परिभाषा देकर उसे स्पष्ट करते हैं। यथा - 'किसी प्रकार का सुख या आनंद देने वाली वस्तु के संबंध में मन की ऐसी स्थिति को जिसमें उस वस्तु के अभाव की भावना होते ही, प्राप्ति, सान्निध्य या रक्षा की प्रबल इच्छा जग पड़े, लोभ कहते हैं।' इस परिभाषा में मुख्य रूप से चार बिंदु हमारे सामने आते हैं। (1) लोभ का संबंध किसी वस्तु से है जो सुख या आनंद देने वाली हो। (2) लोभ एक मनःस्थिति है, (3) यह स्थिति लोभ से संबंधित वस्तु के अभाव की भावना से जुड़ी हुई है, और (4) इस अभाव की भावना से उस वस्तु की प्राप्ति, अपने निकट रखने की या उसकी रक्षा करने की प्रबल इच्छा जगती है। इस प्रबल इच्छा का जागना ही लोभ है। इस परिभाषा को प्रस्तुत करने के पश्चात् वे प्रीति या प्रेम की परिभाषा करते हैं - 'विशिष्ट वस्तु या व्यक्ति के प्रति होने पर लोभ वह सात्विक रूप प्राप्त करता है जिसे प्रीति या प्रेम कहते हैं।' प्रीति और लोभ का अंतर स्पष्ट करते हुए वे लिखते हैं 'लोभ सामान्योन्मुख होता है और प्रेम विशेषोन्मुख' अर्थात् लोभ किसी भी वस्तु जैसे धन, ज़मीन, सम्पत्ति आदि से हो सकता है किंतु प्रेम किसी एक या विशिष्ट के साथ ही होता है। इसी का विस्तार करते हुए वे कहते हैं कि - जब हमारा लोभ किसी एक ही व्यक्ति पर स्थिर हो जाएगा, हमारी वृत्ति एकनिष्ठ हो जाएगी, तब हम प्रेमी कहे जाने के अधिकारी होंगे।' स्पष्ट है कि व्यक्ति का एक के प्रति लगाव हो जाना ही प्रेम है।

लोभ का एक रूप अच्छा लगना है पर अच्छा लगना मात्र लोभ नहीं है। वस्तुतः लोभ की सीमा जब आगे बढ़कर, जो वस्तु अच्छी लगती है उसे 'प्राप्त करने', 'दूर न करने', 'नष्ट न होने देने' की प्रबल इच्छा होगी तभी उसे लोभ कहा जाएगा। शुक्लजी एक उदाहरण के द्वारा अपनी बात स्पष्ट करते हैं। वे एक चौबेजी का उदाहरण देते हैं जिन्हें पेड़े खाने में रुचि है पर चौबेजी आवश्यकता से अधिक पेड़े पेट में ठूँस लेते हैं। उनकी यह अभिरुचि भी लोभ ही है।

शुक्लजो की पद्धति वर्गीकरण पद्धति है। इसलिए वे प्रिय या अच्छी लगने वाली इच्छा के दो भेद करते हैं : (1) प्राप्ति या सान्निध्य (पास रखना) की इच्छा। (2) दूर न करने या नष्ट न होने देने की इच्छा। वे प्राप्ति या सान्निध्य की इच्छा के दो भेद करते हैं। (1) इतने सम्पर्क की इच्छा जितनी और किसी की न हो। (2) इतने सम्पर्क की इच्छा जितना सब कोई या बहुत से लोग एक साथ रख सकते हों। शुक्लजी इन सबका विस्तार से विवेचन करते हैं और निष्कर्ष रूप में कहते हैं कि - 'दोनों अवस्थाओं में लोभ का लक्ष्य एक होने पर लोभी एक दूसरे को व्याकुल करते हैं।' शुक्लजी लोभ के विषय के आधार पर दो भेद करते हैं। एक सामान्य और दूसरा विशेष। अच्छा कपड़ा अच्छा खाना सामान्य विषय है ऐसे लोभ को रुचि कह सकते हैं, धन संग्रह की अत्यधिक कामना लोभ का विशेष विषय है।

शुक्लजी इस निबंध में जहाँ एक ओर विषय को स्पष्ट रूप से प्रस्तुत करने का प्रयास करते हैं, वहीं दूसरी ओर इन प्रवृत्तियों का निदर्शन सामाजिक दृष्टि से भी करते हैं। इस दृष्टि से विवेचना करते समय शुक्लजी हास-परिहास और व्यंग्य को समाहित करते चलते है।। धन के संदर्भ में लोभ पर विचार करते हुए वे कहते हैं - 'लक्ष्मी की मूर्ति धातुमय हो गई, उपासक सब पत्थर के हो गए, धीरे-धीरे यह दशा आई कि जो बातें पारस्परिक प्रेम की दृष्टि से, धर्म की दृष्टि से की जाती थी वे भी रुपये-पैसे की दृष्टि से होने लगी।' इतना ही नहीं वे आगे लिखते हैं कि : 'राजधर्म, आचार्य धर्म, वीरधर्म सब पर सोने का पानी फिर गया, सब टकाधर्म हो गए। धन की पैठ मनुष्य के सब कार्य क्षेत्रों में करा देने से, ब्राह्मणधर्म और क्षात्रधर्म का लोप हो गया, केवल वणिग्धर्म रह गया।' इसका सीधा अर्थ है कि आज की सामाजिकता का, राजनीति का, पूजा अर्चना का और तमाम महत्वपूर्ण बातों का दारोमदार केवल धन पर आश्रित होकर रह गया है। यहाँ तक कि खरीद फ़रोख्त ही सामाजिकता, धर्म, राजनीति आदि का प्रमुख लक्ष्य रह गया है। शुक्लजी के निबंध **लोभ और प्रीति** में लोकोन्मुखी चेतना स्थान-स्थान पर है। वे

लोभियों के परिप्रेक्ष्य में करारा व्यंग्य करते हुए लिखते हैं कि - 'मोटे आदमियों! तुम ज़रा-सा दुबले हो जाते - अपने अँदेशे से ही सही - तो न जाने कितनी ठठरियों पर माँस चढ़ जाता।' यह व्यंग्य सामाजिक शोषण से सम्बद्ध है। यदि पूँजीवादी प्रवृत्ति में कमी आ जाए तो गरीबी दूर करने में देरी नहीं लगेगी। यही इसका तात्पर्य है।

देश प्रेम के संदर्भ में शुक्लजी का विचार है कि जब देश की प्रकृति, नदी, नाले, पहाड़, वृक्ष, फूल, फल, धरती आदि को देखा ही नहीं है, तब देश प्रेम की बात करना ही व्यर्थ है। शुक्लजी इस संदर्भ में अपने एक अनुभव को बतलाते हैं। जिसमें व्यंग्य विनोद के साथ देशप्रेम से उनका वास्तविक अभिप्राय भी स्पष्ट होता है। वे अपने मित्र के साथ साँची का स्तूप देखने गए। रास्ते में महुओं की टपाटप हो रही थी। शुक्लजी ने कहा, 'महुओं की कैसी मीठी महक आ रही है।' मित्र ने नाराज़ी से कहा - 'यहाँ महुए सहुए का नाम न लीजिए, लोग देहाती समझेंगे। शुक्लजी का स्पष्ट मन्तव्य है कि देशप्रेम, देश परिचय के बिना, असंभव है। लोभ के संदर्भ में शुक्लजी लिखते हैं कि 'लोभियों का दमन योगियों के दमन से किसी भी प्रकार कम नहीं होता है।' लोभ के कारण लोभी, मान-अपमान, काम-क्रोध सब कुछ का दमन करता है। लोभ के अंकुश से वह सम्पूर्ण इन्द्रियों को वश में कर लेता है। पर योगी का संयम जन-कल्याण और स्व-कल्याण के लिए होता है। लोभियो के इन्द्रिय निग्रह के बारे में तीखे व्यंग्य को उभारते हुए शुक्लजी लिखते हैं। - 'लोभियों! तुम्हारा अक्रोध, तुम्हारा इन्द्रिय-निग्रह, तुम्हारी मानापमान-समता, तुम्हारा तप अनुकरणीय है, तुम्हारी निष्ठुरता, तुम्हारी निर्लज्जता, तुम्हारा अविवेक, तुम्हारा अन्याय विगर्हणीय है। तुम धन्य हो! तुम्हें धिक्कार है!!' इस कथन में यह देखना है कि शुक्लजी किन गुणों के कारण लोभी को धन्य कहते हैं और किन अवगुणों के कारण उसे धिक्कारते हैं। वे अक्रोध, मानापमान समता, इन्द्रिय निग्रह के संदर्भ में लोभी को धन्य कहते हैं और निष्ठुरता, निलर्ज्जता,अविवेक और अन्याय के लिए वे उसे धिक्कारते हैं। इन पंक्तियों के माध्यम से वे तपस्वी और लोभी का अंतर भी स्पष्ट कर देते हैं। शुक्लजी का विचारक खुली आँखों से देखता है और खुलेपन से विचार करता है।

प्रेम के संदर्भ में भी शुक्लजी ने विशद विचार अभिव्यक्त किए हैं। वे लोभ और प्रेम की भेदक रेखाओं को विस्तार के साथ स्पष्ट करते हैं। देश प्रेम पर विचार करते हुए शुक्लजी मानते हैं कि स्थान-प्रियता देश प्रेम से जुड़ी हुई है। वे लिखते हैं - 'जन्मभूमि का प्रेम, स्वदेश प्रेम यदि वास्तव में अंतःकरण का भाव है तो स्थान के लोभ के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इस लोभ के लक्षणों से शून्य देश प्रेम कोरी बकवास या फैशन के लिए गढ़ा हुआ शब्द है।' इसीलिए वे मानते हैं कि जिस देश से प्रेम होगा, उसे देश के मनुष्य, पशुपक्षी, झाड़-पेड़, लता-गुल्म, पेड़-पत्ते, नदी-नद, पर्वत-ज़मीन आदि से भी निश्चित रूप से प्रेम होगा। उसे गरीब और किसान से भी प्रेम होगा। केवल आंकड़े बताकर देशप्रेम नहीं होता। देशप्रेम या 'प्रेम' के लिए 'परिचय' अनिवार्य तत्व है। शुक्लजी के अनुसार 'प्रेम हिसाब-किताब की बात नहीं है। हिसाब-किताब करने वाले भाड़े पर भी मिल सकते हैं पर प्रेम करने वाले नहीं।

देश प्रेम के संदर्भ में विचार प्रकट करने के बाद शुक्लजी यह कहते हैं कि देश-प्रेम परिचय और सान्निध्य से ही संभव है। इस सान्निध्य के मूल में निकटता की इच्छा है और यह लोभ से पैदा होती है। प्रेम के संदर्भ में भी यह निकटता की इच्छा ही मूल कारण है। अर्थात् जिनके साथ रहने का हमें अभ्यास हो जाता है उनके प्रति लोभ या राग हो जाता है। अधिकाधिक साथ रहने की इच्छा प्रेम जगाती है, इसीलिए शुक्लजी का विचार है कि 'परिचय प्रेम का प्रवर्तक है। बिना परिचय के प्रेम नहीं हो सकता।' शुक्लजी प्रिय वस्तु संबंधी इच्छा को दो भागों में बाँटते हैं। (1) अपने अधिकार में रखने की इच्छा। (2) केवल बने रहने देने की इच्छा। प्रथम इच्छा के अनुसार इसमें अनन्य उपयोग या उपभोग समाया हुआ है। दूसरी इच्छा के अंतर्गत भाव की एकता के कारण मेल की प्रवृत्ति बढ़ती है। शुक्लजी के अनुसार लोभ का एक प्रशस्त रूप भी होता है जिसमें केवल रक्षा का भाव रहता है। देश प्रेम, घर प्रेम, पुर प्रेम इसी लोभ का रूप है। इस प्रकार का लोभ मनुष्य को महान् बनाता है। शुक्लजी मौलिक चिंतक है। इसी कारण वे लोभ के श्रेष्ठ रूप की सम्पूर्ण व्याख्या करते हैं। इसी लोभ के व्यापकत्व के

कारण जिन लोगों की दृष्टि व्यापक हो जाती है वे घर प्रेम या पुर-प्रेम छोड़ देश के लिए प्राण तक न्यौछावर कर देते हैं। लोभ हो या प्रेम दोनों के मूल में सुख या आनंद की इच्छा का होना अनिवार्य है। लोभ का अर्थ प्रायः वित्त लोभ के अर्थ में सीमित हो गया है। यह धन-लोभ जघन्य है। इस लोभ के कारण अन्य प्रवृत्तियों का दमन हो जाता है। इस प्रकार के लोभ को शुक्लजी उद्धत लोभ कहते हैं।

प्रीति या प्रेम पर शुक्लजी के विचार बहुत सुलझे हुए हैं। वे मूलरूप में लोभ और प्रेम को कुछ दूर तक एक ही मानते हैं किंतु इनमें एक अंतर भी प्रतिपादित करते हैं। वे लिखते हैं कि - साधारणा बोलचाल में वस्तु के प्रति मन की जो ललक होती है उसे लोभ और किसी व्यक्ति की जो ललक होती है उसे प्रेम कहते हैं।' प्रेम और लोभ का अंतर स्पष्ट करते हुए वे मानते हैं कि व्यक्ति के प्रति लोभ, उस व्यक्ति का सम्पर्क बाह्य सम्पर्क ही नहीं अपितु 'हृदय सम्पर्क' भी चाहता है। मनुष्य के साथ मनुष्य का संबंध सामान्य लोभ से अधिक गूढ़, जटिल और व्यापक होता है। वस्तु-लोभ के आश्रय और आलम्बन अलग-अलग होते हैं किंतु प्रेम में आश्रय और आलम्बन का योग हो जाता है। प्रेम लोभ से अधिक गूढ़ और गहरा होता है।

शुक्लजी की मान्यता है कि प्रेमी और प्रिय दोनों के हृदय के योग से जीवन में सजीवता और आनंद का समावेश हो जाता है। संभावना के धरातल पर आनंद और दुख दोनों ही बढ़ जाते हैं। प्रेमी के हृदय का आनंद प्रिय के हृदय का आनंद हो जाता है। दोनों के हृदयानंद के मेल से प्रेमी के हृदय में सांसारिक वस्तुओं में भी कई गुना अधिक आनंद की प्रतीति होने लगती है किंतु वियोग होने पर प्रेमी या प्रिय के पास उन्हीं वस्तुओं का आनंद कम या बिल्कुल शून्य हो जाता है। इसीलिए शुक्लजी कहते हैं - 'दो हृदयों की अभिन्नता अखिल जीवन की एकता के अनुभव पथ का द्वार है।' इस छोटे से वाक्य में शुक्लजी बहुत बड़ी बात कह गए हैं। इसका अर्थ है कि दो हृदयों में जब प्रेम के माध्यम से अभिन्नता आ जाती है तो यह अभिन्नता जीवन की एकता तो है ही पर इससे अनुभव के नाना स्वरूप का ज्ञान भी होता है।

प्रेम के प्रभाव के क्षेत्र के संबंध में शुक्लजी का विचार है कि यह प्रभाव दो क्षेत्रों में होता है। एक व्यक्ति क्षेत्र में और दूसरा समाज क्षेत्र में। व्यक्ति क्षेत्र में प्रभाव सीमित रहता है जिसे एकांतिक कहते हैं, पर समाज या लोक-जीवन के क्षेत्र में यह प्रभाव साहस, धीरता, दृढ़ता, कष्ट सहना, आदि पर आधारित होकर कर्तव्य का व्यापक और जनहितकारी स्वरूप ग्रहण करता है। अनन्य प्रेम या एकांतिक प्रेम का क्षेत्र सामाजिक और पारिवारिक जीवन से अलग-थलग रहता है। गोपियों का प्रेम शुक्लजी के अनुसार इसी प्रकार का है। भक्तिमार्ग में प्रायः एकांतिक प्रेम ही गृहीत हुआ है। इसका कारण है इसमें विराग-साधना अपने आप हो जाती है।

एकांतिक प्रेम से भिन्न प्रेम का दूसरा स्वरूप वह है जो लोक-जीवन से सम्बद्ध है। इसका प्रभाव जीवन यात्रा के तमाम रास्तों को मधुर और आनंददायी बना देता है। इस स्थिति में प्रेमी संसार में कर्म करता हुआ, अपने सौंदर्य की प्रतीति स्वयं भी करता है और प्रिय को भी कराना चाहता है।

इसमें कर्म का सौंदर्य है। इसमें उत्साह भी है और प्रफुल्लता भी। इसमें कर्म के मध्य संघर्ष करता हुआ प्रेमी अपने कर्म-सौंदर्य को प्रिय के सामने प्रत्यक्ष करता है। शुक्लजी लिखते हैं कि मनुष्य की अंतःप्रवृत्ति में जाकर जो प्रेम का विकास हुआ है वह सृष्टि के बीच सौंदर्यविधान की प्रेरणा करने वाली एक दिव्य शक्ति के रूप में हुआ है।

शुक्लजी इस निबंध में प्रेमी और प्रिय की पारस्परिक स्थिति पर भी अपने विचार प्रकट करते हैं। एक स्थिति तो वह है जहाँ प्रेम दोनों में साथ-साथ उत्पन्न होता है। दूसरी स्थिति वह है जहाँ प्रेम एक में होता है दूसरे में नहीं अर्थात् वह विषम ही रह जाता है। शुक्लजी का विचार है कि तुल्यानुराग की भी एक पद्धति दिखाई देती है। इस पद्धति में हृदय को द्रवित करना होता है। द्रवित करने के लिए दो कोमल वृत्तियाँ हैं, वे हैं करूणा, और प्रेम। इसमें एक स्थिति

दया की है। प्रेमी दया के द्वारा प्रिय के हृदय में प्रेम उत्पन्न करना चाहता है। यह प्रेम की राह की सामान्य प्रवृत्ति है। इस दया के माध्यम से सहानुभूति पैदा होती है। जब प्रीति एक पक्षीय ही रहती है, तुल्यानुराग नहीं होता, तब इस स्थिति को भारतीय आचार्य रस न मानकर रसाभास मानते हैं। प्रेम के संदर्भ में तुष्टि का होना आवश्यक है पर प्रेम का एक स्वरूप ऐसा भी होता है जहाँ प्रेमी उच्चतम सीमा तक प्रेम करता है और प्रेम की पूर्णता के स्वरूप में कोई त्रुटि नहीं रहती। शुक्लजी स्पष्ट रूप से लिखते हैं कि - 'जहाँ आत्मतुष्टि की वासना विरत हो जाती है या पहले ही से नहीं रहती, वहाँ प्रेम का अत्यंत निखरा हुआ निर्मल और विशुद्ध रूप दिखाई पड़ता है।' ऐसी स्थिति में प्रिय के लिए प्रेमी की यही भावना रहती है कि प्रिय सदा बना रहे और हमें प्रिय लगता रहे। इसके लिए सूर की गोपियों का उदाहरण देते हैं। गोपियाँ कृष्ण के लिए कहती हैं कि 'कृष्ण जहाँ-जहाँ रहें राज करें और स्नान करते समय भी उनका बाल तक न टूटे।' इस प्रकार के प्रेम में सान्निध्य की कामना का त्याग, प्रेम की रक्षा करता है और शांति प्रदान करता है। शुक्लजी का कथन है कि प्रेम काव्यों में रूप-लोभ ही प्रेम का प्रवर्तक दिखाया गया है किंतु प्रेम का कारण है - साहचर्य। साहचर्य से उत्पन्न प्रेम की यह विशेषता है कि यह प्रेम साथ-साथ रहने के कारण उपजता है और स्थायी हो जाता है और साथ-साथ रहने के बाद बिछोह के समय में भी बराबर बना रहता है।

शुक्लजी प्रम की सबसे बड़ी विशेषता यह बतलाते हैं कि इसकी व्यंजना हँसकर भी की जाती है और रोकर भी। हँसकर जो व्यंजित होता है उसमें हर्ष-पुलक और उछलकूद होती है, रोने में निश्वास और आँसू होते हैं। प्रेम का क्षेत्र इतना विशाल है कि इसमें आनंदात्मक और दुःखात्मक दोनों प्रकार के मनोविकार समाहित हो जाते हैं। इसीलिए श्रृंगार रस के दो भेद हैं - एक संयोग और दूसरा वियोग।

शुक्लजी हिंदी के महान् आलोचक, चिंतक तथा निबंधकार हैं। वे किसी भी विचार को प्रकट करते समय उसकी गहराई तक जाते हैं। **लोभ और प्रीति** के विविध अंगों पर उन्होंने सूक्ष्मता और गहराई के साथ प्रकाश डाला है। **लोभ और प्रीति** निबंध में उनका व्यक्तित्व भी बराबर व्यक्त हुआ है। आगे के भाग में हम इस पक्ष पर विचार करेंगे।

2.4 'लोभ और प्रीति' का प्रतिपाद्य

निबंध के वैचारिक पक्ष का विस्तृत विवेचन पढ़ने के बाद यह सवाल उठना स्वाभाविक है कि आचार्य शुक्ल इसके माध्यम से क्या कहना चाहते हैं। **लोभ और प्रीति** भावों की मनोवैज्ञानिक और व्यवहारपरक व्याख्या करना इसका उद्देश्य है, इसे समझने में हमें कोई कठिनाई नहीं होती। लेकिन इतना ही इसका उद्देश्य नहीं है। **लोभ और प्रीति** भावों पर विचार करते हुए वे अन्य बातों पर भी अपना मत व्यक्त करते हैं। कई बार तो ऐसा प्रतीत होता है कि निबंध अवान्तर बातों को स्पष्ट करने के लिए ही लिखा गया है। शुक्लजी के निबंधों में उनकी जीवन दृष्टि और विश्व दृष्टि भी व्यक्त होती है। मसलन, **लोभ और प्रीति** की बात करते हुए वे देश प्रेम पर भी विस्तार से विचार करते हैं। देश प्रेम पर यह विचार हमें इस बात को स्पष्ट करने से नहीं रोकता कि निबंध में यह विषय अनायास ही नहीं आ गया है वरन् लेखक सोद्देश्य इसकी चर्चा कर रहा है।

इसी प्रकार प्रीति की व्याख्या करते हुए वे प्रेम के विभिन्न रूपों और स्तरों की व्याख्या करते हैं। भक्ति काव्य का उदाहरण देकर वे उस प्रेम की श्रेष्ठता बताते हैं जो लोकोन्मुख हो। स्वयं शुक्लजी के शब्दों में, उस एकान्तिक प्रेम की अपेक्षा जो प्रेमी को एक घेरे में उसी प्रकार बंद कर देता है जिस प्रकार कोई मर्ज़ मरीज़ को एक कोठरी में डाल देता है, हम उस प्रेम का अधिक मान करते हैं जो एक संजीवन रस के रूप में प्रेमी के सारे जीवन पथ को रमणीय और सुंदर कर देता है, उसके सारे कर्मक्षेत्र को अपनी ज्योति से जगमगा देता है। जो प्रेम जीवन की नीरसता को हटाकर उसमें सरसता ला दे, वह प्रेम धन्य है।' जीवन के प्रति अनुराग, कर्म

पर बल और स्वदेश के प्रति प्रेम इन बातों को यदि एक साथ मिलाकर देखें तो हमें निबंध के उद्देश्य को समझने में कठिनाई नहीं होगी।

लोभ और प्रीति के मनोभावों द्वारा वे जीवन और जगत् के प्रति एक सकारात्मक और विवेकपूर्ण दृष्टिकोण विकसित करना चाहते हैं। ऐसा दृष्टिकोण जो इन मनोभावों को असंयमित न होने दे और जो लोगों को कर्म की ओर प्रेरित करे। मनोभावों की जीवन में अहम् भूमिका होती है, लेकिन उनमें संतुलन भी होना ज़रूरी है। इस निबंध में शुक्लजी इस बात को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं, "पर किसी मनोविकार की उचित सीमा का अतिक्रमण प्रायः वहाँ समझा जाता है जहाँ और मनोवृत्तियाँ दब जाती हैं या उनके लिए बहुत कम स्थान रह जाता है।" इस दृष्टि से विचार करने पर हम पाते हैं कि शुक्लजी की दृष्टि में सभी मनोविकारों की जीवन में थोड़ी-बहुत सकारात्मक भूमिका ज़रूर होती है। प्रीति को तो आमतौर पर सकारात्मक माना ही जाता है, लेकिन लोभ भी जीवन में अच्छी भूमिका निभा सकता है। यही नहीं लोभ का सकारात्मक पक्ष ही उसे प्रेम के रूप में परिणत करता है।

शुक्लजी का यह मानना है कि जीवन और जगत के प्रति हमारे मन में किसी तरह का आकर्षण नहीं होगा तो हममें स्वदेश के प्रति भी प्रेम जागृत नहीं होगा। प्रकृति के प्रति प्रेम, स्थान के प्रति प्रेम, वस्तुओं के प्रति प्रेम और लोगों के प्रति प्रेम के होने पर ही इंसान में अपने देश के प्रति प्रेम जागृत होता है। इसी प्रक्रिया में प्रेम मनुष्य को सक्रिय बनाता है। उसे कर्मशील बनाता है। यहाँ कर्म पर शुक्लजी का इतना बल देना इसीलिए है क्योंकि उस युग में भारत पराधीन था। देश को पराधीनता से मुक्ति तभी प्राप्त हो सकती थी, जब लोगों में न सिर्फ स्वदेश के प्रति प्रेम हो बल्कि वह प्रेम उन्हें सक्रिय भी करे। यह सक्रियता पराधीनता के विरुद्ध जन संघर्ष में भागीदारी के रूप में ही सामने आ सकती है।

इसी संदर्भ में शुक्लजी उस लोभ की चर्चा करते हैं जिसके पनपने को वे उपयुक्त नहीं मानते। हमारा तात्पर्य धन के प्रति लोभ से है और जिसे वे अन्य स्थान पर व्यापारी प्रवृत्ति के बढ़ने के रूप में रेखांकित करते हैं। धन के प्रति लोभ को वे न तो व्यक्ति के लिए और न समाज के लिए हितकर मानते हैं। इसी बात को वे इस रूप में भी कहते हैं कि क्षात्र धर्म का ह्रास देश और समाज के लिए अनिष्टकारी है। इस प्रकार शुक्लजी **लोभ और प्रीति** निबंध के माध्यम से निबंध विधा में अपनी रचनात्मक कौशलता का ही परिचय नहीं देते बल्कि औपनिवेशिक पराधीनता के तत्कालीन दौर में लोगों के मन में स्वदेश प्रेम की भावना भरते हैं और इस दिशा में प्रयत्न करने के लिए भी प्रेरित करते हैं।

2.5 'लोभ और प्रीति' पर लेखकीय व्यक्तित्व का प्रभाव

रामचंद्र शुक्ल के निबंध विचार प्रधान हैं, लेकिन उनमें उनके व्यक्तित्व का प्रभाव हमें कदम-कदम पर दिखाई देता है। शुक्लजी सिर्फ साहित्य में रुचि रखने वाले लेखक नहीं थे बल्कि समाज, देश और संपूर्ण मानव जाति की गतिविधियों में उनकी गहरी रुचि थी। यही कारण है कि अपने निबंधों में इस पहलू को व्यक्त करने का जब भी उन्हें अवसर मिलता है तो उसका पूरा इस्तेमाल करते हैं। लोभ पर विचार करते हुए वे समाज में व्याप्त आर्थिक विषमता पर टिप्पणी करते हैं, तो प्रीति पर विचार करते हुए देश-प्रेम पर। तब ही उनकी कलम से ऐसी पंक्तियाँ निकलती हैं : 'मोटे आदमियों। तुम जरा-सा दुबले हो जाते अपने अंदेशे से ही सही - तो न जाने कितनी ठटरियों पर मांस चढ़ जाता।' यह एक सामान्य कथन नहीं है वरन् इसमें उनका समाज में व्याप्त विषमता के प्रति आक्रोश भी व्यक्त हुआ है। यही कारण है कि उनके कथन में व्यंग्य की चुभन महसूस की जा सकती है।

देश-प्रेम पर विचार करते हुए वे उसे मूर्त प्रेम के रूप में प्रस्तुत करते हैं, न कि वायवी रूप में ही। यही कारण है कि वे ऐसे देश-प्रेम को देश प्रेम नहीं मानते जो देश की धरती, प्रकृति और

लोगों के प्रति प्रेम के रूप में व्यक्त न हो। यही कारण है कि वे स्पष्ट घोषणा करते हैं कि 'जन्म भूमि का प्रेम, स्वदेश प्रेम यदि वास्तव में अंतःकरण का कोई भाव है तो स्थान के लोभ के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इस लोभ के लक्षणों से शून्य देश-प्रेम कोरी बकवाद या फैशन के लिए गढ़ा हुआ शब्द है। यदि किसी को अपन देश से प्रेम है तो उसे अपने देश के मनुष्य, पशु-पक्षी, लता, गुल्म, पेड़, पत्ते, वन, पर्वत, नदी, निर्झर सबसे प्रेम होगा, सबको वह चाह भरी दृष्टि से देखेगा, सबकी सुध कर के वह विदेशों में आँसू बहायेगा।' देश-प्रेम की यह चर्चा मनोविकार संबंधी निबंध में अनपेक्षित नहीं है। औपनिवेशिक दासता के उस दौर में देश प्रेम के महत्व और उसके वास्तविक स्वरूप की व्याख्या करके वे अप्रत्यक्ष रूप से राष्ट्रीय आंदोलन के वैचारिक पक्ष को बल प्रदान कर रहे थे।

देश प्रेम का यह उल्लेख शुक्लजी की राष्ट्रीय भावना की अभिव्यक्ति है। लेकिन वे अंध राष्ट्रवादी भी नहीं थे। इसीलिए इसी निबंध में वे पूंजीवादी राजनीति की आलोचना भी करते हैं। वे लिखते हैं, "व्यापार नीति राजनीति का प्रधान अंग हो गई। बड़े-बड़े राज्य माल की बिक्री के लिए लड़ने वाले सौदागर हो गए।... अब सदा एक देश दूसरे देशों पर चुपचाप दबे पाँव धन हरण करन की ताक में लगा रहता है। इसी से भिन्न-भिन्न राज्यों की परस्पर संबंध समस्या इतनी जटिल हो गई है। कोई-कोई देश लोभवश इतना अधिक माल तैयार करते हैं कि उसे किसी देश के गले मढ़ने की फिक्र में दिन रात मरते रहते हैं। जब तक यह व्यापारोन्माद दूर न होगा तब तक इस पृथ्वी पर सुख-शांति न होगी।" पूंजीवादी व्यवस्थाओं की इस केंद्रीय प्रकृति को शुक्लजी ने बिल्कुल सही पहचाना है। यह कथन उनके राजनीतिक अर्थव्यवस्था की गहरी समझ का भी द्योतक है।

शुक्लजी का प्रकृति के प्रति गहरा लगाव था। देश प्रेम की चर्चा के दौरान हम यह देख चुके हैं कि वे देश की प्रकृति से प्रेम को देश प्रेम के लिए अनिवार्य मानते हैं। यही नहीं वे उन शहरी लोगों पर व्यंग्य भी करते हैं जो प्रकृति के प्रति लगाव को पिछड़ेपन की निशानी समझते हैं।

शुक्लजी के लेखन में जहाँ हमें उनकी विद्वता और विवेकशीलता का परिचय मिलता है, वहीं आवश्यकता पड़ने पर व्यंग्य का भी अत्यंत जीवंत प्रयोग करते हैं। ऐसे ही व्यंग्य का एक उदाहरण हम पहले दे चुके हैं। व्यंग्य के साथ-साथ अपनी बात के समर्थन में वे जीवन के अनुभवों और पुस्तकों से उदाहरण भी देते हैं। इससे उनका लेखन बोझिल नहीं होता। बात को जीवंत बनाकर पेश करने का यह तरीका इस बात का प्रमाण है कि वे शुष्क और गंभीर आलोचक नहीं वरन् सहृदय रचनाकार भी हैं। उनके व्यक्तित्व का यह प्रभाव ही उनके निबंधों को रचनात्मक बनाता है।

जीवन और जगत के प्रति गहरा लगाव शुक्लजी के प्रत्येक लेखन में बराबर अभिव्यक्त हुआ है। इस कारण वे जीवन की मामूली सी दिखने वाली गतिविधियों का भी सूक्ष्म निरीक्षण करते हैं और अपनी बात व्याख्यायित करने के लिए वे उनका सटीक उपयोग भी कर लेते हैं। उदाहरण के लिए निबंध के इस अंश को देख सकते हैं। :

> 'भूखे रहने पर सबको पेड़ा अच्छा लगता है पर चौबेजी पेट भर भोजन के ऊपर भी पेड़े पर हाथ फेरते हैं। अतः हम कह सकते हैं कि चौबेजी को मिष्ठान्न से अधिक रुचि है। यह अभिरुचि भी लोभ की चेष्टाएँ उत्पन्न करती हैं।'

लोभ और प्रीति निबंध को पढ़ने पर हमें शुक्लजी के व्यक्तित्व की इन विशेषताओं का प्रमाण बराबर मिलता है। विद्वता, विवेकशीलता, ज़िंदादिली, जीवन और जगत के प्रति गहरा लगाव, देश प्रेम, प्रकृति प्रेम ये कुछ विशेषताएँ हैं जिनसे हम शुक्लजी के व्यक्तित्व की पहचान कर सकते हैं और जिसका प्रभाव हम इस निबंध पर भी देखते हैं।

2.6 'लोभ और प्रीति' का संरचना शिल्प

भावों और मनोविकारों पर विचार करने की शुक्लजी की अपनी विशिष्ट विवेचन और विश्लेषण पद्धति है। वे निबंध में जिस विषय को उठाते हैं, सबसे पहले उसकी परिभाषा देकर विषय को स्पष्ट करते हैं और उसकी दूसरे विषयों से तुलना करते हैं ताकि मूल विषय को अच्छी तरह समझा जा सके। उनमें विषय के वर्गीकरण और विश्लेषण की प्रवृत्ति भी दिखाई देती है, साथ ही निबंध में वे आत्मभिव्यक्ति का समावेश करते हैं। जहाँ आवश्यकता होती है, वहाँ अपनी बात को प्रभावशाली बनाने के लिए व्यंग्य का सार्थक प्रयोग करते हैं। उनके निबंधों में समास और व्यास शैलियों का प्रयोग इसी दृष्टि से किया गया है।

पं. रामचंद्र शुक्ल की विवेचन और विश्लेषण की स्वतंत्र प्रविधि है। वे परिभाषा, वर्गीकरण, व्याख्या, वैयक्तिक संस्पर्श और व्यंग्य के माध्यम से विषय को विस्तार के साथ प्रस्तुत करते हैं। उनकी अपनी दृष्टि लोक-मंगलवादी है। शुक्लजी सूत्र देते हैं फिर उसकी विस्तृत व्याख्या करते हैं जिसमें उद्धरण और उदाहरणों का प्रचुर समावेश होता है। उनकी निजता उनके निबंधों का मूल है। शुक्लजी की भाषा टकसाली हिंदी है, जिसमें संस्कृत, उर्दू और लोकभाषा का सहज समावेश होता है। उनके भाव और मनोविकार संबंधी निबंधों का आधार मनोविज्ञान है। किंतु शुक्लजी निबंध में मनोविज्ञान से यथोचित सामग्री को स्थान देकर, उसका विश्लेषण लोकदृष्टि से करते है। वे लोकमंगल की भावना के पक्षधर हैं। शास्त्रीय विषय लेकर भी वे उसको व्यापक रूप में साहित्य की अवधारणाओं के माध्यम से संप्रेषित करते हैं।

उनके निबंधों में शास्त्रीयता, अनुभव और व्यंग्य-विनोद का अनुपम समन्वय है। उनका शिल्प व्यास और समास शैली का समन्वय है। उनका चिंतन भारतीय अवधारणा के अनुकूल समन्वयधर्मी चिंतन है। शुक्लजी विषय की गहराई तक पहुँचते हैं और फिर अपने लेखन को शास्त्र, अनुभव और व्यंग्य-विनोद के माध्यम से भाषा के कलेवर में प्रस्तुत करते हैं। शास्त्र उन्हें परिभाषा, वर्गीकरण और व्याख्या प्रदान करता है, अनुभव उन्हें लोकमंगल की अवधारणा प्रदान करता है और चिंतन मनन उनके निबंधों को मूल्य प्रदान करता है तथा उनकी वैयक्तिकता और व्यंग्य-विनोद उनके निबंध को ग्राह्य और सरस बनाते हैं।

शुक्लजी का वैयक्तिक संस्पर्श अर्थ से इति तक निबंधों में परिव्याप्त है। **लोभ और प्रीति** निबंध के संदर्भ में जब हम इस बिंदु पर विचार करते हैं कि उनका यह स्पर्श यदा-कदा उनके भावुक विवरणों में अथवा लोकमंगल की भावनाओं में दिखाई पड़ता है। लोकमंगल की भावनाओं के साथ वे प्रायः व्यंग्य-विनोद का आश्रय लेते हैं। उदाहरण के लिए, देश-प्रेम को व्याख्यायित करते हुए, प्रकृति के प्रति अनुराग को अभिव्यक्त करते हैं। यह बात हम पहले भी लिख चुके हैं।

शुक्लजी के निबंधों में वैयक्तिक स्पर्श जहाँ एक ओर गुरू गंभीर विषय को रोचकता प्रदान करता है वहीं तद्युगीन स्थितियों से आमना-सामना भी कराता है। शुक्लजी के निबंध गंभीर निबंध है और पूरी गंभीरता से उनकी संरचना की गई है किंतु ये शुष्क नहीं है, शुक्लजी का वैयक्तिक संस्पर्श इन निबंधों को शुष्क होने से बचाता है और रमणीयता प्रदान करता है। यह संस्पर्श भाषा को प्रवाह देता है और भावक को झकझोरता है। संभवतः ज्ञान प्राप्ति के साथ-साथ विचारों की उत्तेजना प्रदान करना इन निबंधों का लक्ष्य है और शुक्लजी के निबंध इस लक्ष्य की सिद्धि करने में समर्थ हैं।

शुक्लजी के यहाँ व्यंग्य विनोद का प्रयोग सप्रयोजन है। व्यंग्य विनोद से पाठक को गंभीरता के बीच एक सुखद अनुभव की प्रतीति होती है। यह सुखद प्रतीति केवल सुखद ही नहीं रहती है, यह तद्युगीन दशा-दिशा को भी प्रस्तुत करती है। यह दशा-दिशा पाठक को जीवन दिशा का ज्ञान कराती है, कर्म के लिए प्रेरित करती है, एक उत्तेजना प्रदान करती है और खिलखिलाहट से भर देती है।

पं. रामचंद्र शुक्ल जैसे निबंधकार संसार की किसी भी भाषा के लिए गौरव है। उनके निबंधों में विवेचना और सर्जना का समन्वय है। आत्माभिव्यक्ति तथा व्यंग्य-विनोद इनके निबंधों को हल्का-फुल्का नहीं बनाते, वरन् पाठक का भावक की आँख में उंगली गड़ा कर सत्य का निदर्शन कराते हैं। वे रुचि भी जाग्रत करते हैं और चिंतन को भी गति प्रदान करते हैं। हिंदी जगत को जो अनुदान शुक्लजी ने दिया वह अतुलनीय है।

2 .7 सारांश

एम हिंदी के बीज पाठ्यक्रम-4 'नाटक और अन्य गद्य विधाएँ' के चौथे खंड की दूसरी इकाई और पाठ्यक्रम की सोलहवीं इकाई का आपने अध्ययन किया है। यह इकाई आचार्य रामचंद्र शुक्ल के भाव और मनोविकार संबंधी निबंध **लोभ और प्रीति** पर आधारित है। इकाई का अध्ययन करने से पूर्व आपने निबंध अवश्य पढ़ा होगा।

लोभ और प्रीति पर विचार आरंभ करने से पहले इकाई में शुक्लजी के निबंधों विशेषतः भाव और मनोविकार संबंधी निबंधों के बारे में बताया गया है। ये निबंध शुक्लजी ने मनोविज्ञान की दृष्टि से ही नहीं लिखे हैं बल्कि लोक व्यवहार में इनका जो स्वरूप मिलता है, उस पर विचार किया गया है। लोक व्यवहार पर बल होने के कारण निबंध शास्त्रीय गंभीरता से शुष्क नहीं हुए हैं। **लोभ और प्रीति** पर भी यह बात लागू होती है।

लोभ और प्रीति में इन दोनों मनोभावों का विभिन्न उद्धरणों और दृष्टांतों द्वारा विस्तृत विवेचना किया गया हे। वे आरंभ में **लोभ और प्रीति** को सूत्र रूप में परिभाषित करते हैं, बाद में उनकी व्याख्या करते हैं। लोभ पर विचार करते हुए समाज में उसके भिन्न-भिन्न रूपों की व्याख्या करते हैं। वे धन के प्रति लोभ के कुप्रभावों का विवेचन करते हैं। प्रेम के ऐकांतिक रूप की बजाय लोकोन्मुखी प्रेम को श्रेष्ठ मानते हैं। **लोभ और प्रीति** पर विचार करते हुए वह स्वदेश प्रेम पर भी विस्तार से विचार करते हैं और बताते हैं कि स्वदेश प्रेम का महत्व क्यों है।

इस निबंध को भी हम वैचारिक निबंध कह सकते हैं लेकिन इसका उद्देश्य **लोभ और प्रीति** की वैचारिकर व्याख्या करना ही नहीं है। इसके माध्यम से वे लोगों में जीवन और जगत के प्रति अनुराग की भावना पैदा करते हैं। कर्म-सौंदर्य की श्रेष्ठता उजागर करते हुए जीवन में कर्म के महत्व को प्रतिपादित करते हैं। स्वदेश प्रेम पर विस्तार से विचार करते हुए औपनिवेशिक पराधीनता से संघर्ष करने की अप्रत्यक्ष प्रेरणा भी देते हैं।

शुक्लजी के निबंध वैचारिक होते हुए भी उन पर उनके व्यक्तित्व की गहरी छाप दिखाई देती है। उनकी विद्वता, विवेकशीलता, ज़िंदादिली, व्यंग्य की गहरी क्षमता, प्रकृति और देश के प्रति गहरा लगाव और जीवन-जगत के प्रति सकारात्मक सोच उनके लेखकीय व्यक्तित्व की खास विशेषता है, जिनका प्रभाव हम **लोभ और प्रीति** निबंध पर भी देख सकते हैं।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने हिंदी निबंधों को उत्कर्षता के शिखर पर पहुँचाया है। उनके निबंध विचार प्रधान हैं, लेकिन जैसा कि उन्होंने स्वयं कहा है, उसमें उनकी हृदयगत भावनाओं का भी समावेश है। वे निबंध लेखन में समास और व्यास शैली दोनों का प्रयोग करते हैं। उनकी लेखन पद्धति स्पष्ट, विवेचनपूर्ण और बोधगम्य है। अपनी बात को स्पष्ट करने के लिए वे उद्धरणों और दृष्टांतों का प्रयोग करते हैं। भाषा उनकी परिनिष्ठित, सहज और समझ में आने वाली है जिसे रचनात्मक रूप देने के लिए वे व्यंग्य, मुहावरों, लोकोक्तियों और साहित्य के अन्य उपकरणों का भी इस्तेमाल करते हैं।

इकाई को पढ़ने से आपको **लोभ और प्रीति** निबंध को समझने में अवश्य मदद मिली होगी।

अभ्यास

1. रामचंद्र शुक्ल के भाव और मनोविकार संबंधी निबंधों के संदर्भ में **लोभ और प्रीति** की विशेषताएँ बताइए।
2. **लोभ और प्रीति** भावों का विवेचन करते हुए शुक्लजी की अवधारणाओं पर अपना मत प्रस्तुत कीजिए।
3. **लोभ और प्रीति** निबंध पर लेखकीय व्यक्तित्व के प्रभाव की व्याख्या कीजिए और इस निबंध की भाषा-शैली की विशेषताएँ भी बताइए।

इकाई 3 निबंध : कुटज

इकाई की रूपरेखा

3.0 उद्देश्य
3.1 प्रस्तावना
3.2 हजारी प्रसाद द्विवेदी और उनका निबंध लेखन
3.3 **कुटज** की अंतर्वस्तु
3.4 ललित निबंध के रूप में **कुटज**
3.5 **कुटज** की भाषा-शैली
3.6 सारांश

3.0 उद्देश्य

एम.ए. हिंदी के बीज पाठ्यक्रम-4 'नाटक और अन्य गद्य विधाएँ' के चौथे खंड की यह तीसरी इकाई है। इस इकाई में आप आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के ललित निबंध **कुटज** के बारे में अध्ययन करने जा रहे हैं।

हिंदी निबंध परंपरा में आचार्य रामचंद्र शुक्ल के बाद सबसे महत्वपूर्ण नाम आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का ही है। शुक्लजी के निबंधों से भिन्न ललित निबंध की पंरपरा की शुरुआत करने और उसे श्रेष्ठता के शिखर पर पहुँचाने का श्रेय उन्हें ही हैं। इस इकाई में हम द्विवेदीजी के निबंध लेखन की विशेषताओं के बारे में जानकारी प्राप्त करेंगे।

द्विवेदीजी का प्रख्यात निबंध **कुटज** आपके पाठ्यक्रम में शामिल किया गया है। **कुटज** पहाड़ों पर उगने वाला एक पौधा है। उसके गुण और सौंदर्य का वर्णन करते हुए द्विवेदीजी मानव स्वभाव और मानव जीवन के कई पहलुओं पर सार्थक टिप्पणियाँ करते हैं। इकाई में उक्त निबंध की विषयवस्तु का विवेचन करते हुए उसके प्रतिपाद्य पर भी प्रकाश डाला गया है।

कुटज ललित निबंध है और ललित निबंध की विशेषताओं के संदर्भ में इसकी विशेषताओं को भी पाठ लेखक ने उजागर किया है। ललित निबंध में भाषा और शैली का केंद्रीय महत्व होता है। इस खंड में आपने जो भी निबंध पढ़ें हैं उनसे **कुटज** की विशिष्टता की ओर आपका ध्यान ज़रूर गया होगा। इस इकाई में आप इस निबंध की भाषा और शैली की विशेषताओं का भी ज्ञान प्राप्त करेंगे।

3.1 प्रस्तावना

इस खंड में आप अब तक दो इकाइयाँ पढ़ चुके हैं। प्रातपनारायण मिश्र का निबंध **धोखा** और रामचंद्र शुक्ल का निबंध **लोभ और प्रीति** के संबंध में पढ़ी गई इकाइयों से आपको दो भिन्न तरह के निबंध रूपों की जानकारी प्राप्त हुई है। इस इकाई में आप द्विवेदीजी के निबंध **कुटज** के बारे में पढ़ने जा रहे हैं। **कुटज** ललित निबंध है। यह शिवालिक पर्वत श्रृंखला पर मिलने वाला अल्प परिचित पौधा है। इसी के बहाने द्विवेदीजी अपनी चिरपरिचित शैली में अपनी बात कहते चलते हैं। पढ़ते हुए आपको पहले तो यह आभास होगा कि वे सिर्फ कुटज की बात कर रहे हैं, लेकिन धीरे-धीरे आपको एहसास होगा कि **कुटज** तो बहाना है। वे तो मनुष्य के बारे में, उसके जीवन, उसके संघर्ष और उसके भविष्य के बारे में बात कर रहे हैं। बातचीत करने की यह शैली इतनी आत्मीय और हृदयस्पर्शी है कि हम चाहते हुए भी उसके प्रभाव से अछूते नहीं रह पाते।

ललित निबंध में लेखकीय व्यक्तित्व का जो प्रस्फुटन होता है, वैसा प्रस्फुटन किसी अन्य निबंध में नहीं होता। द्विवेदीजी के इस निबंध में उनका पांडित्य, उनकी विशाल हृदयता, उदारता, मानवतावादी दृष्टि, जिंदादिली का आभास मिलता रहता है। यद्यपि इकाई में इस पक्ष पर अलग से विचार नहीं किया गया है, लेकिन निबंध और इकाई को पढ़ते हुए आप उसकी पहचान आसानी से कर लेंगे। ललित निबंध में शैली का सौंदय हमारा ध्यान आकृष्ट करता है। लेखक की रचनात्मकता का जैसा प्रमाण ललित निबंध में मिलता है, वैसा अन्यत्र नहीं। उसमें इतनी तरह की शैलियाँ और भाषा के ऐसे मनोहारी रूप की छटा दिखाई देती है कि निबंध के रस में पाठक सराबोर हो जाता है। इस निबंध में आप **कुटज** की भाषा शैली की विशेषताओं का अध्ययन करते हुए इसका प्रमाण प्राप्त करेंगे। इकाई पढ़ने से पूर्व आप निबंध अवश्य पढ़ लें अन्यथा इकाई में कही गई बातों का पूरा मंतव्य स्पष्ट नहीं होगा।

3.2 हजारी प्रसाद द्विवेदी और उनका निबंध लेखन

हजारी प्रसाद द्विवेदी हिंदी साहित्य के प्रख्यात रचनाकार और आलोचक हैं। हिंदी जगत् में द्विवेदी जी की प्रतिष्ठा अन्वेषक, इतिहासकार, आलोचक, निबंधकार तथा उपन्यासकार के रूप में है। निबंध-लेखन के क्षेत्र में उनकी विशिष्ट पहचान है। वे निबंध को 'व्यक्ति की स्वाधीन चिंता की उपज' मानते हैं। द्विवेदी जी का अध्ययन व्यापक है तथा अध्ययन का यह विस्तार उनके लेखन में सर्वत्र व्याप्त है। निबंध लेखक के रूप में उनके व्यक्तित्व की छाप हर जगह दिखाई देती है। उनकी आत्म व्यंजना के विविध रूप उनके ललित निबंधों का प्राण है। 'अशोक के फूल', 'कल्पलता', 'विचार और वितर्क', 'विचार प्रवाह' और '**कुटज**' द्विवेदीजी के निबंध संग्रह हैं। हजारी प्रसाद द्विवेदी का लेखन सोद्देश्य है। वे साहित्य-मात्र को मनुष्य के संदर्भ में देखते हैं। द्विवेदीजी के अनुसार, 'साहित्य, वस्तुतः मनुष्य का वह उच्छलित आनंद है जो उसके अंतर में अँटाए नहीं अँट सका था।' इस आनंद का आधार वे 'एकत्व की अनुभूति' को मानते हैं। वे मानते हैं कि मनुष्य की चरम मनुष्यता - एकत्व की अनुभूति - संवेदना, के आधार पर ही संभव है। यही संवेदना ललित कलाओं का प्राण है। द्विवेदीजी मानते हैं कि, मनुष्य ही साहित्य का लक्ष्य है। वे समस्त साहित्य में मानवीय चेतना को लक्षित करते हैं। द्विवेदीजी पर रवींद्रनाथ ठाकुर की मान्यताओं का प्रभाव भी पड़ा है। द्विवेदीजी ने अपने साहित्य में जिस मनुष्य की प्रतिष्ठा की है वह सामजिक मनुष्य है।

निबंध को द्विवेदीजी व्यक्ति की स्वाधीन चिंता की उपज मानते हैं। इसे स्पष्ट करते हुए वे लिखते हैं, 'निबंधों के व्यक्तिगत होने का अर्थ यह नहीं है कि उसमें विचार श्रृंखला न हो। ऐसा होने से तो वे प्रलाप कहे जाएँगे।'

द्विवेदीजी के अनुसार, निबंध लेखक विषय के संबंध में अपने विचार प्रस्तुत करते हुए वैज्ञानिक जैसी तटस्थता का पालन नहीं कर सकता है। वह अपनी 'निजता' बनाए रखता है। द्विवेदीजी के निबंधों में वार्तालाप, व्याख्यान, गप्प और स्वगत-चिंतन की विशेषताएँ समाहित हैं पर इन विशेषताओं के अतिरिक्त द्विवेदीजी की मान्यताओं में सामाजिकता, मनुष्य की असीम शक्ति और आस्था का समावेश भी है। उनके निबंधों में मनुष्य के सांस्कृतिक विकास की आकांक्षा है। मनुष्य की जययात्रा के प्रति उन्हें असीम विश्वास है। सम्पूर्ण भारतीय साहित्य, धर्म, कला एवं संस्कृति का अनुशीलन करते हुए वे बार-बार यह घोषित करते हैं कि यह सब मनुष्य को पूर्ण बनाने के साधन मात्र हैं। वे साहित्य के लक्ष्य को स्पष्ट करते हुए मानते हैं कि, साहित्य का लक्ष्य, मनुष्यता की सिद्धि, उच्चतम मूल्यों की उपलब्धि और मंगल-विधान है।

द्विवेदी जी के ललित निबंधों में उनके व्यक्तित्व की भंगिमा, उनके मन का उच्छ्वास और उनके भीतर की आर्द्रता व्यक्त हुई है। 'अशोक के फूल', '**कुटज**', 'बसंत आ गया है' आदि निबंधों में विषय के साथ-साथ शैली की मोहकता हमें आकर्षित करती है। इस शैली में लालित्य भी है और इसके साथ ही द्विवेदी जी के सहज व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति भी। ऋतुओं,

पुष्पों, वृक्षों; पर्वों और स्थानों के पीछे मानव इतिहास छिपा हुआ है। इनकी चर्चा द्विवेदी जी बड़े मनोयोग से करते हैं। 'इनकी चर्चा करते हुए द्विवेदी जी कभी आर्द्र चित्त से, कभी उदास होकर, कभी विच्छल मन से, कभी क्षोभ के साथ, अतीत में, इतिहास के खंडहरों में पाठक को साथ लेकर रमने लगते हैं और पाठक कभी उनके ज्ञान से चकित होकर, कभी अतीत में खोकर,कभी उनकी व्याख्याओं और अनुमानों से तुष्ट होता हुआ अद्‌भुत आनंद का अनुभव करता है।' (डा. रामचंद्र तिवारी)। द्विवेदी जी के निबंध विचार और अनुभूति के संगम है। द्विवेदीजी का कथन है कि - 'मनुष्य थका है, पर रूका नहीं है।' द्विवेदीजी मनुष्य के गतिशील तत्वों के पारखी हैं। वे मानव-सत्य को प्रतिष्ठित करने वाले साहित्यकार हैं। उनका ज्ञान विस्तृत है। ललित निबंधों में उनके व्यक्तित्व का प्रकाशन पूर्ण रूप से हुआ है।

3.3 'कुटज' की अंतर्वस्तु

'**कुटज**' ललित निबंध है। इसका केंद्र **कुटज** नाम का वृक्ष है जो पुष्पों से भरा हुआ होता है। हजारी प्रसाद द्विवेदी के इस निबंध को उनकी आत्माभिव्यक्ति के रूप में अधिक जाना जाता है। **कुटज** के माध्यम से द्विवेदीजी बहुत से महत्वपूर्ण बिंदुओं की व्यंजना करते चलते हैं। द्विवेदीजी के पास ज्ञान का भंडार है। विशेषतः संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और बंगला भाषा, साहित्य पर वे अधिकार-पूर्वक लिखते रहे हैं। वे संस्कृत के तो विद्वान थे ही किंतु उनका वैशिष्ट्य ऐसा कोरा पाण्डित्य नहीं है जो शुष्क होता है। वे साहित्य की सरसता के पारखी हैं और सर्जना के क्षेत्र में वे उसका भरपूर उपयोग करते हैं। **कुटज** या 'अशोक के फूल' अथवा 'देवदारू' जैसे वृक्षों को लेकर लिखे गए निबंधों में नीरस पाण्डित्य न होकर द्विवेदीजी के ललित और उन्मुक्त भावों की प्रवाहपूर्ण भाषा में अभिव्यक्ति है। द्विवेदीजी की निजता का प्रकाशन मोहक और ज्ञानवर्धक है। **कुटज** के नाम, रूप, उत्पत्ति आदि की शास्त्रीय अवधारणाओं के प्रकाशन के साथ वे उसे जीवंत रूप में प्रस्तुत करते हैं और **कुटज** को एक नया व्यक्तित्व प्रदान करते हैं। तब **कुटज** वृक्ष न होकर व्यक्ति-रूप में रूपांतरित होता हुआ प्रतीत होता है। यह रूपांतरण पाठक को जब दृष्टिगत होने लगता है तब वह भाव-विभोर होकर रसमग्न हो जाता है।

प्रारंभ में द्विवेदीजी उस स्थल विशेष को प्रस्तुत करते हैं जहाँ **कुटज** उगता है, पनपता है और पुष्पित पल्लवित होता है। यह स्थान है शिवालिक-श्रृंखला। हिमालय की निचली पहाड़ियाँ। वे शिवालिक का अर्थ बतलाते हुए लिखते हैं - 'शिवालिक' या शिव के जटाजूट का निचला हिस्सा।' 'शिव की लटियायी जटा ही इतनी सूखी, नीरस और कठोर हो सकती है।' यह पर्वत श्रृंखला शिव के जटाजूट के निचले हिस्से का प्रतिनिधित्व करती है। आगे 'हिमालय' और 'पर्वत' के वैशिष्ट्य को प्रस्तुत करते हुए वे कालिदास का स्मरण करते हुए कहते हैं : यथा - 'पूर्व और अपर समुद्र - महोदधि और आकर - दोनों को दोनों भुजाओं से थाहता हुआ हिमालय 'पृथ्वी का मानदंड' कहा जाए तो गलत क्या है।' हिमालय की शिवालिक श्रृंखला की भूमि का स्वरूप वर्णन करते हुए वे विषय की पृष्ठभूमि बताते हैं। जहाँ **कुटज** उगता है उस भूमि पर हरियाली नहीं है, दूब तक सूख गई है, काली-काली चट्टानों के बीच थोड़ी-थोड़ी रेती है। यहीं **कुटज** उगता है। द्विवेदीजी प्रश्न करते हैं - 'रस कहाँ है?' अब **कुटज** पेड़ का वर्णन देखिए - ये जो ठिगने से लेकिन शानदार दरख्त गर्मी की भयंकर मार खा खा कर और भूख-प्यास की निरंतर चोट सहकर भी जी रहे हैं, इन्हें क्या कहूँ? सिर्फ जी ही नहीं रहे हैं, हँस भी रहे हैं। फिर द्विवेदीजी दो प्रश्न करते हैं - 'बेहया हैं क्या? या मस्तमौला?' प्रश्न का उत्तर पाठकों पर छोड़कर द्विवेदीजी व्यंग भी करते हैं और वस्तु का वैशिष्ट्य भी स्पष्ट करते हैं। यथा - 'कभी कभी जो लोग ऊपर से बेहया दिखते हैं, उनकी जड़ें काफी गहरी पैठी रहती हैं। ये भी पाषाण की छाती फाड़कर न जाने किस अतल गह्वर से अपना भोग्य खींच लाते हैं।' अर्थात् **कुटज** ऊपर से ही बेहया प्रतीत होता है पर उसकी जड़ें गहरी हैं और इस प्रश्न का कि रस कहाँ है : उत्तर है - 'पाषाण की छाती के बहुत नीचे। इस रस को ये वृक्ष जाने कहां से खींच लातें हैं, यही इनका भोग्य है। **कुटज** का स्वरूप अद्‌भुत है। ये वृक्ष इतनी कठिनाई के बीच भी मुस्कराते

रहते हैं, ये द्वंद्वातीत हैं, अलमस्त हैं। इन वृक्षों को हम नहीं जानते। न नाम, न कुल, न शील, पर लगता है ये हमें अनादि काल से जानते हैं।' द्विवेदीजी इस पहचान के बाद कुटज के नाम-रूप पर विस्तृत चर्चा करते हुए नाम और रूप की व्याख्या और तुलना करते हैं। बड़ा कौन है? रूप या नाम? द्विवेदीजी सूत्र प्रस्तुत करते हुए कहते हैं 'नाम इसलिए बड़ा होता है कि उसे सामाजिक स्वीकृति मिली होती है ।' रूप व्यक्ति-सत्य है, नाम समाज सत्य।' वे बाद में अपने विषय का विशद विस्तार करते हैं। निबंध का विषय है कुटज किंतु वस्तु विवेचन में उनकी ज्ञान-दृष्टि है। अंततः वे घोषणा करते हैं - 'संस्कृत साहित्य का बहुत परिचित, किंतु कवियों द्वारा अवमानित, यह छोटा सा शानदार वृक्ष कुटज है।

हजारी प्रसाद द्विवेदी बहुत बड़े भाषाशास्त्री भी थे फलतः कुटज शब्द की व्युत्पत्ति का भी वे नाना प्रकार से आकलन करते हैं। गिरिकूट पर उत्पन्न होने के कारण यह कुटज है। अर्थात् गिरिकूट पर जन्म लेने वाला। एक दूसरी व्युत्पत्ति हैं, कुटज अर्थात् जो 'कुट' से पैदा हुआ है। कुट के दो अर्थ हैं : (1) घड़ा, (2) घर। तब क्या कुट घड़े से उत्पन्न् है? घड़ा क्या गमला हैं? हो तो भी कुट का अर्थ इन दोनों से मेल नहीं खाता। संस्कृत में 'कुटहारिका ' और 'कुटकारिका ', 'कुटनी ', 'कुट्टन्नी ' शब्द हैं जो दासी के लिए प्रयुक्त होते हैं, इसी तरह कुटिया या कुटीर' शब्द भी हैं। संस्कृत में कुटज 'कुटच' और 'कूटज' शब्द भी मिल जाते हैं किंतु इन सबसे कुटज वृक्ष का अर्थ असम्बद्ध ही रह जाता है। द्विवेदीजी इसे आग्नेय भाषा परिवार का मानते हैं जो आस्ट्रो-एशियाटिक परिवार का नाम होगा। अब इसे 'कोल परिवार' की भाषा कहा जाता है। हो सकता है यह शब्द इस परिवार का हो। इस शब्द का अर्थ पूरी तरह से द्विवेदीजी भी नहीं बता पाए हैं। वे इतना अवश्य मानते हैं कि -यह शब्द 'आर्य जाति का तो नहीं जान पड़ता।' संस्कृत में दूसरी भाषा के शब्द के प्रवेश के इस कथन के द्वारा वे संस्कृतियों के समन्वय की स्वाभाविक प्रक्रिया का प्रमाण प्रस्तुत करते हैं।

चर्चा के बाद लेखक का सर्जनात्मक रूप फिर सामने आने लगता है। वे कुटज की विशेषताओं का वर्णन करते हुए पुनः ललित भाव और ललित भाषा के साथ प्रवहमान हो उठते हैं। कुटज की पहली विशेषता है, 'अपराजेय जीवनी शक्ति।' यह नाम-रूप दोनों में है। कितने ही नाम आए और चल गए पर संस्कृत साहित्य में यह नाम जम कर बैठा है। कालिदास को मेघ की अर्चना के लिए कुटज पुष्प ही तो मिले थे। नाम के साथ रूप भी अपराजेय शक्ति के साथ विद्यमान है। द्विवेदीजी के शब्दों में - 'चारों ओर कुपित यमराज के दारूण निःश्वास के समान धधकती लू में यह हरा भी है और भरा भी है, दुर्जन के चित्त से भी अधिक कठोर पाषाण की कारा में रूद्ध अज्ञात जलस्रोत से बरबस रस खींचकर सरस बना हुआ है। और मूर्ख के मस्तिष्क से भी अधिक सूखे गिरि कांतर में ऐसा मस्त बना है कि ईर्ष्या होती है। कितनी कठिन जीवनी शक्ति है। प्राण को प्राण पुलकित करता है, जीवनी शक्ति ही, जीवनी शक्ति को प्रेरणा देती है।' यह उद्धरण अपराजेय जीवनी शक्ति की पूरी-पूरी व्याख्या समर्थ भाषा में करता है। यह जीवनी-शक्ति है जो गर्म हवाओं में भी रूप को मलिन नहीं होने देती। यह जीवनी शक्ति ही है जो पत्थर को फोड़कर बहुत गहराई से रस निकाल लाती है और तमाम विपदाओं और कठिनाइयों के बीच में जीवंत बनाए रखती है। यह सत्य कुटज के माध्यम से मनुष्य की अपराजेय जीवनी शक्ति की व्याख्या भी है। इसके कारण ही आनंद भी है और जीवन की प्रेरणा भी है। यही कुटज की अभिव्यक्ति है। इस कुटज के रूपांतरण को पहचान कर ही हम निबंध लेखक को पहचान पाते हैं। ऐसा प्रतीत होता है, मानो हजारी प्रसाद द्विवेदी अब सीधे-सीधे मनुष्य को सम्बोधित कर रहे हैं - 'जीना चाहते हो? कठोर पाषण को भेदकर, पाताल की छाती चीरकर अपना भोग्य संग्रह करो, वायुमंडल को चूसकर झंझा तूफान को रगड़कर, अपना प्राप्य वसूल लो, आकाश को चूमकर अवकाश की लहरी में झूमकर उल्लास खींच लो । कुटज का यही उपदेश है।'

द्विवेदीजी की भाषा की निजी विशेषता है। कुटज तो माध्यम है। वास्तविक तो द्विवेदीजी का सत्य है जो उपर्युक्त शब्दों में झरने की भाँति फूट रहा है। इसीलिए वे जीवन को कला और

तपस्या दोनों मानते हैं। जीवन की कला क्या है और तपस्या क्या है? इसे वे और भी स्पष्ट करते हैं।

जीवन जीना केवल जीवित रहना ही नहीं है। सारा संसार केवल स्वार्थ के लिए जीवित है। हजारी प्रसाद द्विवेदी चिंतन अर्थात् बुद्धि पक्ष और भाव अर्थात् हृदय पक्ष को साथ-साथ लेकर चलते हैं। द्विवेदीजी जहाँ आवश्यक है विचार पक्ष को शुद्ध रूप में रखते हैं अन्यथा वे ललित भाव से विषय को प्रस्तुत करते हैं। पुत्र हो या प्रिया सभी अपने मतलब से प्यार करते हैं। अपने समर्थन में द्विवेदीजी पश्चिम के हाब्स और हेल्वेशियस का उल्लेख करते हैं। वे संस्कृत का एक वाक्य भी प्रस्तुत करते हैं - 'आत्मनस्तु कामाय सर्वप्रियं भवतु'। द्विवेदीजी स्वार्थ की शास्त्रगत चर्चा करते हुए भावुक हो उठते हैं और ओजपूर्ण भाषा में लिखने लगते हैं : 'दुनिया में त्याग नहीं है, प्रेम नहीं है, परमार्थ नहीं है - है केवल प्रचण्ड स्वार्थ।' इस स्वार्थ के साथ ही वे जिजीविषा अर्थात् 'जीने की इच्छा' की भी विशद चर्चा करते हैं। भीतर की जिजीविषा - जीते रहने की प्रचण्ड इच्छा - ही अगर बड़ी बात है तो फिर यह सारी बड़ी बड़ी बोलियाँ, जिनके बल पर दल बनाए जाते हैं, शत्रुमर्दन का अभिनय किया जाता है, देशोद्धार का नारा लगाया जाता है, साहित्य और कला की महिमा गायी जाती है, झूठ हैं। इसके द्वारा कोई-न-कोई अपना बड़ा स्वार्थ सिद्ध करता है। इस सबका निष्कर्ष निकालते हुए वे मानते हैं कि यह सोचना गलत है। स्वार्थ और जिजीविषा से भी प्रचण्ड कोई-न-कोई शक्ति अवश्य है। वह शक्ति क्या है? इसका उत्तर देते हुए वे 'समष्टि बुद्धि' को मान्यता देते हैं। अर्थात् समष्टि का स्वार्थ ही सबसे बड़ी शक्ति है। द्विवेदीजी ने अपन उपन्यासों में भी इसी की स्थापना की है। उनकी स्पष्ट किंतु अत्यंत महत्वपूर्ण मान्यता है कि 'अपने आपको दलित द्राक्षा की भाँति निचोड़कर जब तक 'सर्व' के लिए निछावर नहीं कर दिया जाता तब तक स्वार्थ खण्ड सत्य है, वह मोह को बढ़ावा देता है, तृष्णा को उत्पन्न करता है और मनुष्य को दयनीय कृपण बना देता है।' इसका अर्थ यह हुआ कि समष्टि और सर्व के प्रति अपने आपको पूरा दे देना ही पूर्ण सत्य है।

अपने इसी पूर्ण सत्य के लिए द्विवेदीजी **कुटज** को सामने रखते हैं। भावात्मकता और प्रवाहमयता के साथ वे **कुटज** की बात करते हैं - '**कुटज** क्या केवल जी रहा है। वह दूसरे के द्वार पर भीख माँगने नही जाता, कोई निकट आ गया तो भय के मारे अधमरा नहीं हो जाता, नीति और धर्म का उपदेश नहीं देता फिरता, अपनी उन्नति के लिए अफसरों का जूता नहीं चाटता फिरता, दूसरों को अवमानित करने क लिए ग्रहों की खुशामद नहीं करता। आत्मोन्नति हेतु नीलम नहीं धारण करता, अंगूठियों की लड़ी नहीं पहनता, दाँत नहीं निपोरता, बगले नहीं झाँकता। जीता है और शान से जीता है- काहे वास्ते, किस उद्देश्य से? कोई नहीं जानता मगर कुछ बड़ी बात है। स्वार्थ के दायरे से बाहर की बात है। भीष्म पितामह की भाँति अवधूत की भाषा में कह रहा है, 'चाहे सुख हो या दुख, प्रिय हो या अप्रिय, जो मिल जाए उसे शान के साथ, हृदय से बिल्कुल अपराजित होकर, सोल्लास ग्रहण करो। हार मत मानो।'

निबंध में, 'दलित द्राक्षा की भाँति निचोड़कर दे देना' को ही '**कुटज** का मूर्त रूप' व्याख्यायित किय गया है। केवल जीना या स्वार्थ के लिए जीना सत्य नहीं है। स्वार्थ के कारण ही झुकना पड़ता है, भय का शिकार होना पड़ता है, खुशामद करनी पड़ती है, ढोंग करना पड़ता है, और भी नाना प्रकार के निंदनीय कर्म करने पड़ते हैं। **कुटज** इन सबसे विलग होकर जीता है। द्विवेदीजी प्रश्न करते हैं किस लिए? काहे के वास्ते? वे ही उत्तर देते हैं कि - **कुटज** हृदय से अपराजेय होकर जीता है। वह अपने लिए नहीं जीता, सबके लिए जीता है। वह सुख में दुख में, प्रिय-अप्रिय में, सब स्थितियों में जो भी मिल जाए - 'सुख मिले या दुख' प्रिय मिले या अप्रिय सबको आनंद के साथ ग्रहण करता है। यही अवधूत भाषा है। **कुटज** निर्भय है। **कुटज** की तीन विशेषताओं का उल्लेख हजारी प्रसाद द्विवेदी करते हैं : (1) अकुतोभया वृत्ति, (2) अपराजित स्वभाव, (3) अविचल जीवन दृष्टि।

द्विवेदीजी **कुटज** को मिथ्याचारों से मुक्त मानते हैं। **कुटज** निबंध के अंत में द्विवेदीजी की मान्यताएँ प्रखर रूप से अभिव्यक्त हुई है। ये मान्यताएँ भारतीय चिंतन के मुक्तकण हैं। प्रथम बात तो यह है कि व्यक्ति न किसी का उपकार कर सकता है न अपकार। दूसरी बात यह है कि मनुष्य केवल जी रहा है, यह जीना इतिहास विधाता की इच्छा और योजना के अनुसार है। तीसरी बात यह है कि मनुष्य के द्वारा किसी को न सुख पहुँचाया जा सकता है न दुख। सुख पहुँच जाए, यह अच्छी बात है, इस पर अभिमान नहीं करना चाहिए। सुखी वह है जिसका मन-वश में है और दुखी वह है जिसका मन पर वश नहीं है। 'सुख और दुख मन के विकल्प हैं।' जिसका मन वश में नहीं है वह छल-छंद रचता है। धोखा देता है। **कुटज** इन सबसे मुक्त है। हजारी प्रसाद द्विवेदी इसको ही हमारे सामने **कुटज** के माध्यम से प्रस्तुत करते हैं। इसी कारण वे **कुटज** को प्रतीक के रूप में उपस्थित करते हैं और लिखते हैं कि **कुटज** 'वैरागी' है। राजा जनक की तरह संसार में रहकर, सम्पूर्ण भोगों को भोगकर भी उनसे मुक्त है। × × × '**कुटज** अपने मन पर सवारी करता है, मन को अपने पर सवार नहीं होने देता।'

निष्कर्ष रूप में हम यह कह सकते हैं कि इस निबंध के केंद्र में **कुटज** है। यह अपने आप में भारतीय चिंतन का सिद्ध रूप है। यह सिद्ध रूप अपने मन को वश में कर लेने पर ही प्राप्त होता है स्वार्थ के लिए जीना व्यर्थ है, मूल तो समष्टि दृष्टि में और समष्टि के लिए अपना सब कुछ दे देने में है। यही विषय-वस्तु का सार है।

3.4 ललित निबंध के रूप में 'कुटज'

ललित निबंध क्या है? ललित निबंध का स्वरूप क्या है? ललित निबंध के तत्व क्या हैं। ललित निबंध के रूप में '**कुटज**' का परीक्षण करने के पूर्व इन प्रश्नों का उत्तर जानना आवश्यक है।

ललित निबंध मूलतः भाव प्रधान निबंध होते हैं। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि इस प्रकार के निबंधों में विचार तत्व का अभाव होता है। कतिपय निबंधों में भावुकता का आधिक्य होने पर भी विचारों की अंतर्धारा बराबर प्रवाहित होती रहती है। कुछ निबंध पूरी तरह से भाव-प्रधान होते हैं। द्विवेदीजी के ललित निबंधों में विचार और भाव का समावेश बराबर-बराबर है। द्विवेदीजी का पाण्डित्य बराबर उनके साथ रहता है। निबंध लेखन में, स्वच्छंदता, सरलता, आडम्बर हीनता, घनिष्ठता और आत्मीयता के साथ लेखक के वैयक्तिक दृष्टिकोण का समावेश रहता है। निबंध एक ऐसी कलाकृति है जिसके नियमों का निर्माता स्वयं लेखक ही होता है। इतना अवश्य है कि सहज, आडम्बर-हीन आत्माभिव्यक्ति के, लिए परिपक्व और विचारशील गंभीर व्यक्तित्व का होना आवश्यक है तभी निबंध लेखक की निकटता और आत्मीयता वास्तविक होती है। वस्तुतः ललित निबंध चिंतन प्रधान होते हैं किंतु निबंध लेखक अपनी प्रवृत्ति, स्वभाव या परिस्थिति के अनुसार भावना को प्रधानता देते हैं। इस प्रकार भावना और विचार का एक सहज समन्वय ललित निबंध का वैशिष्ट्य है। यह समन्वय पाठक के हृदय को द्रवीभूत भी करता है और उसकी बुद्धि को प्रेरित भी करता है। **कुटज** में हजारी प्रसाद द्विवेदी शास्त्र और भाव दोनों का आश्रय लेकर ललित शैली में तथ्य और सत्य को आत्मीयता के साथ प्रस्तुत करते हैं। **कुटज** एक फूलों वाला वृक्ष है पर उसका मानवीकरण करते हुए, द्विवेदीजी उसे मित्र, सखा और उससे भी अधिक एक आदर्श के रूप में प्रस्तुत करते हैं।

ललित निबंध वह साहित्यिक विधा है जिसमें भावना और विचारों का समन्वय होता है। स्वच्छंदता, सरसता, आडम्बर हीनता, घनिष्ठता और आत्मीयता के साथ लेखक अपनी निजता के साथ वैयक्तिक बोध और आत्मीयता को इसमें समाहित करता है। ललित निबंधों में कई साहित्य रूपों के गुण भी समाविष्ट रहते हैं। इसमें, जीवन की वास्तविकता, कहानी की संवेदना, नाटक की नाटकीयता, उपन्यास की चारू कल्पना, गद्य काव्य की भावातिशयता, महाकाव्यों की गरिमा, विचारों की उत्कृष्टता - सभी कुछ एक साथ प्राप्त होते हैं।

कुटज एक ललित निबंध है। इसका विषय भी कुटज है। इस विषय को प्रस्तुत करते हुए हजारी प्रसाद द्विवेदी उस भूमि पर भी प्रकाश डालते हैं जहाँ यह उगता है। यह स्थान है हिमालय की वे पर्वत श्रृंखलाएँ जिन्हें शिवालिक कहा जाता है। इस शिवालिक के विवरण में ज्ञान का प्रकाश है। स्थूल वर्णन यथार्थ होकर भी भावमूलक है। इसके साथ ही विषय का आत्मीय-विश्लेषण भी है। प्रवाहमयी भाषा है। इसके पश्चात् 'नाम' और 'रूप' की सैद्धांतिक व्याख्या है और फिर कुटज शब्द की भाषाशास्त्र के अनुसार व्याख्या है। यह व्याख्या शुष्क सैद्धांतिक न होकर भाव को भी समन्वित करती हुई चलती है। हृदय और बुद्धि का यह समन्वय इस निबंध की महत्वपूर्व उपलब्धि है। पं. रामचंद्र शुक्ल के निबंधों में प्रधानता तो बुद्धि की है - कहीं-कहीं हृदय भी उसमें जुड़ जाता हैं। हजारी प्रसाद द्विवेदी के निबंधों में हृदय और बुद्धि साथ-साथ चलते हैं। हजारी प्रसाद द्विवेदी ने कुटज को मानवी-चेतना का रूप प्रदान किया है। यह पुरुष विशेष है। कुटज के साथ द्विवेदीजी सहज आत्मीय संबंध भी बना लेते हैं। इसके बीच में कालिदास का मेघदूत और उनकी कुटज कुसुमों से मेघ की अभ्यर्थना आदि समाहित है। इस सारे विवरण के साथ ही उनकी आत्मीयता कुटज की अभ्यर्थना में परिवर्तित हो जाती है। कुटज ने उनके संतप्त चित्त को सहारा दिया था। 'बड़ भागी फूल है यह। धन्य हो कुटज, तुम गाढ़े के साथी हो। उत्तर की ओर सिर उठाकर देखता हूँ, सुदूर तक ऊँची काली पर्वत-श्रृंखला छायी हुई है और एकाध सफेद बादल के बच्चे उनसे लिपटे खेल रहे हैं। मैं भी इन पुष्पों का आदर्श उन्हें चढ़ा दूँ।' आगे चलकर द्विवेदीजी कहते हैं। - 'जो कालिदास के काम आया हो उसे ज्यादा इज्जत मिलनी चाहिए। मिली कम है। पर इज्जत तो नसीब की बात है।' इसके समानांतर वे रहीम को रखते हैं। रहीम को भी जो स्थान मिलना चाहिए था नहीं मिला। कुटज के फूल को भी वह सम्मान नहीं मिला जिसके योग्य वह है। इस स्थान पर सहज भाव से हजारी प्रसाद द्विवेदी एक शुद्ध सत्य को सहजता के साथ रख देते हैं। 'लेकिन दुनिया है कि मतलब से मतलब है, रस चूस लेती है, छिलका और गुठली फेंक देती है।'

द्विवेदीजी भाषाशास्त्री हैं फलतः कुटज शब्द का ऐतिहासिक संबंध, उसकी प्राचीनता, उसकी व्युत्पत्ति, उसका भाषा परिवार, उसके विविध आयामों पर शास्त्रोक्त मीमांसा करने के पश्चात् वे पुनः प्रकृति लालित्य के मध्य कुटज की प्रतिष्ठा करते हुए प्रतीत होते हैं। हजारी प्रसाद द्विवेदी संपूर्ण आत्मीयता के साथ कुटज को आदर्श चिंतन के प्रवक्ता के रूप में प्रस्तुत करते हैं। भाषा, भाव और बोध के लालित्य के रूप में हजारी प्रसाद द्विवेदी के निबंध कुटज की निम्नलिखित पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं : यथा - 'मगर कुटज है कि संस्कृत की निरंतर स्फीयमान शब्द राशि में जो जमके बैठा सो बैठा ही है। चारों ओर कुपित यमराज के दारूण विश्वास के समान धधकती लू में यह हरा भी है और भरा भी है, दुर्जन के चित्त से भी अधिक कठोर पाषण की कारा में रूद्ध अज्ञात जलस्रोत से बरबस रस खींचकर सरस बना हुआ है। और मूर्ख के मस्तिष्क से भी अधिक सूने गिरि कांतर में भी ऐसा मस्त बना है कि ईर्ष्या होती है। कितनी कठिन जीवनी शक्ति है।' इसके पश्चात् हजारी प्रसाद द्विवेदी कुटज को जीवनी शक्ति के महत्तम प्रतीक के रूप में विनियोजित कर उसके माध्यम से अपनी सामाजिक-चेतना संबंधी विचार-सरणि को अभिव्यक्ति प्रदान करते हैं। यह ललित-निबंध द्विवेदीजी की सामाजिक मान्यताओं का विचार-कोष है। यह निबंध हृदयानुभूति का विचार कोष भी है।

ललित निबंध का एक वैशिष्ट्य स्वच्छंदता है। स्वच्छंदता ही वह विशेषता है जो निबंध को शास्त्र के बोझ से मुक्त करती है। स्वच्छदता का अर्थ निबंध के संदर्भ में अनियंत्रित होना नहीं है वरन् वह लेखक की 'निजता' के मुक्त सन्निवेश से संबंधित है। मुक्तभाव से हजारी प्रसाद द्विवेदी अपने विचारों को इस निबंध में स्थान देते हैं।

ललित निबंध में आत्मीयता और आडम्बरहीनता का विशेष स्थान है। कुटज निबंध में कुटज के साथ लेखक की आत्मीयता पाठक की आत्मीयता बन जाती है। इसमें शास्त्रीयता के साथ आत्मीयता का समन्वय होता है। बुद्धि और हृदय इस प्रकार के निबंधों में अलग-अलग राह पर नहीं चलते हैं। उनमें एकात्मकता रहती है। इसी कारण ललित निबंधों की व्यंजना रागाश्रित

व्यंजना होती है। **कुटज** इस रागाश्रित व्यंजना का अभिनव रूप है। यह रागाश्रित व्यंजना पाठक को आकर्षित करती है और आत्मीयता से बाँध लेती है। पाठक, लेखक और निबंध तीनों ही एकतान होकर रचना को अपने में समाहित करते हैं और स्वयं रचना में समाहित होते हैं। लेखक के भाव और विचार पाठक को प्रभावित करते हैं। यह आत्मीयता रस की संवाहिका भी है और स्वरूप दर्शिका भी है। आडम्बर साहित्य का गुण नहीं दुर्गुण है। ललित निबंध इस आडम्बर के आवरण को अस्वीकार कर सहजता में ही सम्पूर्ण होता है। यदि एक प्रकार से देखा जाय तो **कुटज** का उत्पत्ति-स्थल, रेतीले पहाड़ों के कठिनतम पर्यावरण के मध्य उसका जन्म लेना और उसी परिवेश में पुष्पित पल्लवित होना सब कुछ एक कहानी जैसा लगता है। एक ऐसी कथा जिसका नायक असीम जीवनी शक्ति से जीवंत भी है। इसका नायकत्व जीवन की कला भी जानता है। उसमें रस भी है और आदर्श भी। हजारी प्रसाद द्विवेदी उसे नाना प्रकार के विशेषणों से संबोधित करते हैं।

हजारी प्रसाद द्विवेदी आत्मीय एवं घनिष्ठ भाव से **कुटज** से जुड़ जाते हैं। इस निबंध से गुजरते हुए ऐसा लगता है जैसे द्विवेदीजी ने उसकी काया में ही प्रवेश कर लिया है। इसको **हो** परकाय प्रवेश' कहते हैं। यदि ऐसा न होता तो निबंध बाह्य विवरण देकर ही समाप्त हो जाता। ललित निबंध का वैशिष्ट्य अंतरंग होने में है। **कुटज** के साथ यह अंतरंगता **कुटज** निबंध का प्राण है। वह सखा है, मनस्वी मित्र है, गाढ़े का साथी है। हजारी प्रसाद द्विवेदी **कुटज** के साथ एकात्म हो जाते हैं। विवरण तो कोई भी सामान्य लेखक दे सकता है, पर विषय-वस्तु के साथ एकात्म स्थापित करना महान् लेखक के द्वारा ही हो सकता है। इस एकात्म भाव के कारण कभी-कभी ऐसा भी प्रतीत होता है कि **कुटज** के भीतर से हजारी प्रसाद द्विवेदी की वाणी का झरना प्रवाहित हो रहा है। विषय से अभिन्नता ललित निबंध के लिए आवश्यक है। यह एकत्व और आत्मीयता होने पर वस्तु की अंतरंगता स्पष्ट होती है। हृदय का हृदय से विनियोग होता है। यह विनियोग चिंतन के प्रवाह को प्रस्तुत करता है, भाषा को गतिमान बनाता है, आत्मीयता से भर देता है, शिल्प को वैभव प्रदान करता है और भाषा को सरस और सारगर्भित बनाता है।

हजारी प्रसाद द्विवेदी **कुटज** के जीवन को शानदार ढंग से चित्रित करते हैं। द्विवेदीजी **कुटज** की रचना करते हैं और उनकी अपनी दृष्टि **कुटज** में रम जाती है। इस रम्य दृष्टि का आलेखन एक चमत्कार पैदा करता है। पूरे निबंध में **कुटज** से जुड़कर हजारी प्रसाद द्विवेदी की वैयक्तिक दृष्टि कभी भाव, कभी उपदेश और कभी जीवनादर्श के रूप में स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती है। **कुटज** 'द्वन्द्वातीत' है। 'अलमस्त' है। **कुटज** मुझे 'अनादिकाल से जानता है।' मैं भी **कुटज** को पहचानता हूँ, 'अवश्य पहचानता हूँ।' आदि कथन हजारी प्रसाद द्विवेदी के एकात्मता और भाव को स्पष्ट करते है। यह **कुटज** 'चिर परिचित दोस्त' है। हजारी प्रसाद द्विवेदी इस चिरपरिचित दोस्त से जी भर कर बात करते हैं। जीवन जीना चाहते हो तो 'कठोर पाषण को भेदकर, पाताल की छाती चीरकर अपना भोग्य संग्रह करो, वायुमंडल को चूसकर, झंझा-तूफान को रगड़कर, अपना प्राप्य वसूल लो, आकाश को चूमकर अवकाश की लहरी में झूमकर उल्लास खींच लो। **कुटज** का यही उपदेश है। पाषाण, पाताल, वायु और आकाश से क्या और कैसे लेना, यह **कुटज** का उपदेश नहीं हैं। यह तो हजारी प्रसाद द्विवेदी की अपनी दृष्टि है अपनी चेतना है, अपना दर्शन अथवा भारतीय चिंतन की थाती है जो **कुटज** के माध्यम से अभिव्यक्ति पा रही है। इसी प्रकार 'मैं' का 'सबके लिए' सबकुछ दे देना और यह भी 'दलित द्राक्षा की भाँति निचोड़कर सर्व के लिए निछावर कर देना' भी द्विवेदीजी के चिंतन, दर्शन और दृष्टि, का ही रूप है। अंत में भी, सुखी कौन है का यह उत्तर कि जिसका मन वश में है वही सुखी है, यह कहना भी हजारी प्रसाद द्विवेदी के सोच का ही प्रमाण है जो इस निबंध में ही नहीं, उनके द्वारा रचित अन्यान्य साहित्य विधाओं में भी अभिव्यक्त हुआ है। ललित निबंध में यह वैयक्तिक दृष्टि सबके लिए प्रयुक्त होती है। ललित निबंध में सहजता, सरसता और प्रवाह का होना भी आवश्यक है कुटज निबंध में ये सभी गुण विद्यमान है।

इस निबंध का उद्देश्य क्या है? यह निबंध अपने लघु आकार में एक महाकाव्य की गरिमा सम हुए है। ललित इसका शिल्प है, इसकी शैली है, और जीवन को जीवनीशक्ति प्रदान करना तथा निस्वार्थ होकर व्यक्ति का समाज के लिए निःशेष हो जाना इसका उद्देश्य है। यह व्यष्टि का समष्टि के लिए आदर्श कर्म है। यही शान से जीना है।

ललित निबंध के रूप में **कुटज** अत्यंत उत्कृष्ट निबंध है। भाव और चिंतन का सामंजस्य तथा भाषा का लालित्य और प्रवाह इस निबंध को विशिष्टता प्रदान करते हैं। यह निबंध सहजता और सरसता में महत्तम चिंतन का प्रकाशक है। विषयवस्तु सूक्ष्म और गहन है परंतु **कुटज** का माध्यम जिस सहजता और प्रसन्न भाषा के साथ उसे प्रत्यक्ष करता है वह ललित निबंध का मानदंड है। शास्त्र-ज्ञान इसमें है, दर्शन इसमें है और चिंतन भी इसमें है किंतु उसकी प्रस्तुति ललित है, प्रिय है और सुंदर है। इसमें प्रकृति भी है और पुरुष भी है। दोनों का लीला भाव भी है। हिंदी ललित निबंधों के क्षेत्र में **कुटज** अद्वितीय है।

3.5 'कुटज' की भाषा-शैली

कुटज की भाषा विचारों और भावों के अनुरूप प्रवाहमयी सहज भाषा है। वाक्य रचना विषय के अनुरूप है, जिसमें कहीं छोटे-छोटे और कहीं बड़े-बड़े वाक्यों की रचना की गई है। जहाँ जिज्ञासा मूलकता है वहाँ कई प्रश्नवाचक वाक्यों की रचना की गई है। उदाहरण के लिए देखिए- रूप मुख्य है या नाम? नाम बड़ा है या रूप? पद पहले या पदार्थ? हजारी प्रसाद द्विवेदी की भाषा कहीं-कहीं व्याख्यानपरक अथवा व्याख्यात्मक भी हो जाती है। इस प्रकार की भाषा में विवरण-प्रधानता आ जाती है। यह विवरण विषय के अनुसार कहीं चित्रात्मक भाषा का रूप लेकर उपस्थित होता है, तो कहीं शास्त्रों की बारीक जानकारियों का संग्रह बनकर सपाट रूप में उपस्थित होता है। यथा - (1) इन्हीं में से एक छोटा-सा बहुत ही ठिगना पेड़ है, पत्ते चौड़े भी हैं, बड़े भी हैं। फूलों से तो ऐसा लदा है कि कुछ पूछिए नहीं। अजीब सी अदा है, मुस्कराता जान पड़ता है। (2) **कुटज** अर्थात जो कुट से पैदा हुआ हो। 'कुट' घड़े को भी कहते हैं, घर को भी कहते हैं। कुट अर्थात् घड़े से उत्पन्न होने के कारण अगस्त्य मुनि भी **कुटज** कहे जाते हैं।

इनमें उदाहरणों में भाषागत भिन्नता है। प्रथम में विवरण तो है पर साथ ही चित्रात्मकता है और चित्रात्मकता के साथ लेखक की आत्मीयता भी प्रकट हुई है। मानवीकरण तो है ही। दूसरे में शास्त्र-चर्चा है अतएव भाषा सपाट है किंतु बुद्धिमूलक है। बुद्धि के द्वारा विषय के अर्थ को सुस्पष्ट करते समय वे सस्कृत, हिंदी और देशी-विदेशी विद्वानों के, गद्य और पद्य के मिले जुले उद्धरण भी प्रस्तुत करते हैं जिसके द्वारा विषय की प्रमाणिकता की पुष्टि तो होती ही है पर साथ ही भाषा भी समर्थ और बहुआयामी बन जाती है।

ठीक इसके विपरीत जब द्विवेदीजी विषय को आत्मीय दृष्टि प्रदान करते हैं तब भाषा में प्रवाह, लालित्य तथा काव्यात्मकता का सन्निवेश हो जाता है। एक उद्धरण **कुटज** से प्रस्तुत है - 'बहरहाल यह कूटज - **कुटज** है, मनोहर कुसुम-स्तबकों से झबराया, उल्लास लोल चारुस्मित **कुटज**। कालिदास ने 'आषाढ़स्य प्रथम दिवसे' रामगिरि पर यक्ष को जब मेघ की अभ्यर्थना के लिए नियोजित किया तो कम्बख्त को ताजे **कुटज** पुष्पों की अंजलि देकर ही संतोष करना पड़ा - चम्पक नहीं, बकुल नहीं, नीलोत्पल नहीं, अरविन्द नहीं - फकत **कुटज** के फूल।' इस उद्धरण को सामने रखकर हम ललित निबंध की भाषा के प्रतिमान स्थिर कर सकते हैं। इस भाषा में कालिदास के मेघदूत के उल्लेख से भाषा के माध्यम से कितने ही बिम्ब बन जाते हैं। ये बिम्ब चाक्षुष या दृश्य बिम्ब भी हैं और मानस बिम्ब भी। बिम्बों की यह श्रृंखला केवल दृश्यात्मक ही नहीं है अपितु एक पुलक भी देती है। यह सर्जनात्मक भाषा का ऐसा रूप है, जिसमें लेखक की बुद्धि भी रमी हुई है, जो अंततः भावात्मकता और आत्मीयता मे घुलमिल जाती है।

इस निबंध की भाषा का एक उदाहरण और देखिए : 'कुटज क्या केवल जी रहा है। वह दूसरे के द्वार पर भीख माँगने नहीं जाता, कोई निकट आ गया तो भय के मारे अधमरा नहीं हो जाता, नीति ओर धर्म का उपदेश नहीं देता फिरता, अपनी उन्नति के लिए अफसरों का जूता नहीं चाटता फिरता, दूसरों को अवमानित करने क लिए ग्रहों की खुशामद नहीं करता। आत्मोन्नति हेतु नीलम नहीं धारण करता, अंगूठियों की लड़ी नहीं पहनता, दाँत नहीं निपोरता, बगलें नहीं झाँकता। जीता है और शान से जीता है - काहे वास्ते, किस उद्देश्य से?'

इस उद्धरण में मुहावरों की झड़ी लगी हुई है। भाषा के पीछे से व्यंग भी जगह-जगह झाँकता हुआ प्रतीत होता है। एक वातावरण की सृष्टि भी भाषा ने की है जिसमें रस बहुमूल तथ्य का निर्देश भी है कि आज का युग स्वार्थ युग है जिसमें खुशामद, चाटुकारिता, अन्ध विश्वास, दीनता आदि ही सब कुछ हो गए हैं। पर शान से वही जी सकता है जो इन सबको धता बताकर निर्भय भाव से जीवित रहे। इस भाषा में लक्षणा और व्यंजना ने भाषा को गरिमा और शक्ति प्रदान की है। कितने ही बिम्ब अनायास ही पाठक के सामने तैरने लगते हैं। कोई भी निबंध विचार शून्य नहीं होता। द्विवेदीजी के निबंध की भाषा समर्थ भाषा है। उसमें अभिधा, लक्षणा और व्यंजना का पूरा पूरा प्रयोग है। इस भाषा में विचार और संवेदना दोनों को वहन करने की शक्ति है। इस भाषा में प्रवाह है, बिम्बात्मकता है, सहजता है और सरलता है, जटिलता नहीं। इसमें आख्यान भी है और व्याख्यान भी। यह भाषा विवेक को जाग्रत करने वाली भाषा है। भाषा का सौन्दर्य और लालित्य यहाँ गतिमान रूप में अपनी निरंतरता बनाए हुए है। ललित निबंध के लिए यह मानक भाषा है। द्विवेदीजी की निबंध भाषा जड़ भाषा नहीं है, अतिशय भावुकता से सनी चिपचिपाती-भिनभिनाती भाषा भी नहीं है, यह तो एक चिंतक के हृदय की भाषा है। इस भाषा के द्वार सभी भाषाओं के लिए खुले हुए है। यहाँ संस्कृत है, उर्दू है, लोकभाषा है, हिंदी है, श्लोक है, और दोहे भी है। 'द्वंद्वातीत' के साथ 'अलमस्त' शब्द रखा हुआ है। बेहया, मस्तमौला, गलत बयानी, बेरूखी, बेकद्रदानी कितने ही उर्दू के शब्द यहाँ प्रयुक्त हुए हैं। बिरछ, काहे, जैसे लोकभाषा के शब्द के प्रयोग तो द्विवेदी की भाषा में है ही अंग्रेज़ी का तो पूरा का पूरा वाक्य ही नागरी लिपि में रख दिया गया है। 'ह्वाट्स देयर इन ए नेम'। संस्कृत के शब्दों की तो लड़ी की लड़ी इस निबंध में प्रयुक्त हुई है। यथा - सुस्मिता, गिरिकांता, शुभ्रकिरीटिनी, मदोद्धता, विजितातपा, अलकावतंसा आदि-आदि। द्विवेदीजी की भाषा समृद्ध भाषा है। विषय के अनुरूप भाषा है। उसमें बिंबधर्मिता है, अर्थ गौरव है, व्यंजकता है और व्यापकता है। ललित निबंध की बहुआयामी सर्जनात्मक भाषा का एक आदर्श रूप उन्होंने हिदीं जगत में प्रतिष्ठित किया है।

हजारी प्रसाद द्विवेदी ने निबंधों की पाँच श्रेणियों का उल्लेख किया है। वार्तालाप मूलक, व्याख्यान मूलक, अनियंत्रित गप्प मूलक, स्वगत चिंतन मूलक और कलह मूलक। द्विवेदी जी इन श्रेणियों को सूक्ष्म या साहित्यिक नहीं मानते हैं। मेरे विचार से ये ही निबंध की वे शैलियाँ है जो द्विवेदीजी के निबंधों का रचाव करती है।

कुटज से तो द्विवेदी जी आत्मीय भाव के साथ भिन्नता का संबंध स्थापित कर लेते हैं और उससे बातचीत करते हुए प्रतीत होते हैं। देखिए - 'पहचानता हूँ उजाड़ के साथी, तुम्हें अच्छी तरह पहचानता हूँ।' अथवा इस निबंध के अंत में वे कहते हैं - 'मनस्वी मित्र, तुम धन्य हो।' इस वार्तालाप शैली की वजह से वे **कुटज** का मानवीकरण करते हैं। वार्तालाप की सहजता और अपनापन **कुटज** निबंध की एक शैली है। द्विवेदीजी के इस निबंध में कई शैलियों का प्रयोग किया गया है।

इस निबंध की व्याख्यान शैली में सरल भाषा, व्याख्यात्मकता तथा प्रवाह का विशेष स्थान है। एक उदाहरण देखिए : 'जो समझता है कि वह दूसरों का उपकार कर रहा है वह अबोध है, जो समझता है कि दूसरे उसका अपकार कर रहे हैं, वह बुद्धिहीन है। कौन किसका अपकार कर रहा है? मनुष्य जी रहा है, केवल जी रहा है, अपनी इच्छा से नहीं, इतिहास विधाता की योजना के अनुसार। किसी को उससे सुख मिल जाए बहुत अच्छी बात है, नहीं मिल सका,

कोई बात नहीं, परंतु उसे अभिमान नहीं होना चाहिए। सुख पहुँचाने का अभिमान यदि गलत है, तो दुख पहुँचाने का अभिमान तो नितांत गलत है।' इस उद्धरण में व्याख्यान शैली के सभी गुण विद्यमान हैं। इस उद्धरण में सहजता के साथ आकर्षित करने वाली भाषा है जिसमें निजता भी है। इसमें चिंतन भी है जो विचार करने की प्रेरणा देता है।

कुटज निबंध में गप्प मूलकता भी है। यह कथा कहने की शैली है। गप्प का अर्थ 'झूठ' नहीं है। गप्प में एक कथा जैसी होती है अथवा एक बात भी होती है। गप्प मारना, कृत्रिम शैली में वार्तालाप करना है। सहजता और स्वाभाविकता के साथ सत्यता की झंकृति इस शैली की विशेषता है। इस निबंध में गप्प शैली का प्रयोग न्यूनाधिक मात्रा में किया गया है। ललित निबंध में यह शैली आत्माभिव्यक्ति के साथ सहजता प्रदान करती है। उदाहरण के लिए प्रस्तुत है **कुटज** का एक अंश :'याज्ञवल्क्य बहुत बड़े ब्रह्मवादी ऋषि थे। उन्होंने अपनी पत्नी को विचित्र भाव से समझाने की कोशिश की कि सब कुछ स्वार्थ के लिए है। पुत्र के लिए पुत्र प्रिय नहीं होता, पत्नी के लिए पत्नी प्रिय नहीं होती - सब अपने मतलब के लिए प्रिय होते हैं - आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति!' विचित्र नहीं है यह तर्क? संसार में जहाँ कहीं प्रेम है सब मतलब के लिए है।'

स्वगत चिंतन शैली इस निबंध में विशेष रूप से काम में लाई गई है। यह चिंतन **कुटज** के रूप, नाम और कृतित्व के प्रकाशन के साथ-साथ सामाजिक चेतना को उद्‌बुद्ध करने के लिए प्रयुक्त की गई है।

वैसे शैली अंग्रेज़ी के 'स्टाइल' शब्द का अनुवाद है। प्राचीन साहित्यशास्त्र में शैली से मिलता जुलता शब्द 'रीति' है। आचार्य वामन इसे विशिष्ट पदरचना कहते हैं। शैली को गुण मानते हुए उसकी परिभाषा इस प्रकार की जा सकती है। 'शैली अनुभूत विषयवस्तु को सजाने के उन तरीकों का नाम है जो विषयवस्तु की अभिव्यक्ति को सुंदर एवं प्रभावपूर्ण बनाती है। यदि इस परिभाषा को ग्रहण करें तो एक बात स्पष्ट है कि प्रमुखता विषय-वस्तु की है। शैली प्रस्तुतीकरण में सहायक होती है। अब प्रश्न यह है कि क्या किसी भी विषय-वस्तु की निर्धारित शैली हो सकती है। शैली का निर्धारण तो लेखक ही करता है। अतः कई प्रकार की शैलियों का प्रयोग लेखक विषय की अभिव्यक्ति के लिए अपनी रुचि के अनुसार करता है। इस प्रकार की शैलियों के कई प्रकार हो सकते हैं, जैसे विवरणात्मक, व्याख्यात्मक, समीक्षात्मक, गवेषणात्मक और भावात्मक आदि। शैलियों पर व्यास और समास शैली के रूप में भी विचार किया जाता है। समास अर्थात् सूत्रबद्धता ओर व्यास अर्थात् व्याख्यात्मकता। **कुटज** निबंध में विषय के अनुरूप, विवरणात्मक, व्याख्यात्मक, भावात्मक और गवेषणात्मक शैलियाँ व्यवहृत हुई हैं।

लालित्य या ललित भाव, ललित निबंध के लिए आवश्यक है। इसे हम भावात्मक शैली कह सकते हैं। कोई भी निबंध विचार से शून्य नहीं होता। विचार से शून्य होने पर तो ऐसा निबंध प्रलाप मात्र होकर रह जाएगा। **कुटज** विचारों की श्रृंखला भी है और भावाभिव्यंजना भी। हजारी प्रसाद द्विवेदी की शैली में इन दोनों का अभूतपूर्व सामंजस्य है।

3.6 सारांश

आपने हजारी प्रसाद द्विवेदी के निबंध **कुटज** के बारे में लिखी गई इस इकाई का अध्ययन कर लिया है। आपके सामने यह स्पष्ट हो गया होगा कि द्विवेदीजी के निबंधों की क्या विशेषता है और उसमें **कुटज** का क्या महत्व है।

कुटज ललित निबंध है। ललित निबंध यानी ऐसा निबंध जिसमें भाव और विचार के सामंजस्य और भाषा-शैली के लालित्य के द्वारा लेखक अपनी बात आत्मीय ढंग से कहता है। **कुटज** में द्विवेदीजी इसी ढंग से अपनी बात कहते हैं।

कुटज के बहाने से वे मानव-प्रकृति और मानव धर्म के ऐसे पहलुओं पर प्रकाश डालते हैं जिनका मानव-सभ्यता और संस्कृति के विकास में केंद्रीय महत्व है। द्विवेदीजी मानवतावादी लेखक थे। वे जीवन में संघर्ष और प्रेम दोनों को समान महत्व देते थे। उनकी दृष्टि में यदि हमारा स्वार्थ सभी का स्वार्थ न बने तो मानव जीवन की सार्थकता क्या। अपने इसी दृष्टिकोण को उन्होंने **कुटज** के माध्यम से व्यक्त किया है। **कुटज** एक अल्प परिचित प्रकृति का रूप, लेकिन जो किसी यश और अर्थ की कामना के बिना, किसी के आगे नतमस्तक हुए बिना अपने जीवन के लिए रस ग्रहण करता है और इस संघर्षधर्मी जीवन से जो सौंदर्य वह सृष्टि को प्रदान करता है, उसका महत्व क्या शब्दों में बयान किया जा सकता है। द्विवेदीजी ने इसी बात को इस निबंध के माध्यम से कहा है।

कुटज को पढ़ते हुए यह लग सकता है कि हम एक पहाड़ी पौधे के बारे में जानकारी हासिल कर रहे हैं। उनके इतिहास, उसका परिवेश, उसकी प्रकृति सबके बारे में। निश्चय ही ये सब बातें निबंध में है, लेकिन इन बातों को द्विवेदीजी ने इस ढंग से कहा है कि इनका अर्थ सिर्फ **कुटज** तक ही सीमित नहीं रहता। यह काव्य की समास शैली है जिसका प्रयोग वे निबंध के लिए भी करते हैं।

भाषा की दृष्टि से भी निबंध का प्रभाव अप्रतिम है। द्विवेदीजी के निबंध में न तो वैचारिक बोझिलता होती है, न भावात्मक ऊहापोह। वे ज्ञान को संवेदनात्मक रूप में और संवेदना को ज्ञानात्मक रूप में प्रस्तुत करते हैं। निबंध में उनके पांडित्य का भी प्रमाण मिलता है, लेकिन वह आतंकित नहीं करता बल्कि हमारे ज्ञान भंडार को समृद्ध करता है।

आशा है इस इकाई के अध्ययन से आपको **कुटज** को समझने में मदद मिली होगी।

अभ्यास

1. ललित निबंध की दृष्टि से **कुटज** की विशेषताओं का विवेचन कीजिए।
2. **कुटज** के माध्यम से लेखक क्या कहना चाहता है? सोदाहरण उल्लेख कीजिए।
3. **कुटज** पर लेखकीय व्यक्तित्व के प्रभाव की समीक्षा कीजिए।

इकाई 18 निबंध : संस्कृति और जातीयता

इकाई की रूपरेखा

4.0 उद्देश्य
4.1 प्रस्तावना
4.2 **संस्कृति और जातीयता** की अंतर्वस्तु
4.3 हिंदी जाति की अवधारणा
4.4 **संस्कृति और जातीयता** का मूल्यांकन
4.5 लेखकीय व्यक्तित्व का प्रभाव
4.6 निबंध की भाषा-शैली
4.7 सारांश

4.0 उद्देश्य

एम.ए. हिंदी के चौथे पाठ्यक्रम 'नाटक और अन्य गद्य विधाएँ' के इस चौथे खंड में आप हिंदी निबंधों का अध्ययन कर रहे हैं। इस इकाई में आप हिंदी के मूर्धन्य आलोचक डॉ. रामविलास शर्मा के निबंध **संस्कृति और जातीयता** के बारे में अध्ययन करेंगे। डॉ. रामविलास शर्मा के इस निबंध पर विचार करने से पहले उनके व्यक्तित्व के ऐसे पहलुओं का परिचय दिया गया है जिससे उनके निबंध को समझने में मदद मिलेगी।

संस्कृति और जातीयता दोनों ही महत्वपूर्ण धारणाएँ हैं जिनके बारे में रामविलासजी ने इस निबंध की रचना के बाद भी लगातार लिखा है। संस्कृति और जातीयता की अवधारणाओं से उनका क्या तात्पर्य है और उनका परस्पर क्या संबंध है, इकाई में उक्त निबंध के संदर्भ में इस पर विचार किया है।

जातीयता से तात्पर्य यहाँ जातिप्रथा से नहीं बल्कि राष्ट्रीयता से है। इस संबंध में रामविलासजी ने हिंदी जातीयता की अवधारणा को भी सामने रखा है। इस पर हिंदी संसार में लंबे समय से बहस हो रही है। इकाई में इस पर भी विचार किया गया है।

डॉ. रामविलास शर्मा की हिंदी जगत में पहचान एक आलोचक और चिंतक की है। यद्यपि वे बड़े कवि भी थे। इस निबंध में उनका चिंतक रूप ही हमें देखने को मिलता है। इस दृष्टि से यह निबंध विचार प्रधान है। लेकिन निबंध की भाषा और शैली पर इस विचार प्रधानता का क्या असर हुआ है और इस दृष्टि से उनके निबंध की क्या विशेषताएँ हैं इस पर भी इकाई में विचार किया गया है।

डॉ. रामविलास शर्मा के उक्त निबंध की अंतर्वस्तु और भाषा-शैली की विशेषताओं को समझने के बाद हम इस बात को आसानी से समझ सकते हैं कि उनके निबंध लेखन का महत्व क्या है और वह किस रूप में हिंदी निबंध परंपरा को समृद्ध करते हैं। इकाई में इस पर भी विचार किया गया है।

4.1 प्रस्तावना

संस्कृति और जातीयता हिंदी के प्रसिद्ध आलोचक डॉ. रामविलास शर्मा का वैचारिक निबंध है। यह इस पाठ्यक्रम की अठाहरवीं इकाई है। इससे पहले आप प्रतापनारायण मिश्र, रामचंद्र शुक्ल और हजारी प्रसाद द्विवेदी के निबंधों का अध्ययन कर चुके हैं। इस इकाई में आप रामविलास शर्मा के **संस्कृति और जातीयता** निबंध के बारे में अध्ययन करेंगे। इस निबंध से आप को

जातीयता और संस्कृति की परिकल्पना को समझने में सहायता तो मिलेगी ही, साथ ही इकाई में निबंध की अंतर्वस्तु लेखकीय व्यक्तित्व का प्रभाव और निबंध की भाषा और शैली की विशेषताओं पर भी विचार किया गया है। इकाई के अध्ययन से आप को रामविलास शर्मा के निबंधों की विशेषताओं को समझने में भी सहायता मिलेगी।

रामविलास शर्मा का संबंध साहित्य के प्रगतिशील आंदोलन से रहा है। प्रगतिशील आंदोलन की शुरुआत तीस के दशक में हुई थी। लगभग उसी समय रामविलासजी ने लिखना आरंभ किया था। भारतेंदु युग से गद्य का आरंभ हुआ था, यह हम आपको बता चुके हैं। आप प्रतापनारायण मिश्र के निबंध **धोखा** के अध्ययन से जान चुके हैं कि भारतेंदु युग में निबंध लेखन की विशेषताएँ क्या-क्या थीं। भारतेंदु युग से जिस यात्रा की शुरुआत हुई थी, उसको रचनात्मक उत्कर्षता तक पहुँचाने में रामचंद्र शुक्ल और हजारी प्रसाद द्विवेदी का महत्वपूर्ण योगदान है। इन दोनों निबंधकारों के निबंधों का अध्ययन भी आप कर चुके हैं। रामचंद्र शुक्ल के निबंधों को विचारप्रधान निबंधों की श्रेणी में रखा जाता है जबकि हजारी प्रसाद द्विवेदी के निबंधों को ललित निबंधों की श्रेणी में। रामविलास शर्मा के निबंध विचार प्रधान निबंधों की श्रेणी में ही माने जाते हैं। इस निबंध को पढ़ने से आप स्वयं अनुभव करेंगे कि **संस्कृति और जातीयता** एक विचार प्रधान निबंध है। इस दृष्टि से निबंध की विशेषताओं पर भी इकाई में विचार किया जाएगा।

रामविलास शर्मा ने इस निबंध में संस्कृति और जातीयता की संकल्पना पर विचार किया है। संस्कृति और जातीयता से क्या तात्पर्य है? इन दोनों का परस्पर क्या संबंध है? हमारे देश के संदर्भ में संस्कृति और जातीयता का विकास किस रूप में हुआ है? आधुनिक और स्वतंत्र भारत में सांस्कृतिक विविधता और जातीय एकता के लिए क्या किया जाना ज़रूरी है? हिंदी भाषी प्रांतों में सांस्कृतिक और जातीय एकता का स्वरूप क्या होना चाहिए? ये कुछ सवाल है, जिन पर रामविलासजी ने अपने इस निबंध में विचार किया है। हम इन सभी पहलुओं का विवेचन कर यह समझने का प्रयास करेंगे कि रामविलासजी के मत की प्रासंगिकता क्या है? अपने विचारों को प्रस्तुत करने में भाषा और शैली दोनों दृष्टियों से उन्हें किस सीमा तक सफलता मिली है। इस निबंध पर रामविलासजी के लेखकीय व्यक्तित्व के प्रभाव पर भी निबंध में विचार किया जाएगा।

इस निबंध से संबंधित इकाई का अध्ययन करने से पूर्व हम आपसे यह अपेक्षा करते हैं कि आपने डॉ. रामविलास शर्मा का उक्त निबंध पढ़ लिया है। इससे आपको इकाई को समझने में मदद मिलेगी। हमने इस पाठ्यक्रम से संबंधित पाठ्यक्रम निर्देशिका में डॉ. रामविलास शर्मा के लेखकीय व्यक्तित्व का परिचय भी दिया है। उम्मीद है आपने उसका भी अध्ययन कर लिया होगा।

4.2 'संस्कृति और जातीयता' की अंतर्वस्तु

संस्कृति और जातीयता डॉ. रामविलास शर्मा का काफी महत्वपूर्ण निबंध है। जातीयता विषय पर लेखन के प्रति वे शुरू से ही आकृष्ट रहे हैं। बाद में उन्होंने हिंदी जातीयता की अवधारणा को प्रस्तुत किया और उस पर लगातार लेखन किया। नवें दशक में उन्होंने 'हिंदी जाति का साहित्य' नाम की पुस्तक भी लिखी। अपने जीवन के अंतिम दौर तक वे इस विषय पर लिखते रहे हैं और इस अवधारणा पर दूसरे लेखकों और विद्वानों के विचारों की समीक्षा भी प्रस्तुत करते रहे हैं। हिंदी जातीयता की अवधारणा आज हिंदी साहित्य जगत की एक सर्वमान्य अवधारणा हो गई है। यद्यपि इसकी परिभाषा और व्याख्या को लेकर काफी मतभेद है। लेकिन यह श्रेय रामविलासजी को ही जाता है कि उन्होंने हिंदी जातीयता और हिंदी जाति का साहित्य को साहित्य आलोचना के केंद्र में स्थापित कर दिया। जातीयता संबंधी उनकी अवधारणा को समझने के संदर्भ में प्रस्तुत निबंध आधार का काम करता है।

यह एक विचार प्रधान निबंध है। इसमें लेखक ने संस्कृति और जातीयता के पारस्परिक संबंध पर भी ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में विचार किया है। इस निबंध में व्यक्त विचारों को ही बाद में रामविलासजी ने विस्तार से प्रस्तुत किया है। हम इसी इकाई में उनके बाद के लेखन के परिप्रेक्ष्य में इस विषय पर और गहनता से विचार करेंगे। पहले हम इस निबंध की अंतर्वस्तु पर विचार करेंगे।

संस्कृति की परिभाषा

इस निबंध की शुरुआत लेखक ने संस्कृति को परिभाषित करते हुए की है। वे लिखते हैं 'संस्कृति एक व्यापक शब्द है। उसके अंतर्गत मनुष्य का आचरण, उसका भावजगत, विचारधारा, साहित्य, कला, विज्ञान - ये सभी आ जाते हैं।' इस छोटी सी परिभाषा पर विचार करें तो हम पाते हैं कि इसमें मनुष्य की गतिविधियों के सभी क्षेत्र समाविष्ट हो जाते हैं। मनुष्य का सोचना-विचारना, महसूस करना और उसकी क्रियाशीलता का विस्तृत संसार संस्कृति के क्षेत्र में आता है। न सिर्फ़ आज का बल्कि मानव सभ्यता के इतिहास में उसने जो कुछ अर्जित किया है, जिससे मनुष्य और अधिक मनुष्य बनता है, वह सब संस्कृति के अंतर्गत समाविष्ट होता है। रामविलासजी की इस परिभाषा से स्पष्ट है कि संस्कृति कोई ऐसी वस्तु नहीं है जिसे जीवन और जीवन से जुड़ी गतिविधियों से काटकर देखा जा सकता है। वह तो मनुष्य जीवन के प्रत्येक क्रियाकलाप में समाहित है। मनुष्य का पहनना-ओढ़ना, खाना-पीना, रचना-सोचना, बोलना, लिखना, कौन-सा ऐसा कार्य है जिसमें संस्कृति अभिव्यक्त नही होती या जिससे संस्कृति का निर्माण नहीं होता। यही कारण है कि रामविलासजी इस निबंध में आगे कहते हैं कि 'अपने सुदीर्घ जीवन में मनुष्य ने ऐसी सांस्कृतिक निधि अर्जित की है जो मानव-मात्र की संपत्ति है।' इस मानव संस्कृति के वे तीन उदारहण भी प्रस्तुत करते हैं : एक, बच्चों से प्यार, दूसरा, नारी जाति का सम्मान, और तीसरा मनुष्य-मात्र की समानता का भाव। मानव संस्कृति के ऐसे कई अन्य उदाहरण भी प्रस्तुत किए जा सकते हैं। कह सकते हैं कि संपूर्ण मानव जाति की एक समान संस्कृति होती है। लेकिन उनका मानना है कि अलग-अलग देशों और वर्गों की अलग-अलग संस्कृति भी होती है। स्वयं उनके शब्दों में, 'देशों और महाद्वीपों के साथ वर्गों की अपनी संस्कृति भी होती है।'

सामंतवाद और वर्णव्यवस्था

रामविलासजी के इस कथन से साफ ज़ाहिर है कि उनके विचार में यदि एक मानव संस्कृति होती है तो एक राष्ट्रीय संस्कृति भी होती है। लेकिन एक राष्ट्र या समाज में सभी की संस्कृति एक-सी नहीं हाती। यहाँ वे इस बात पर बल देते हैं कि एक ही समाज में अलग-अलग संस्कृति होती है। यही कारण है कि उन्होंने निबंध में लिखा है कि मानव-संस्कृति मानव-जीवन से भिन्न नहीं है। चूँकि मानव जीवन निरंतर परिवर्तनशील है और यह परिवर्तन सभी समाजों में एक-सा घटित नहीं होता इसलिए सांस्कृतिक परिवर्तन भी अलग-अलग रूपों में अभिव्यक्त होते हैं। संस्कृति की परिवर्तनशीलता के प्रति ऐतिहासिक दृष्टिकोण अपनाते हुए वे कहते हैं कि सामंतवाद की अपनी कुछ सामान्य विशेषताएँ हैं जो सभी देशों के सामंतवर्ग में देखी जा सकती है। स्वयं उन्हीं के शब्दों में, 'विलासप्रियता, निष्क्रियता, अलंकार प्रेम, साहित्य में चमत्कारवाद - हर देश में सामंतवाद की अपनी सांस्कृतिक विशेषताएँ रही हैं।' यदि हम विचार करें तो पाएँगे कि रीतिकालीन काव्य में हमें यही सब विशेषताएँ देखने को मिलती है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि रीतिवाद साहित्य में सामंतवादी संस्कृति की काव्यात्मक अभिव्यक्ति था। यह उस दौर के प्रभु वर्ग की सांस्कृतिक ज़रूरतों को पूरा करने वाला साहित्य था।

लेकिन भारतीय सामंतवादी सामाजिक व्यवस्था की यही अकेली सांस्कृतिक पहचान नहीं थी। वर्ण व्यवस्था इसकी एक ओर पहचान है। यद्यपि वे इसे पूरी तरह से भारतीय सामंतवाद से ही नहीं जोड़ते और पश्चिम के सामंतवादी समाज व्यवस्था में भी उन्हें वर्ण व्यवस्था दिखाई देती है। वे लिखते हैं, 'हम लोग समझते हैं कि वर्ण व्यवस्था हमारे देश की विशेषता है। वास्तव में हर देश का सामंती समाज मोटे तौर से चार वर्णों जैसे वर्गों में बंटा हुआ मिलता है। मिसाल के लिए चौसर के समय और उसके पहले का इंग्लैंड पुरोहितों (क्लर्जी), भूमि के स्वामियों

(नाइट), सौदागरों (मर्चेंट) और ज़मीन जोतने वाले किसानों (सर्फ) में बंटा हुआ था। सामंतवाद के खत्म होने या कमजोर होने के बाद भी उससे जुड़ी सामाजिक व्यवस्था इतनी आसानी से नहीं टूटती। क्योंकि वे उसे शाश्वत और ईश्वर प्रदत्त मान लेते है।। रामविलासजी अपनी बात को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि जो लोग भारत में वर्णव्यवस्था को ईश्वरकृत मानते हैं, उन्हें पता होना चाहिए कि यह व्यवस्था सामंतवाद की उपज है। और किसी न किसी रूप में यह सभी समांती समाजों में विद्यमान रही है। लेकिन जहाँ-जहाँ सामंती समाज टूटे हैं वहाँ-वहाँ वर्ण व्यवस्था भी टूटी है। सामंती समाज से पहले के आदिम समाजों में वर्ण व्यवस्था नहीं मिलती। इसी प्रकार पूंजीवाद के विकास ने सामंती समाज के सामाजिक ढाँचों को तोड़ा और एक नये तरह का समाज बनाने का प्रयास किया। भारत जैसे देशों में जहाँ पूंजीवादी विकास के साथ वर्ण व्यवस्था भी टूट रही है, प्राचीनता प्रेमी और रूढ़िवादी इस टूट को कलयुग का अनाचार कहते हैं। यह सब भारत में जातियों (नैशनलिटी) के संगठन और दृढ़ होने का नतीजा है। इसका अर्थ यह भी नहीं है कि वर्ग समाजों की सांस्कृतिक विशेषताओं को समाज के सभी हिस्से समान रूप से स्वीकार करते हैं। वर्ण व्यवस्था के उदाहरण से ज़ाहिर है कि इसका आरंभ से ही विरोध होता रहा। भक्ति आंदोलन का वे इसी दृष्टि से मूल्यांकन करते हैं। वे लिखते हैं, 'हिंदी, बंगला, मराठी, पंजाबी, काश्मीरी आदि भाषाओं में भक्ति आंदोलन मनुष्य मात्र की समानता घोषित करने वाला एक व्यापक और शक्तिशाली आंदोलन था। यह आंदोलन वर्णों और मतमतांतरों में बंटे हुए सामंती समाज की व्यवस्था के विरुद्ध था, और इस व्यवस्था के कमज़ोर होने से वह उत्पन्न हुआ था। गरीब किसानों, कारीगरों, सौदागरों आदि की सक्रिय सहानुभूति से उसका प्रसार हुआ था।'

4.3 हिंदी जाति की अवधारणा

रामविलासजी का मानना है कि सामंती व्यवस्था के पतन के साथ भारत की आधुनिक भाषाओं का उत्थान जुड़ा हुआ है। भारत में पहले संस्कृत भाषा का वर्चस्व था जो वर्णव्यवस्था के अनुरूप उच्च वर्णों और धर्म की भाषा मानी जाती थी। मुग़लों के समय में फारसी राजभाषा थी। इस प्रकार ये दोनों भाषाएँ जनता की अपनी भाषाएं नहीं थीं। सामंतवाद के टूटने ने यह संभव बनाया कि वे भाषाएँ जिन्हें आम जनता व्यवहार में लाती थी, उन्हें विकसित होने का मौका मिला। रामविलासजी का दृढ़ मत है कि 'जनता की शिक्षा और सांस्कृतिक विकास उसकी भाषाओं में ही संभव है। इसलिए जो लोग अंग्रेज़ी या संस्कृत के द्वारा भारत की एकता बनाये रखना चाहते हैं, वे एकता के दृढ़ आधार को नहीं समझते, वे जनता की शक्ति नहीं पहचानते।' हिंदी क्षेत्र में भक्ति आंदोलन ने इस क्षेत्र की दो प्रमुख भाषाओं ब्रज और अवधी को विकसित होने का अवसर प्रदान किया। इस दौर में ये दोनों भाषाएँ न सिर्फ साहित्यिक भाषाओं के रूप में विकसित हुई बल्कि एक दूसरे के नज़दीक भी आई। इन भाषाओं में लिखा गया साहित्य सिर्फ अपने क्षेत्र में ही लोकप्रिय नहीं हुआ बल्कि अपने क्षेत्र से बाहर भी लोकप्रिय हुआ। लेकिन उन्नीसवीं सदी में जब पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन आरंभ हुआ तो ब्रज और अवधी नहीं बल्कि खड़ी बोली को अपनाया गया। इसका कारण क्या था। क्यों ऐसा हुआ कि लगभग दो सदियों से साहित्य के क्षेत्र में वर्चस्व बनाए रखने वाली ब्रज की बजाए खड़ी बोली को अपनाया गया? इस पर प्रकाश डालते हुए रामविलासजी कहते हैं कि खड़ी बोली पश्चिम से पूर्व की तरफ आने वाले व्यापारियों के साथ हिंदी क्षेत्र में प्रसारित हुई। इस व्यापार का क्षेत्र जैसे-जैसे विकसित होता गया वैसे-वैसे खड़ी बोली हिंदी का भी फैलाव होता गया। चूँकि यह विस्तार अंग्रेजी साम्राज्य के अधीन हो रहा था, इसलिए यह आधे-अधूरे ढंग से हुआ। हिंदी के विकास का संबंध जातीयता के विकास के साथ इसी रूप में है।

लेकिन हिंदी जातीयता के विकास के साथ उर्दू का संबंध भी गहरे रूप में जुड़ा है। हिंदी जिस क्षेत्र में प्रसारित हुई उस क्षेत्र में सैकड़ों सालों तक फारसी राजभाषा को पद पर कायम रही थी। रामविलासजी के अनुसार इसका नतीज़ा यह हुआ कि उच्च वर्गों में फारसी शिक्षा का माध्यम बनी हुई थी। यही वजह है कि इस क्षेत्र में खड़ी बोली का एक रूप और विकसित हुआ जिसे उर्दू के नाम से जाना जाता है। अंग्रेज़ों ने हिंदू और मुसलमानों में फूट पैदा करने के

लिए हिंदी और उर्दू के बीच विवाद को हवा दी। उन्होंने अरबी-फारसी प्रधान उर्दू को कचहरी और पुलिस के बल पर थोपने की कोशिश की और इस तरह वह जातीय उत्पीड़न का अंग बनी।

रामविलासजी ने इस बात पर विचार किया है कि कई लोग हिंदी क्षेत्र में बोली जाने वाली बोलियों को जातियों का दर्ज़ा देकर हिंदी जातीयता में अलगाव का नारा दे रहे हैं। इस तरह वे हिंदी जातीयता की बजाय ब्रज जातीयता, अवधी जातीयता, भोजपुरी जातीयता आदि की बात कर रहे हैं। यह अलगाव की भावना इस हद तक है कि हिंदी क्षेत्र को तेरह खंडों में बाँटने का प्रस्ताव किया जा रहा है। रामविलासजी का मानना है कि इससे हिंदी जातीयता का विकास होने में कठिनाई हो रही है। इसी तरह की बाधा का कारण वर्ण और जाति का प्रभाव भी है हिंदी प्रांत के लोग अपने को ब्राह्मण, कायस्थ, गुजर आदि पहले समझते हैं और हिंदी जाति का बाद में समझते हैं।

जातीय चेतना और राज्यों का पुनर्गठन

जातीयता की चेतना रामविलासजी के अनुसार सामंतविरोधी चेतना है। जैसे-जैसे जातीयता का विकास हुआ, वैसे-वैसे विभिन्न जातीयताओं ने जातीय आधार पर राज्यों के निर्माण की माँग सामने रखी। अंग्रेज़ी साम्राज्य ने इस मांग को कभी स्वीकार नहीं किया। आज़ादी हासिल होने के बाद राज्यों के पुनर्गठन की माँग और ज़ोरों से उठी। इस माँग के समर्थन में उठे आंदोलन के कारण तत्कालीन कांग्रेस सरकार को राज्यों के पुनर्गठन की मांग माननी पड़ी। इसके लिए एक समिति बनाई गई। मुख्य भाषाओं के आधार पर राज्यों का पुनर्गठन हुआ। रामविलासजी के अनुसार मुख्य भाषाओं के हिसाब से प्रांतों का नया संगठन करने की मांग उचित थी। इस मांग के पूरा होने से भारत की प्रमुख जातियों का ऐतिहासिक विकास क्रम आगे बढ़ता था मुख्य भाषाओं के आधार पर राज्यों के निर्माण से जातीय चेतना के विकास को एक ठोस आधार मिला। रामविलासजी इस बात पर संतोष व्यक्त करते हैं कि राज्य पुनर्गठन समिति ने हिंदी राज्यों की बोलियों को इन क्षेत्रों की मुख्य भाषा स्वीकार नहीं किया। उन्होंने हिंदी को ही इन प्रांतों की जातीय भाषा स्वीकार किया।

भाषा और बोलियों को एक समझना रामविलासजी के अनुसार ठीक नहीं है। उनका साफ़ तौर पर मानना है कि किसी भी देश में जातीय भाषा के विकास के साथ बोलियाँ खत्म नहीं हो जातीं। किसी प्रांत की प्रमुख भाषा ही उसकी जातीय भाषा होती है, लेकिन उस प्रांत में अलग-अलग क्षेत्रों में उसी भाषा के कई रूप प्रयुक्त होते हैं। यही बात हिंदी प्रांतों पर भी लागू होती है। हिंदी भाषाई प्रांतों में प्रयुक्त होने वाली बोलियों का अस्तित्व यह प्रमाणित नहीं करता कि हिंदी उन प्रांतों की जातीय भाषा नहीं है। रामविलासजी के अनुसार यदि बोलियों के आधार पर हिंदी जाति को अलगाने का प्रयास किया जाएगा तो यह भारत की एक तिहाई जनता का अलगाव होगा। उनके अनुसार, 'हिंदी-भाषी जनता का संगठन और उसकी जातीय एकता सारे देश की जनता के संगठन और एकता के लिए आवश्यक है।'

रामविलासजी इस बात के समर्थक हैं कि हिंदी भाषी राज्यों को मिलाकर एक राज्य बनाना चाहिए। वे इस बात के कायल नहीं है कि छोटे राज्य होने से शासन चलाना सुविधाजनक होता है। उनका मानना है कि राज्य चलाने में सुविधा छोटे या बड़े राज्यों से नहीं बल्कि केंद्र और राज्यों के बीच अधिकारों के बंटवारे से है। इसी प्रकार वे इस बात के समर्थक नहीं हैं कि सभी भाषाओं के लिए अलग-अलग राज्यों की स्थापना होनी चाहिए। उनके विचार में, 'जिन भाषाओं को बोलने वाले बहुत बड़ी संख्या में नहीं है, उनके जातीय विकास के लिए मुख्य राज्यों के अंतगर्त स्वायत्त प्रदेश कायम किए जा सकते हैं।' इस प्रकार वे राज्यों के विकास को जातीय विकास से जोड़कर देखते हैं और यह मानते हैं कि 'हिंदी भाषी जनता का यह जन्मसिद्ध अधिकार है कि वह एक राज्य के अंतर्गत संगठित होकर अपना औद्योगिक और सांस्कृतिक विकास कर सके।'

भारतीय संस्कृति बनाम जातीय संस्कृति

भारत अनेक भाषाओं और अनेक जातियों का देश है। प्रत्येक जाति की अपनी संस्कृति है। रामविलासजी के अनुसार, 'इन सभी जातियों की संस्कृतियों के सामान्य तत्वों का, उनके समुच्चय का नाम भारतीय संस्कृति है। भारत की जातियों से भिन्न भारतीय संस्कृति की सत्ता कहीं नहीं है।' संस्कृति का विकास जातीयता के आधार पर होता है और सामाजिक संगठन के अंतर्गत होता हे। सामाजिक संगठन के बाहर संस्कृति का अस्तित्व नहीं होता। हिंदी भाषा के अस्तित्व से पहले हिंदी जाति का अस्तित्व नहीं था। जब हिंदी भाषा अस्तित्व में आई तो हिंदी जाति का गठन भी होने लगा। हिंदी जाति के गठन का काम अभी पूरा नहीं हुआ है इसलिए जातीय संस्कृति का विकास भी अभी जारी है। हिंदी जातीयता के निर्माण में कई बाधाएँ भी हैं। इनमें एक बाधा यह है कि अपने विशाल रूप के कारण दूसरों को तुच्छ समझने की भावना आ सकती है। दूसरे, इस क्षेत्र की बोलियों और उर्दू की समस्या है जो हिंदी जाति के विकास में बाधक बनकर उपस्थित होती है। इसके लिए ज़रूरी है कि हिंदी भाषी लोगों के बीच खासकर जनता के बीच व्यापक एकता का विकास किया जाए। यह तभी संभव है जब इस क्षेत्र की जनता अपने साझा हितों के लिए मिलजुलकर आंदोलन करे। आंदोलन पर आधारित जनता की एकता जातीय एकता का आधार बनेगी। जो लोग इस काम को नामुमकिन मानते हैं, वे न तो हिदीं जनता की साझी विरासत से परिचित हैं और न ही वे इसके विकास के समर्थक हैं। लेकिन हिंदी जाति आज एक सच्चाई है।

डॉ. रामविलास शर्मा जब जातीयता के बारे में विचार करते हैं तो उनके सामने सिर्फ हिंदी जातीयता का प्रश्न उपस्थित नहीं रहता वे सारे देश की सभी जातीयताओं के बीच एकता को भी ध्यान में रखते हैं। वे यदि भाषा के आधार पर राज्यों के निर्माण के पक्षधर हैं तो वे किसी एक भाषा को दूसरे भाषाई समुदायों पर थोपने के विरोधी हैं। वे इस बात में दृढ़ विश्वास करते हैं कि अंग्रेज़ी या फारसी या संस्कृत को थोपकर लोगों में एकता नहीं लाई जा सकती उसी तरह हिंदी को भी थोपना उतना ही अनुचित होगा। स्वयं उनके शब्दों में, 'जो लोग बंगाल या महाराष्ट्र में बंगला या मराठी के बदले हिंदी को शिक्षा का माध्यम बनाना चाहते हैं, वे भारत की आधुनिक भाषाओं के विकास का महत्व नहीं समझते, वे इन भाषाओं द्वारा जनता के शिक्षण और सांस्कृतिक विकास का मूल्य नहीं पहचानते।'

राष्ट्रीय और जातीय एकता के मार्ग में यदि वे सामंतवाद को बड़ी बाधा मानते हैं तो दूसरी बड़ी बाधा उनकी नज़र में साम्राज्यवाद है। उनका मानना है कि भारत में विभिन्न जातियों के संगठित होने में साम्राज्यवाद एक बड़ी बाधा था इसलिए जातीय गठन और विकास की कोशिशों का साम्राज्यवाद विरोधी मूल्य भी है। रामविलासजी ने सामंतवाद विरोधी संघर्ष के रूप में भक्ति आंदोलन की भूमिका को स्वीकार किया है और भक्ति आंदोलन के विकास में आधुनिक भारतीय भाषाओं के विकास की भूमिका को स्वीकार किया है उसी तरह भारतीय भाषाओं ने साम्राज्यवाद विरोधी आंदोलन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। इसलिए आज़ादी हासिल करने के बाद इन विकसित भाषाओं को संरक्षण देना और उनको आगे बढ़ने के समुचित अवसर मुहैया करवाना ज़रूरी था।

इस प्रकार रामविलासजी ने अपने इस निबंध में हिंदी जाति की अपनी अवधारणा के प्रायः सभी पहलुओं को समेट लिया है। रामविलासजी के हिंदी जाति और जातीय संस्कृति की अवधारणाओं के महत्व को स्वीकार करते हुए भी इस बात से इंकार नहीं किया जा संकता कि इनके बारे में स्वयं हिदीं भाषी समाज एकमत नहीं है। उनकी अवधारणाओं का आलोचनात्मक विवेचन हम आगे के खंडों में करेंगे। साथ ही एक विचारात्मक निबंध के रूप में भी उसकी विशेषताओं की समीक्षा इस इकाई में करने का प्रयास किया जाएगा।

4.4 'संस्कृति और जातीयता' का मूल्यांकन

डॉ. रामविलास शर्मा ने यह निबंध लगभग चार दशक पहले लिखा था। इसके बाद उन्होंने हिंदी जातीयता संबंधी अपने विचारों को और अधिक विस्तार दिया है। लेकिन इस संबंध में उनकी मूलभूत धारणाएँ वही हैं जो इस निबंध में व्यक्त हुई है। इस निबंध में व्यक्त उनकी धारणाओं की इस भाग में समीक्षा की गई है।

संस्कृति का सवाल

रामविलासजी ने संस्कृति शब्द पर विचार करते हुए लिखा है कि यह एक व्यापक शब्द है जिसमें मनुष्य का आचरण, उसका भावजगत, विचारधारा, साहित्य, कला, विज्ञान सभी का समावेश हो जाता हे। रामविलासजी का यह मत काफी हद तक सही है। यह भी सही है कि प्रत्येक जातीय समुदाय की अपनी लंबी सांस्कृतिक परंपरा होती है। उसी परंपरा से उसकी संस्कृति का खास स्वरूप बनता है। लेकिन यह निर्माण न एकाकी रूप में होता है, न ही एक आयामी रूप में। यह उस समुदाय के सामूहिक प्रयत्नों की अभिव्यक्ति है जो स्वयं निरंतर विकसित होती हुई संस्कृति को भी विकसित करती है। लेकिन ऐसा करते हुए वह दूसरे जातीय समुदायों के संपर्क में भी आती है और इस प्रक्रिया में उनसे रिश्ता बनाते हुए अपनी संस्कृति में उनके प्रभावों को ग्रहण भी करती है और उन समुदायों पर अपना प्रभाव भी छोड़ती है। संस्कृति निर्माण की प्रक्रिया सतत प्रवाहमान प्रक्रिया है जिसमें वह निरंतर कुछ पुराना छोड़ती और नया ग्रहण करती हुई चलती है।

संस्कृति के वैविध्यमय और बहुआयामी रूपों के विकास क्रम को हम उन ज्ञानानुशासनों, कलारूपों और अभिव्यक्ति माध्यमों से समझ सकते हैं जिनके अलग-अलग विकास और अध्ययन की लंबी परंपराएँ हैं। संगीत, चित्र, साहित्य, इतिहास, भाषा, वेशभूषा, खानपान, रीति-रिवाज, धार्मिक-सामाजिक-राजनीतिक संस्थाएँ, विचारधाराएँ आदि इसी सांस्कृतिक विकास के ही अलग-अलग अभिव्यक्ति रूप हैं।

जहाँ तक इस बात का सवाल है कि क्या प्रत्येक वर्ग की अपनी संस्कृति होती है, तो हमें इसको मार्क्सीय नज़रिये से समझना होगा क्योंकि स्वयं रामविलास शर्मा मार्क्सवादी चिंतक के रूप में प्रतिष्ठित हैं। कार्ल मार्क्स के अनुसार, संस्कृति का संबंध मनुष्य के उस दोहरे रिश्ते से है जो वह प्रकृति और दूसरे मनुष्यों से स्थापित करता है। मार्क्स का कहना है कि मनुष्य द्वारा औज़ारों और उपकरणों की मदद से प्रकृति में हस्तक्षेप, उसके अस्तित्व के लिए ज़रूरी भौतिक परिस्थितियों को पुनरुत्पादित करता है। लेकिन मानव विकास के इतिहास के आरंभ से ही श्रम द्वारा प्रकृति में हस्तक्षेप सामाजिक रूप में संगठित होता है। मनुष्य एक दूसरे से सहयोग करते हैं, श्रम का विभाजन इस तरह किया जाता है कि भौतिक परिस्थितियों के पुनरुत्पादन को पहले से बेहतर किया जा सके। यहीं से सामाजिक संगठन और मानव इतिहास की शुरूआत होती है। उत्पादन की शक्तियाँ और संबंध जिन तरीक़ों से और जिन ऐतिहासिक युगों में सामाजिक रूप में संगठित होते हैं, उन्हीं से समाज की व्यापक संरचना का निर्माण होता है। इसी प्रक्रिया में मनुष्य की सामाजिक चेतना का निर्माण होता है। मार्क्सीय विचारधारा में संस्कृति का संबंध अधिरचना से जोड़ा जाता है। वे सभी समाज जो वर्ग समाज होते हैं वहाँ संस्कृति का विकास उसी ऐतिहासिक प्रक्रिया में होता है जिसकी चर्चा हम कर चुके हैं। मार्क्स के अनुसार, 'जो वर्ग समाज की सत्ताधारी भौतिक शक्ति होता है, वह साथ ही उसकी सत्ताधारी बौद्धिक शक्ति भी होता है। जिस वर्ग के पास भौतिक उत्पादन के साधन होते हैं, उसका साथ ही साथ बौद्धिक उत्पादन पर भी नियंत्रण रहता है, और इस तरह साधारणतया जिन लोगों के पास बौद्धिक उत्पादन के साधन नहीं हो, उनके विचार इस वर्ग के अधीन रखे जाते हैं। सत्ताधारी विचार प्रभुत्वशाली भौतिक संबंधों की, यानी विचारों के रूप में ग्रहण किये जाने वाले प्रभुत्वशाली भौतिक संबंधों की बौद्धिक अभिव्यक्ति के अलावा और कुछ नहीं होते, अतः वे उन संबंधों की अभिव्यक्ति हैं, जो एक वर्ग को सत्ताधारी बनाते हैं, इसलिए वे उसके प्रभुत्व के विचार हुआ करते हैं। जिन लोगों को लेकर सत्तारूढ़ वर्ग बनता है उनके पास अन्य

बातों के अलावा चेतना होती है, इसलिए वे सोचते हैं। इसलिए वे जहाँ तक एक वर्ग के रूप में शासन करते हैं तथा एक युग का विस्तार तथा परिधि निर्धारित करते हैं, उस हद तक यह स्वतः स्पष्ट है कि वे यह कार्य पूरे फैलाव के साथ करते हैं, इसलिए अन्य बातों के साथ चिंतकों के विचारों को पैदा करने वालों के रूप में भी शासन करते हैं और अपने युग के विचारों की रचना तथा वितरण का नियमन करते हैं। इस प्रकार उनके विचार युग के सत्ताधारी विचार होते हैं।' इन विचारों से साफ़ है कि संस्कृति को वर्गीय आधार पर विभाजित करना तो मुमकिन नहीं है लेकिन यह ज़रूर है कि एक समाज की जातीय संस्कृति पर उस समाज के प्रभुत्वशाली वर्ग का वर्चस्व होता है। जातीय संस्कृति की चर्चा करते हुए इस वर्गीय वर्चस्व को ध्यान में रखना ज़रूरी होता है। इसका अर्थ यह भी है कि जातीय संस्कृति के वे तत्व जो प्रभु वर्ग के वर्चस्व को व्यक्त करते हैं और वे तत्व जो इस वर्ग के सांस्कृतिक और विचारधारात्मक वर्चस्व को चुनौती देते हैं, उनमें निरंतर संघर्ष चलता रहता है। इसका अर्थ यह नहीं है कि इन्हें आसानी से अलग किया जा सकता है या इन्हें सरलता से पहचाना जा सकता है। यह सांस्कृतिक संरचना उतनी ही जटिल होती है, जितनी कि सामाजिक संरचना होती है।

जहाँ तक राष्ट्रीय संस्कृति का सवाल है, भारत जैसे बहुजातीयता वाले देश में एक राष्ट्रीय संस्कृति का अर्थ सिर्फ़ इतना ही हो सकता है कि विभिन्न जातीय संस्कृतियों की स्वायत्तता और परस्पर संबद्धता को स्वीकार करते हुए उनमें अंतर्निहित एकता के सूत्रों को विकसित करना। यह कार्य संस्कृति की सहज स्वाभाविक विकास प्रक्रिया को अनुशासित और नियंत्रित करके नहीं किया जा सकता और न ही किसी एक जातीय संस्कृति की विशेषताओं को दूसरे की तुलना में अधिक तरजीह देकर किया जा सकता है। यही कारण है कि स्वयं रामविलास शर्मा 'अनेक विभिन्नताओं में एकता की अनुभूति' को राष्ट्रीय संस्कृति यानी भारतीय संस्कृति की विशेषता के रूप में स्वीकार करते हैं।

हिंदी जातीयता की संकल्पना

हिंदी जातीयता की चर्चा करते हुए रामविलासजी ने भाषा को मुख्य कारक माना है। आमतौर पर जातीयता का निर्धारण करने क लिए भाषा के अलावा तीन और कारकों का उल्लेख किया जाता हे। ये हैं: साझा क्षेत्र, सामान्य आर्थिक संबंध और एक इतिहास। कुछ विचारक धर्म को और कुछ नस्ल को भी जातीयता का आधार मानते हैं। ज़ाहिर है, ये दोनों कारक जातीयता के आधार इसलिए नहीं हो सकते क्योंकि ये दोनों अत्यंत व्यापक क्षेत्रों में फैले हो सकते हैं। मसलन ईसाई, बौद्ध और इस्लाम धर्म कई देशों में बहुसंख्यक आबादी का धर्म है। क्या इसी आधार पर उन्हें एक ही जातीयता का माना जा सकता है? और क्या इसी आधार पर उन्हें संगठित किया जा सकता है। आमतौर पर देखा यही गया है कि इस आधार पर एकता स्थापित करने के प्रयत्न सफल नहीं हुए। बल्कि इसने धार्मिक तत्ववाद को बढ़ाने में मदद की जिससे उस धर्म के गरीब, उत्पीड़ित लोगों के जीवन की मुश्किलें बढ़ीं। आमतौर पर धार्मिक तत्ववाद स्त्रियों और उत्पीड़ितों के लिए मुश्किलें बढ़ाने वाला ही साबित होता है। इसी प्रकार नस्ल के आधार पर भी मनुष्य जाति का विभाजन नहीं किया जा सकता। नस्ल के आधार पर श्रेष्ठ समझने की अवधारणा फासीवाद की पहचान है और फासीवाद ने दूसरे विश्व युद्ध में कितनी तबाही मचाई इसे यहाँ दोहराने की ज़रूरत नहीं है। फिर मानव इतिहास में नस्लों का इस हद तक मिश्रण हुआ है कि उन्हें विभाजन का आधार मानना वैज्ञानिक और ऐतिहासिक रूप से भी गलत है। इसलिए इन दोनों के अलावा जिन चार कारकों की हमने चर्चा की है, उनको ही हम जातीयता के संदर्भ में विचारणीय मान सकते हैं।

रामविलासजी ने सबसे ज्यादा महत्व भाषा को ही दिया है। यह सही है कि हिंदी भाषी क्षेत्र भौगोलिक दृष्टि से एक दूसरे से जुड़े हैं, लेकिन उनमें एकरूपता का अभाव है। इसमें हिमाचल प्रदेश और उत्तर प्रदेश का पहाड़ी क्षेत्र भी है तो पश्चिम राजस्थान का विशाल मरुस्थल है। स्वयं उत्तर प्रदेश को पश्चिमी भू भाग और पूर्वी भू भाग उर्वरता की दृष्टि से एकरूप नहीं है। इस क्षेत्र में कई आदिवासी इलाके भी शामिल है और इन आदिवासी इलाकों में विशाल खनन भंडार है। कहने का तात्पर्य यह है कि पूरे हिंदी क्षेत्र की भौगोलिक स्थिति एक सी नहीं है और

इस कारण उसमें कभी उत्तराखंड, कभी झारखंड जैसे अलग राज्यों की मांग भी उठती रहती है। इस भौगोलिक प्रकृति की भिन्नता ने विशाल हिंदी क्षेत्र में कई ऐसी इकाइयाँ बनाई हैं जिनसे जुड़ी भावनाएँ बार-बार मज़बूत होकर हिंदी जातीयता की भावना से टकराती हैं।

हिंदी जातीयता के संदर्भ में इस क्षेत्र की बोलियों और उर्दू के साथ उसके रिश्ते का सवाल भी उपस्थित होता है। हिंदी और उर्दू एक ही क्षेत्र की भाषाएँ हैं और एक ही खड़ी बोली से इनका जन्म हुआ है। हिदीं और उर्दू में भाषिक दृष्टि से समानता है। केवल शब्द भंडार, लिपि और साहित्यिक परंपराओं में दोनों एक दूसरे से अलग हैं। लेकिन किसी भाषा की पहचान का आधार उसका विशिष्ट व्याकरण होता है जिस पर वह आधारित होती है और इस लिहाज से हिंदी और उर्दू को अलगाना असंभव है। हिंदी से जुड़ा सवाल बोलियों का भी है। हिंदी भाषी राज्यों में से किसी राज्य के अधिकांश लोगों की मातृभाषा हिंदी नहीं है। शहरों की आबादी को छोड़ दें तो शेष जनता भोजपुरी, अवधी, मैथिली, राजस्थानी, ब्रज आदि बोलती है। यही नहीं राजस्थानी, मैथिली में तो आधुनिक दौर में भी साहित्य रचा जाता है और इसलिए साहित्य अकादमी ने इन दोनों को अपनी सूची में भाषाओं के रूप में शामिल कर रखा है। इसके बावजूद सच्चाई यह भी है कि इन सभी राज्यों में शिक्षा, राजकीय और संपर्क की भाषा के रूप में हिंदी का ही व्यवहार होता है। यही नहीं, जनसंख्या का अधिकांश हिस्सा मातृभाषा के रूप में 'हिंदी' ही लिखवाता है। इसलिए यह कहना काफी हद तक सही है कि हिंदी इन प्रदेशों के रहने वालों की भाषा है।

लेकिन क़ेवल हिंदी को यह दर्ज़ा देना और उर्दू को हिंदी मे समाहित कर देना इस क्षेत्र के रहने वालों की जातीय आकांक्षाओं के पूरी तरह अनुरूप नहीं है। हिंदी और उर्दू दोनों का विकास इस क्षेत्र की एक ही बोली से हुआ है, लेकिन जिन्होंने ऐतिहासिक रूप से अलग-अलग ढंग से विकास किया है इसलिए इस क्षेत्र को सिर्फ़ हिंदी का क्षेत्र कहना कहाँ तक उचित है? क्या इसे हिंदी-उर्दू क्षेत्र नहीं कहा जाना चाहिए। यह सवाल इसलिए भी महत्वपूर्ण है क्योंकि जातीयता के सवाल के इस पहलू की उपेक्षा करने से इस क्षेत्र की सांप्रदायिक स्थिति पर प्रतिकूल असर पड़ा है। उर्दू को अल्पसंख्यकों के विरुद्ध हमले क लिए इस्तेमाल किया जाता रहा है। इस भाषा की जो उपेक्षा आज़ादी के बाद हुई है, वह इस बात का प्रमाण है कि किस तरह उर्दू को अल्पसंख्यकों के साथ जोड़ दिया गया जबकि किसी भाषा का संबंध उस क्षेत्र की जनता से होता है, न कि धर्म विशेष से।

डॉ. रामविलास शर्मा जातीय गठन की सामंतवाद और साम्राज्यवाद के विरुद्ध संघर्ष में महत्वपूर्ण भूमिका मानते हैं। यह उचित ही कहा गया है कि 'जातीयता के गठन की आकांक्षा एक स्वाभाविक आकांक्षा है। जो हिंदी (और उर्दू) भाषी क्षेत्र के लोगों में मौजूद है। लेकिन जिसने अभी तक कोई निश्चित आकार नहीं लिया क्योंकि इससे जुड़े अंदरुनी और बाहरी सवालों का सर्वमान्य समाधान नहीं उभर पा रहा है।' डॉ. रामविलास शर्मा जातीयता के सवाल को जिस रूप में देख रहे हैं, उससे इस समाधान की संभावना अभी तो नज़र नहीं आती इसके विपरीत जातीयता की इस मांग का लाभ पूंजीवादी और सामंती तत्वों को ही मिलता नज़र आ रहा है। इसलिए यह ज़रूरी है कि जातीयता के सवाल को जन आंदोलनों का हिस्सा बनाया जाए जिसकी आकांक्षा स्वयं रामविलासजी भी करते रहे हैं। केवल तभी, न केवल भारत राष्ट्र-राज्य में शामिल विभिन्न जातीयताओं के बीच सच्ची एकता कायम हो सकती है बल्कि स्वयं हिदीं क्षेत्र में जाति, धर्म, भाषा, बोली आदि के आधार पर कायम तनावों और टकरावों का जनतांत्रिक समधान पाया जा सकता है। यही नहीं इसी प्रक्रिया में कायम एकता द्वारा ही साम्राज्यवादी हमलों का मुकाबला किया जा सकता है।

4.5 लेखकीय व्यक्तित्व का प्रभाव

डॉ. रामविलास शर्मा के लेखन और खासतौर पर इस निबंध में व्यक्त विचारों को समझने के लिए हमें उनके जीवन से संबंधित महत्वपूर्ण तथ्यों को जानना ज़रूरी है। ग्रामीण और किसानी

पृष्ठभूमि, तुलसी आदि भक्त कवियों के साहित्य का संस्कार, राष्ट्रीय आंदोलन और राष्ट्रवादी विचारों का प्रभाव और बाद में मार्क्सवाद और समाजवाद का प्रभाव तथा प्रगतिशील लेखक संघ में सक्रिय भागीदारी ने उनके रचना व्यक्तित्व को बनाने में अहम भूमिका निभाई। मार्क्सवाद और राष्ट्रीय आंदोलन ने ही उन्हें यह समझ दी कि भारत विभिन्न जातीयताओं वाला देश है और इन जातीयताओं के विकास और उनकी पारस्परिक एकता के बिना न तो आजादी हासिल की जा सकती है और न ही उस आजादी की रक्षा की जा सकती है। जातीयताओं के विकास का संबंध सामंती व्यवस्था के पतन से है। यही कारण है कि वे सामंतवाद और साम्राज्यवाद के विरुद्ध लड़ाई को अलग-अलग करके नहीं देखते। वे कहते हैं, 'जातियों का विकास और निर्माण सामंती व्यवस्था के ह्रास और पतन से ही संभव होता है। इसलिए जातीय चेतना का विकास भी सामंती विचारधारा का खंडन करता है, अपना प्रगतिशील मूल्य रखता है। अंग्रेज़ शासकों ने यहाँ का औद्योगिक विकास रोका, यहाँ के सामंती अवशेषों की रक्षा की, नवाबों, राजाओं और ताल्लुकदारों की रियासतें बनाए रख कर जातीय एकता कायम होने में बाधा डाली।' जातीय विकास को रोकने में साम्राज्यवाद की भूमिका पर प्रकाश डालते हुए वे लिखते हैं कि 'साम्राज्यवाद, जो अपनी कूटनीति से जातियों को संगठित न होने देता था। इसलिए जातीय गठन और जातीय चेतना के विकास का एक साम्राज्य विरोधी मूल्य भी है। जातीय विकास क्रम को पूरा करना देश-भक्ति का ही कार्य माना जाएगा।'

यहाँ यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि जातीय विकास की ज़रूरत वे क्यों महसूस करते हैं। इसका उत्तर वे अपने जातीयता संबंधी लेखन में ही नहीं देते बल्कि उनका संपूर्ण लेखन और उसकी दिशा और दृष्टि इस बात का जबाव है। उनका स्पष्ट मानना है कि जातीय चेतना की सही समझ और उसके विकास से ही भारतीय एकता को दृढ़ किया जा सकता है। भारतीय एकता से उनका तात्पर्य जनता की एकता से है। वह जनता जो विभिन्न वर्गों और विभिन्न भाषाई समूहों में विभाजित है। इन विभिन्न भाषा-भाषी जनता के बीच एकता जब तक कायम नहीं होती है तब तक भारतीय जनता के बीच एकता कायम नहीं हो सकती। लेकिन एकता की बातें करने से एकता संभव नहीं है। वे यह बात अच्छी तरह से समझ गये थे कि 'विभिन्न जातियों की परस्पर एकता उनके उचित अधिकार मानकर ही की जा सकती है।'

लेकिन विभिन्न जातियों के उचित अधिकार का प्रश्न इतना सरल नहीं है। इसे समझने के लिए हमें एक बार फिर रामविलासजी के जीवन की ओर झांकना होगा। रामविलासजी उत्तर प्रदेश को रहने वाले थे। उत्तर प्रदेश को उस क्षेत्र के जिसे बैंसवाड़े के नाम से जाना जाता है। जहाँ के लोग घरों में खड़ी बोली नहीं बोलते। इसी प्रकार पूरे हिंदी प्रदेश में लोग ब्रज, अवधी, मैथिली, भोजपुरी, राजस्थानी आदि बोलियों का प्रयोग करते हैं। तब यह सवाल उठना स्वाभाविक है कि हिंदी को क्या इस कथित हिंदी क्षेत्र की जातीय भाषा माना जा सकता है। इस संबंध में रामविलास शर्मा का मत बहुत साफ है। वे बोलियों और भाषा के अंतर को स्वीकार करते हैं और भाषा को ही जातीयता का आधार स्वीकार करते हैं। वे ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में इस बात को रेखते हैं कि क्यों खड़ी बोली ही हिंदी जातीयता का आधार है और हिंदी प्रदेशों की शेष बोलियाँ चाहे वह अवधी हो या ब्रज या भोजपुरी उन्हें जातीयता का आधार स्वीकार नहीं किया सकता। दूसरा प्रश्न उठता है हिंदी और उर्दू का। उर्दू का जन्म भी उसी खड़ी बोली से हुआ है जिससे हिंदी का हुआ। हिंदी की तरह यह भी हिंदी प्रदेश की संपर्क भाषा के रूप में इस्तेमाल होती रही है। यदि हिंदी को जातीयता का आधार माना जा सकता है तो उर्दू को क्यों नहीं? रामविलास शर्मा ने अपने इस निबंध में हिंदी-उर्दू की समस्या को हिंदी जातीयता के बीच की एक अहम् समस्या माना है लेकिन वे इस पर सीधे तौर पर कोई राय नहीं देते। लेकिन वे इसी निबंध में अंग्रेजों की भाषा भेद नीति के बारे में लिखते हैं। उससे यह प्रतीत होता है कि वे उर्दू को अंग्रेजों की फूटपरस्त नीति का परिणाम मानते हैं। वे लिखते हैं, हमारे जातीय निर्माण की एक विशेषता यह थी कि यहाँ सैकड़ों साल तक फारसी राज-भाषा रह चुकी थी। इसका फल यह हुआ कि उच्च वर्गों में फारसी पढ़ी-पढ़ाई जाती थी और सुसंस्कृत शब्दावली वह समझी जाती थी जिसमें फारसी के शब्द अधिक हो। इसलिए एक ओर नज़ीर और मीर जैसे सरल उर्दू लिखने वाले कवि हुए दूसरी ओर फारसी गर्भित उर्दू लिखने

वालों की कमी न थी। अंग्रेज़ों ने इस भाषा को -- जिसमें लिपि-भेद भी शामिल था - और आगे बढ़ाया। और विशेष रूप से जब सन् 1857 में उन्होंने हिंदुओं और मुसलमानों को अपने विरुद्ध मिलकर लड़ते देखा तब उन्होंने यह भेदभाव बढ़ाने में अपनी ओर से कुछ उठा न रखा। कचहरी और पुलिस के द्वारा उन्होंने वह अरबी प्रधान भाषा चलाई जो उनके जातीय उत्पीड़न की नीति का अंग बन गई।' उनके इस कथन से जाहिर है कि वे हिंदी और उर्दू के सवाल को साम्राज्यवादी साजिश के रूप में देखते हैं लेकिन इसके लिए वे सारा दोष उर्दू पर मढ़ते प्रतीत होते हैं जिससे उनका हिंदी समर्थक दृष्टिकोण तो उजागर होता है लेकिन इस सवाल पर वस्तुगत दृष्टिकोण नहीं। बाद के अपने लेखन में उन्होंने हिंदी और उर्दू को एक ही भाषा के दो रूप माना है। जाहिर है कि इतना कहने से इस समस्या का समाधान संभव नहीं है। हिंदी और उर्दू की एकता के नाम पर हिंदी में उर्दू को समाहित कर उर्दू को एक स्वतंत्र भाषा के दर्जे से हटाने का प्रयास करना है। उर्दू के प्रति इस तरह का दृष्टिकोण सांप्रदायिक ताकतों के पक्ष में जाता है।

इसका अर्थ यह नहीं है कि रामविलासजी का नज़रिया भाषा को प्रति अंध हिंदीवादी है। वे स्पष्ट रूप से कहते हैं 'जो लोग बंगाल या महाराष्ट्र में बंगला या मराठी के बदले हिंदी को शिक्षा का माध्यम बनाना चाहते हैं, वे भारत की आधुनिक भाषाओं के विकास का महत्व नहीं समझते, वे इन भाषाओं द्वारा जनता के शिक्षण और सांस्कृतिक विकास का मूल्य नहीं पहचानते।' वे भारत देश के विकास को जातीय विकास के साथ जोड़कर देखते हैं। 'भारत का विकास उसकी विभिन्न जातियों के विकास से ही संभव है। इसके लिए बड़ी संख्या वाली जातियों के राज्य बनाना, छोटी संख्या वाली जातियों के स्वायत्त प्रदेश कायम करना, प्रत्येक जाति को अपनी ही भाषा में शिक्षा पाने और अपना सांस्कृतिक जीवन संगठित करने का अधिकार देना आवश्यक है। एक जातीय प्रदेश के अंदर दूसरी भाषा और जाति के अल्पसंख्यकों के अधिकारों की रक्षा भी आवश्यक है। इस तरह भारत सशक्त जातियों का संघ बनकर अजेय होगा।'

डॉ. रामविलास शर्मा अपनी हिंदी जाति की परिकल्पना के अनुकूल ही हिंदी प्रदेशों को मिलाकर एक राज्य बनाने की बात करते हैं और उत्तर प्रदेश को बांटने के विचार का विरोध करते हैं। लेकिन हम देखते हैं कि आजकल भाषाई आधार पर नहीं बल्कि कई अन्य आधारों पर प्रदेशों के बंटवारे का विचार पनप रहा है। जैसे उत्तर प्रदेश के पहाड़ी क्षेत्रों को मिलाकर उत्तराखंड बनाने की बात हो या बिहार के आदिवासी इलाकों से झारखंड बनाने की बात। ज़ाहिर है कि हिंदी प्रदेशों के अंदर जातीय अल्पसंख्यकों के अलावा अन्य तरह के वर्गों और समुदायों की आकांक्षा हिंदी जातीयता के साथ अपने को जोड़ने में समर्थ नहीं हो रही है। इनका परिणाम हिंदी प्रदेशों के विकास के लिए शुभ होगा या नहीं लेकिन रामविलासजी की यह इच्छा फलीभूत होती नज़र नहीं आती कि हिंदी प्रदेशों को मिलाकर एक कर दिया जाए।

जातीयता की अवधारणा का विचाराधारात्मक आधार लेखक को मार्क्सवादी चिंतन से मिला है। वे अपने मत के पक्ष में लेनिन और स्टालिन को उद्धृत भी करते हैं। जैसा कि हमने बताया है कि डॉ. रामविलास शर्मा का संबंध प्रगतिशील लेखक संघ से बहुत गहरा रहा है। महासचिव के तौर पर उन्हें देश के कई भागों में जाने का और दूसरी भाषाओं के लेखकों से बातचीत करने का अवसर मिला। बाद में उन्होंने हिंदी सहित भारतीय भाषाओं की प्रकृति और विकास का गहन अध्ययन किया। यही नहीं वे सिर्फ आलोचक और कवि ही नहीं थे। उन्होंने भाषा, दर्शन, राजनीति, इतिहास आदि विभिन्न अनुशासनों का भी गहन अध्ययन किया था और उन पर विद्वतापूर्ण पुस्तकें लिखी थीं। इसलिए यह कहा जा सकता है कि हिंदी जातीयता की अवधारणा उनके गहन अध्ययन और व्यापक अनुभवों का परिणाम थी। हिंदी जाति के प्रश्न पर रामविलासजी से पूरी तरह एकमत होना मुश्किल हो लेकिन इतना ज़रूर है कि उसके पीछे जो भावना और विचार है उससे हम असहमत नहीं हो सकते।

डॉ. रामविलास शर्मा कवि और आलोचक दोनों हैं, यह बात कही जा चुकी है। लेकिन इनके निबंधों में उनका आलाचेक और चिंतक का रूप ही अधिक हावी रहा है और कवि की भावुकता का असर उनके गद्य लेखन पर विरले ही नज़र आता है। रामविलास शर्मा ने आलोचक बनने के लिए जबर्दस्त तैयारी की थी। उनकी प्रतिभा विश्वकोशीय थी। अंग्रेजी के अध्यापक होने के बावजूद उनकी भाषा और शैली पर उसका असर नहीं के बराबर था। वे हिंदी गद्य की उस परंपरा के लेखक थे जिसमें हम महावीर प्रसाद द्विवेदी और रामचंद्र शुक्ल की गणना कर सकते हैं। रामविलासजी किसी भी विषय पर क्यों न लिखें अपनी बात को वे सदैव बहुत साफ़ और सहज ढंग से रखते हैं। उनका लेखन इस बात का प्रमाण है कि जटिल और गहन बात को भी अत्यंत सहज और सुबोधगम्य ढंग से पेश किया जा सकता है। इस बात को हम इस निबंध में भी देख सकते हैं। उदाहरण के लिए वे निबंध के आरंभ में ही संस्कृति को परिभाषित करते हुए अपनी बात जिस ढंग से रखते हैं उसे कोई भी आसानी से समझ सकता है। वे लिखते हैं, संस्कृति एक व्यापक शब्द है। उसके अंतर्गत मनुष्य का आचरण, उसका भावजगत, विचारधारा, साहित्य कला, विज्ञान ये सभी आ जाते हैं। ब्रह्म की तरह संस्कृति व्यक्त और अव्यक्त दोनों हैं। वाल्मीकि और व्यास के महाकाव्य, अजन्ता और एल्लोरा का शिल्प, स्थापत्य और चित्रकारी, त्यागराज और तानसेन का संगीत, ये सब संस्कृति के अंग हैं और वह उल्लास जो दीपावली के प्रकाश में फूट पड़ता है, वह शूरता जो 1857 और 1946 के विद्रोहों में प्रकट हुई थी, शांति और न्याय का वह प्रेम जो आज कोटि-कोटि भारतीय जनता को सोवियत और चीन के साथ विश्व-शांति की रक्षा के लिए आगे बढ़ा रहा है, यह सब भी संस्कृति का अंग है।' इस छोटे से अनुच्छेद में रामविलासजी ने संस्कृति को पारिभाषिक शब्दावली में नहीं रखा है बल्कि हमारे जातीय अनुभवों के ऐसे उदाहरणों के द्वारा रखा है जिनसे संस्कृति मूर्तिमान हो जाती है। यही नहीं हम अपनी लंबी सांस्कृतिक विरासत को भी अपनी पूर्णता में समझ पाते हैं। इसमें प्राचीन और अर्वाचीन, उत्तर और दक्षिण, काव्य और अन्य कलाएँ, राष्ट्रीयता और अंतर्राष्ट्रीयता के विभिन्न छोर एक साथ दिखाई देते हैं। लेकिन जहाँ वे अपनी बात को परिभाषित रूप में रखते हैं वहाँ भी वे उन्हें अत्यंत सरल ढंग से रखते हैं। मसलन, निम्नलिखित कथन को प्रस्तुत किया जा सकता है: 'मनुष्य का सांस्कृतिक विकास उसके सामाजिक जीवन से ही संभव हुआ है। मानव-संस्कृति मानव-जीवन से भिन्न नहीं है। मनुष्य ने अपना मानवत्व सामाजिक जीवन द्वारा ही प्राप्त किया है।' यह बात कहने के बाद वे फिर उदाहरण देकर विस्तार से इसको स्पष्ट करते हैं।

डॉ. रामविलास शर्मा का विस्तृत अध्ययन लगातार उनके लेखन में झलकता है। मसलन, जब वे वर्ण व्यवस्था के बारे में उल्लेख करते हैं तो वे यह भी बताते हैं कि यह व्यवस्था भिन्न रूपों में यूरोप के सामंती समाजों में भी रही है। इसी प्रकार जब भाषा और बोलियों की चर्चा करते हैं तो वे अन्य प्रदेशों और अन्य राष्ट्रों के उदाहरणों से अपनी बात पुष्ट करते हैं। इसके साथ ही, उनके लेखन में इतिहास दृष्टि का प्रभाव साफ़ देखा जा सकता है जिसके कारण उनकी बात का वजन और भी बढ़ जाता है। जब वे यह बताते हैं कि खड़ी बोली हिंदी का आधार क्यों बनी तो वे उसके लिए अतीत से प्रमाण जुटाते हैं 'भारतेंदु हरिश्चंद्र और रामचंद्र शुक्ल ने खड़ी बोली के प्रसार का संबंध पश्चिम से पूर्व की ओर आने वाली जातियों से जोड़ा था। यह स्थापना सही है। आगरा, प्रयाग, काशी आदि में न जाने कितने व्यापारी पछाँह से आकर बसे थे। स्वयं दिल्ली और आगरा व्यापार के बहुत बड़े केंद्र थे। ग्रियर्सन के 'लिंग्विस्टिक सर्वे' से पता चलता है कि यूरोप के व्यापारी अपनी सुविधा के लिए खड़ी बोली सीखते थे। व्यापार के प्रसार में भारत के भीतर खड़ी बोली का महत्व बढ़ा। सरदेसाई के अनुसार इटालियन यात्री मनुच्ची और शिवाजी की बातचीत खड़ी बोली में हुई थी। शेरशाह के समय से ही हिंदी भाषी क्षेत्र में व्यापार का प्रसार आरंभ हो गया था।' इस तरह के उदाहरणों से पाठक के सामने साफ़ हो जाता है कि खड़ी बोली हिंदी ही हिंदी जातीयता का आधार हो सकती है और यह प्रक्रिया आज से चार-पाँच सौ साल पहले से चल रही है।

रामविलासजी के निबंधों में विचारों की प्रधानता है लेकिन विचारों का उलझाव नहीं है। इसमें बहुत बड़ा योगदान उनकी भाषा का भी है। वे अपनी बात को सुलझे रूप में कहने में यकीन रखते हैं। इसके लिए वे बात को बहुत लंबे वाक्यों या जटिल शब्दावली में नहीं कहते। यदि वाक्य लंबे होते भी हैं तो जटिल तो वे कदापि नहीं होते। उदाहरण के लिए इस वाक्य को लिया जा सकता है जो अपेक्षाकृत लंबा है लेकिन जिसे समझने में किसी तरह की कठिनाई नहीं होती : 'जो लोग इस जातीय विकास और जातीय गठन का कार्य पूरा नहीं होने देना चाहते, उनसे निवेदन है कि वे इस तथ्य पर विचार करें कि हर संस्कृति की जातीय विशेषताएँ होती हैं, जातीय रूप होता है, हर भाषा की पूर्ण समृद्धि के लिए उसे बोलने वाली जाति का गठन आवश्यक होता है।' ज़ाहिर है कि तीन पंक्तियों में फैला यह वाक्य चार वाक्यों का ऐसा संयुक्त रूप है जो अपने में पूर्ण है और जिनमें विचार इस ढंग से रखे गये हैं कि वे पहले के विचारों को पुष्ट भी करते हैं और उनमें नया विचार जोड़ते भी हैं। यह रामविलासजी की भाषिक विशेषता है। मसलन उपर्युक्त वाक्य के बाद वे कई बातें और कहते हैं और प्रत्येक बात इस ढंग से कहते हैं कि वे उक्त वाक्यों में कही गई बात के प्रमाण भी हैं और नया विचार भी। 'जातीय गठन को रोकने का अर्थ है, भाषा और संस्कृति के विकास और समृद्धि को रोकना। जातीय गठन को रोकने का अर्थ है, किसी जाति के अंदर विद्यमान राज्यसत्ता के जीवाणुओं को कुचलना।'

रामविलासजी की भाषा की दूसरी विशेषता है, उनका शब्द-चयन। उनके निबंधों में न तो तत्सम शब्दों का आग्रह रहता है न उनसे परहेज। वे ऐसे शब्दों के प्रयोग पर ज्यादा बल देते हैं जो शिक्षित लोगों में आम प्रचलन में हो और जिसे समझने में लोगों को ज्यादा कठिनाई न हो इसके लिए जहाँ ज़रूरी हो वे दूसरी भाषाओं के शब्दों का इस्तेमाल करने में भी नहीं हिचकते लेकिन वे इस बात का ध्यान रखते हैं कि इन प्रयोगों से हिंदी की स्वाभाविक प्रकृति को किसी तरह की ठेस न पहुँचे। 'उद्योग-धंधों का मुख्य आधार दस्तकारी थी, लेकिन इस दस्तकारी का उद्योग राजाओं और नबाबों की विलासिता की चीज़ें तैयार करना ही न था, न यह दस्तकारी हर गाँव में सीमित रहकर उसी की ज़रूरतें पूरा करने के लिए थी। बनारस, लखनऊ और आगरा दस्तकारों के केंद्र थे और यहां की बनी हुई चीज़ें विदेश में इतनी बिकती थीं कि वहाँ के अपने उत्पादन को लिए खतरा पैदा हो गया था। उद्योग-धंधों को बढ़ाना व्यापार की मंडियों के रूप में बड़े-बड़े शहरों का पनपना सामंती अलगाव कम करता था और जनता को एकसूत्र में बाँधता था। यह हिंदी भाषी जाति के निर्माण का सिलसिला था।' उपर्युक्त पंक्तियों में हम पाते हैं कि वे यदि एक तरफ़ आधार, केंद्र, विलासिता, उद्योग, उत्पादन, निर्माण, एकसूत्र जैसे तत्सम शब्दों का प्रयोग करते हैं तो साथ ही ज़रूरतें, चीज़ें, सिलसिला, खतरा, शहरों जैसे उर्दू शब्दों का भी बेहिचक प्रयोग करते हैं। लेकिन वे गाँव, पूरा, बिकना, बढ़ाना, पनपना, मंडियों जैसे बोलचाल के शब्दों का भी इस्तेमाल करते हैं। इससे उनकी भाषा का जो रूप बनता है वह सहज और सुबोधगम्य होता है। वे भाषा के द्वारा अपनी विद्वता का आतंक नहीं जमाते। वे अपनी बात से लोगों को प्रभावित करते हैं।

रामविलासजी के निबंध लेखन पर उनका आलोचक हमेशा हावी रहता है इसलिए वे अपनी बात को पूरे बल और प्रमाण के साथ प्रस्तुत करते हैं। उनकी भाषा वाद-विवाद की भाषा की तरह है। पढ़ते हुए ऐसा लगता है जैसे हम किसी अन्य लेखक के तर्कों का जबाब पढ़ रहे हों यही कारण है कि वे अपनी बात को पूरे आत्मविश्वास और दृढ़ता के साथ रखते हैं। यद्यपि इस शैली की अपनी सीमाएँ भी हैं। इस बात में बहस मुबाहिसा हावी हो जाता है और मूल बात कमज़ोर पड़ने लगती है। इसी प्रकार कितनी भी गंभीर और गहन वैचारिक बात क्यों न हो उसका जो संवेदनात्मक पक्ष है उसकी उपेक्षा हो जाती है। कई बार रामविलासजी की बातें इतनी रूखी प्रतीत होती है कि वे दिमाग को छूकर निकल जाती है दिल को नहीं छू पाती इसका असर उनकी भाषा पर इस रूप में दिखाई देता है कि वे लोकोक्तियों, मुहावरों, अलंकारों, बिंबों आदि का प्रयोग लगभग नहीं करते। इससे एक हद तक उनकी भाषा की साहित्यिकता और सर्जनात्मकता कम भी होती है। उनके निबंधों में वह जिंदादिली और

व्यंग्यात्मकता भी दिखाई नहीं देती जो भारतेंदु युग के निबंधकारों की विशेषता रही है और न ही वह लालित्य जो हमें हजारी प्रसाद द्विवेदी और विद्यानिवास मिश्र के निबंधों में दिखाई देता है। इसके बावजूद उनके निबंधों में उनकी गंभीरता और वैचारिक निष्ठा का प्रमाण अवश्य मेलता है।

4.7 सारांश

इस इकाई में आपने हिंदी के वरिष्ठ मार्क्सवादी आलोचक डॉ. रामविलास शर्मा के निबंध **संस्कृति और जातीयता** के बारे में अध्ययन किया है। संस्कृति और जातीयता एक वैचारिक निबंध है जिसमे लेखक ने **संस्कृति और जातीयता** को परिभाषित करते हुए उसके अतःसंबंधों को रेखांकित किया है।

संस्कृति एक व्यापक शब्द है जिसमें मनुष्य जीवन की सभी गतिविधियाँ आ जाती है। यही कारण हैं कि वे इसका संबंध मनुष्य के सामाजिक जीवन से जोड़ते हैं। वे संस्कृति को मानवत्व के विकास का आधार मानते हैं। लेकिन प्रत्येक देश और समाज की अपनी सांस्कृतिक विशिष्टताओं को भी रेखांकित करते हैं। यही नहीं वे एक ही समाज के अलग-अलग युगों की सांस्कृतिक भिन्नता को भी रेखांकित करते हैं। मसलन, सामंतवादी समाज और पूंजीवादी समाज की भिन्नता भी वे बताते हैं।

संस्कृति जातीयता का आधार है और प्रमुख भाषाई समुदाय जातीय आधार पर गठित होते हैं। भारत विभिन्न जातीयताओं से मिलकर बना एक देश है। इन जातीयताओं के बीच एकता और भिन्नता को समझना वे ज़रूरी मानते हैं। हिंदी भाषा भारत की सबसे ज्यादा लोगों द्वारा बोली जाने वाली भाषा है लेकिन अभी हिंदी जाति का पूर्ण विकास नहीं हुआ है। इसके मार्ग में कई बाधाएँ हैं। जिसे रेखांकित करते हुए वे निम्नलिखित बातों को प्रस्तुत करते हैं : राज्यों के पुनर्गठन की समस्या, बोलियों की समस्या, हिदीं और उर्दू के संबंधों की समस्या आदि।

डॉ. रामविलास शर्मा विचारों में मार्क्सवादी थे और उनकी पारिवारिक पृष्ठभूमि ग्रामीण थी। लेकिन उन्होंने समाजवादी और प्रगतिशील आंदोलन में सक्रिय हिस्सा लिया था जिसका असर उनके लेखन पर भी दिखाई देता है। वे कवि और आलोचक थे लेकिन उन्होंने भाषा, दर्शन, इतिहास, राजनीति आदि का भी गहरा अध्ययन किया था और इन विषयों पर गंभीर पुस्तकें भी लिखी थीं। इस विश्वकोशीय विद्वता का असर उनके लेखन पर भी दिखाई देता है।

डॉ. रामविलास शर्मा की निबंध शैली महावीर प्रसाद द्विवेदी और रामचंद्र शुक्ल की परंपरा में आती है। वे अपनी बातों को अत्यंत सहज और सुबोधगम्य रूप में पेश करने में प्रवीण है। वे गंभीर विचार को भी अत्यंत प्रभावशाली रूप में रखने में दक्ष हैं और उदाहरणों से अपनी बात को पुष्ट करते हैं। उनकी भाषा बोलचाल की भाषा है जिसमें हिंदी का स्वाभाविक रूप देखने को मिलता है। वे तत्सम, तद्भव और देशज शब्दों के साथ-साथ उर्दू के बोलचाल के शब्दों का भी इस्तेमाल करते हैं।

डॉ. रामविलास शर्मा के निबध लेखन की कुछ सीमाएँ भी हमारे सामने उजागर होती हैं। उनके लेखन में बहस-मुबाहिसे की शैली का प्रभाव है। उनमें विचारों का आग्रह तो झलकता है लेकिन भावनात्मक तरलता विरले ही नज़र आती है। भाषा भी उनकी सरल और सुबोधगम्य है लेकिन उसमें साहित्यिक रचनात्मकता का अभाव साफ़ देखा जा सकता है। इसके बावजूद यह कहा जा सकता कि रामविलास शर्मा के हिंदी निबंध परंपरा की अमूल्य निधि है।

अभ्यास

1. हिदीं जातीयता की रामविलासजी की अवधारण की व्याख्या करते हुए बताइए कि आप इससे किस सीमा तक सहमत हैं?
2. **संस्कृति और जातीयता** के पारस्परिक संबंधों का भारतीय संदर्भ में विवेचन कीजिए।
3. **संस्कृति और जातीयता** के आधार पर रामविलासजी के निबंधों की विशेषताएँ बताइए।

इकाई निबंध : तीसरे दर्जे का श्रद्धेय

इकाई की रूपरेखा

5.0 उद्देश्य
5.1 प्रस्तावना
5.2 हरिशंकर परसाई के लेखन की विशिष्टता
5.3 हरिशंकर परसाई का समय और व्यंग्य का महत्व
5.4 **तीसरे दर्जे का श्रद्धेय** की अंतर्वस्तु
5.5 **तीसरे दर्जे का श्रद्धेय** का संरचना शिल्प
5.6 **तीसरे दर्जे का श्रद्धेय** का प्रतिपाद्य
5.7 सारांश

5.0 उद्देश्य

एम.ए. हिंदी के बीज पाठ्यक्रम-4 'नाटक और अन्य गद्य विधाएँ' के चौथे खंड की यह अंतिम इकाई है। इससे पहले की इकाई में आपने डॉ. रामविलास शर्मा का निबंध **संस्कृति और जातीयता** के बारे में अध्ययन किया है। इस इकाई में आप प्रसिद्ध व्यंग्यकार श्री हरिशंकर परसाई की रचना **तीसरे दर्जे का श्रद्धेय** के बारे में पढ़ेंगे।

एक व्यंग्यकार के रूप में परसाईजी के लेखन की क्या विशिष्टता है, इस बारे में इकाई में विचार किया जाएगा। उनके लेखन में अपने समय और समाज की कैसी तस्वीर उभरती है, उसका कारण क्या है और उसके लिए वे व्यंग्य का सहारा क्यों लेते हैं, इस पर भी इकाई में विचार किया जाएगा।

तीसरे दर्जे का श्रद्धेय नामक निबंध आपके पाठ्यक्रम में निर्धारित है। आपने उसे पढ़ा होगा। इस निबंध में लेखक ने किन बातों पर विचार किया है। वे समाज में बुद्धिजीवी की भूमिका को किस रूप में देखते हैं और क्या वह अपनी भूमिका ईमानदारी से निभा रहे हैं? निबंध की अंतर्वस्तु और प्रतिपाद्य पर विचार करते हुए इन पक्षों का भी विवेचन किया जाएगा।

यह व्यंग्य निबंध का उत्कृष्ट उदाहरण है। इसकी शैली और भाषिक विशेषताओं को जानना-समझना भी ज़रूरी है। इसको ध्यान में रखते हुए इकाई में निबंध की भाषा-शैली पर विचार किया जाएगा।

5.1 प्रस्तावना

एम.ए. हिंदी के बीज पाठ्यक्रम-4 में आप 'नाटक और अन्य गद्य विधाएँ' में रेखाचित्र, संस्मरण, जीवनी, आत्मकथा, यात्रा-वृत्तांत, रिपोर्ताज आदि गद्य विधाओं से संबंधित इकाइयाँ आगे पढ़ेंगे। हिंदी नाटक और रंगमंच से संबंधित इकाइयाँ आपने पढ़ ली होंगी। गद्य की अन्य विधाओं में निबंधों से भी आपका परिचय हो चुका है। इस खंड में आप इससे पहले प्रतापनारायण मिश्र, रामचंद्र शुक्ल, हजारी प्रसाद द्विवेदी और रामविलास शर्मा के निबंधों के बारे में पढ़ चुके हैं। इस इकाई में आपके लिए हरिशंकर परसाई के व्यंग्य-निबंध **तीसरे दर्जे का श्रद्धेय** का विस्तृत अध्ययन-अनुशीलन एवं विश्लेषण प्रस्तुत किया जाएगा। इससे आप यह समझ सकेंगे कि हरिशंकर परसाई किस समय में रचनारत, किस तरह के रचनाकार रहे हैं? उन्होंने अपने व्यंग्य-निबंध **तीसरे दर्जे का श्रद्धेय** में किस पर व्यंग्य किया है और क्यों उन्होंने उस वर्ग को अपने व्यंग्य का निशाना बनाया है? वे कौन-सी सामाजिक-राजनीतिक स्थितियाँ हैं जिन्हें लेखक ने अपने व्यंग्य निबंधों में उठाना उचित समझा है? उक्त रचना या अपनी अन्य

रचनाओं के माध्यम से हरिशंकर परसाई निबंध के स्वरूप और संरचना में क्या परिवर्तन करते हैं या उसमें कौन-से नए आयाम जोड़ते हैं? उनका शैली-शिल्प विधान किस प्रकार का रह है? हमें आशा है कि प्रस्तुत इकाई पढ़कर आप परसाई जी की रचना **तीसरे दर्जे का श्रद्धेय** को समझने, उसका विश्लेषण और मूल्यांकन करने में सक्षम हो सकेंगे।

5.2 हरिशंकर परसाई के लेखन की विशिष्टता

श्री हरिशंकर परसाई मध्य प्रदेश के होशंगाबाद जिले में जन्मे हिदीं के प्रतिष्ठित व्यंग्य निबंधकार हैं। उन्होंने अपने व्यंग्य की धार को निबंधों और कहानियों में अधिक उभारा है अनेक पत्र-पत्रिकाओं में लिखे गए उनके नियमित 'कॉलम' इसके प्रमाण हैं। कहानी-उपन्यासों की रचना भी उन्होंने की है किंतु उनकी संख्या अपेक्षाकृत कम है। उनकी रचनाओं का विपुल संसार 'परसाई रचनावली' में समग्र संकलित होकर प्रकाशित हो चुका है। इसका क्रमिक अध्ययन करना आपके लिए रोचक होगा। विषयवस्तु की दृष्टि से देखें तो आप पाएँगे कि स्वतंत्र भारत में पनपने वाली विविधायामी मानसिकता, विशेषतः शासक-शोषक वर्ग की मनोवृत्ति में आता बदलाव, स्वार्थान्धता तथा शोषित-पीड़ित जनता की मजबूरियों की जीती-जागती तस्वीर उपस्थित करना परसाई जी के लेखन का उद्देश्य रहा है। विशिष्ट स्थितियों-घटनाओं के यथार्थ चित्रण में परसाई जी कोई रियायत नहीं बरतते हैं। वे कहीं भी पनप रहे छद्म को तुरंत पहचान जाते हैं तथा अपनी वैज्ञानिक दृष्टि के साथ उससे रू-ब-रू होकर कहीं सीधे-सहज आत्मीय वातावरण में उस पर प्रहार करते हैं तो कहीं तिलमिला देने वाली तीखी चोट करते हुए अपने विचार सूत्र को आगे बढ़ाते हैं। दरअसल उनकी रचनाओं में अपने साधारण देशवासियों की आशा आकांक्षाएँ, उनके जीवन-संघर्ष, उनकी असंगतियों-अंतर्विरोध अभिव्यक्त हुए हैं। उनका अनुभव-संसार बहुत व्यापक है। यदि उसे समेटने की कोशिश करें तो डॉ. श्यामसुंदर मिश्र के शब्दों में कह सकते हैं कि परसाई के संपूर्ण लेखन को एक साथ सुनिश्चित क्रम में संजोकर इसे इस देश की ज़िंदगी का विश्वसनीय इतिहास बना सकते हैं, जहाँ जनसाधारण से लेकर बड़े-से-बड़े राजनीतिक नेता, प्रशासक, बुद्धिजीवी, मध्यमवर्गीय अध्यापक, डाक्टर, वकील, थानेदार, विश्व के बड़े-बड़े राष्ट्रनायक, कूटनीतिज्ञ, युद्धशास्त्री, प्रेमी-प्रेमिकाएँ, पूँजीपति, राजनीतिक और सामाजिक घटनाएँ, अपराध, अनाचार, दिशाहीनता, शोषण के अमानवीय रूपांतर, अकाल, भुखमरी, बाढ़, युवा आक्रोश, जन आंदोलन, सांप्रदायिक दंगे, धार्मिक अनाचार और इन सबसे बेखबर मध्यमवर्गीय शालीनता से आक्रांत रचनाकार और कलाकारों के साथ धार्मिक छद्म के साथ जकड़े हुए पंडे, पुजारी, महात्मा, भगवान, नए पंथों के संचालक और अध्यात्मवादी सभी एक साथ मिल जाएंगे।"

स्पष्ट ही यह स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद का भारत है जो परसाई जी की रचनाओं में प्रामाणिकता के साथ उपलब्ध होता है। राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक विसंगतियों ने उन्हें अपने लेखन के लिए सामग्री प्रदान की है। वे मामूली से मामूली इंसान के दुःख-दर्द, मध्यवर्ग के चरित्र, उनके छद्म, उनकी स्वार्थान्धता तथा निम्न वर्ग की मजबूरियों में शामिल हो जाते हैं। उस 'परिवेश की विसंगति, मिथ्याचार असामंजस्य, अन्याय की तह में जाकर' (परसाई) उनके कारणों का विश्लेषण करते हैं। उन्हें सही परिप्रेक्ष्य में देखने का प्रयास करते हैं। इन्हीं सामान्य जीवनानुभवों के बीच उनकी संवेदना का निर्माण होता है। परसाई स्वयं स्वीकार करते हैं : "मैंने देखा कि दुःखी और भी हैं, इससे मेरी संवेदना का विकास हुआ। मैंने देखा कि जीवन में बेहद विसंगतियाँ हैं, अन्याय, पाखंड, छल, दोमुँहापन, अवसरवाद, असामंजस्य आदि हैं। मैंने इनके विश्लेषण के लिए साहित्य, दर्शन, समाजशास्त्र, राजनीतिशास्त्र का अध्ययन किया।" इससे उन्हें अपने समय-समाज को समझने में आसानी हुई। नए शासक-शोषकों के गठबंधन की चालबाजियों-चालाकियों को समझने की दृष्टि मिली। साथ ही, यह विवेक पैदा हुआ कि उन्हें किस पर कैसे चोट करनी है।

5.3 हरिशंकर परसाई का समय और व्यंग्य का महत्व

आइये, अब परसाई के समय को जाने। परसाई मौटे रूप से स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद के रचनाकार हैं। जिसे हम मोहभंग तो नहीं, आत्म विश्लेषण का समय कह सकते हैं। किंतु यह आत्म-विश्लेषण अधिक देर नहीं चलता। कारण, आज़ादी से पहले जिस सुनहरे भविष्य, शोषण मुक्त, समान अवसर प्रदान करने वाले समाज की कल्पना की गई थी, उस दिशा में कोई ठोस काम नहीं हुआ। बड़े उद्योग-धंधे अवश्य लगे। पर भ्रष्ट प्रशासन तंत्र तथा मूल्य-विहीन नेतृत्व ने आपाधापी, गरीबी, भुखमरी, विषमताओं को ही बढ़ावा दिया। विकास के नाम पर मध्यवर्ग, उच्च मध्यवर्ग का ध्यान रखकर काम किया गया, जिससे धनिकों को ही अधिक से अधिक लाभ मिला। दबी-कुचली जनता, हड़तालों-आंदोलनों के माध्यम से अपना प्रतिरोध जताती रही! चापलूस अफ़सर और सत्ता से चिपके नेता झूठे वायदों और नारों से जनता को बेवकूफ बनाते रहे। इससे मोहभंग, आक्रोश, दिशाहीनता को बढ़ावा मिला। इन सबके बीच परसाई की सृजनात्मक चेतना स्वरूप ग्रहण करती है। यह सन् 1950 के आसपास का समय है। इसी समय में हिदीं कहानी में भी नया उभार आता है। बदलते समाज और सामाजिक संबंधों को उसमें रूपायित किया जाता है। इस समय का विश्लेषण करते हुए श्री धनंजय वर्मा ने ठीक ही लिखा है : 'जब अधिकांश नए कहानीकार मध्यवर्गीय कुंठाओं के दायरे में सरगोशियाँ कर रहे थे, बूढ़े माँ-बाप से विद्रोह और अतीत मोह के सायों से लगभग आक्रांत थे, प्रणय और परिणय की ग्रंथियों से उलझे या तो टूटे पुरुष और बिखरी नारी के आँसू समूट रहे थे या फिर संवेदन-हीनता की खोल में दुबके अनुभूतिवाद के नाम से एक नए रहस्यवाद की शरण-चले गए थे... अकेलेपन और अजनबीयत, संत्रास और मृत्युबोध का जाप हो रहा था तब परसाई ने अपने चौतरफा समाज की बनत और रंगत, तात्कालिक राजनीतिक साजिशों, प्रशासन की अमानवीयता और धर्म और अध्यात्म के पाखंडों से छले जाते समकालीन आदमी की रोज़मर्रा तकलीफ को जबान दी।' यह वह परिप्रेक्ष्य है जो परसाई जी के रचनाकाल में चल रही साहित्यधारा को दर्शाता है। नई कविता-नई कहानी आधुनिकतावादी भावबोध से ग्रस्त दिखाई देती है, जहाँ मनुष्य या तो पशुवत आचरण करता है या यंत्रवत। स्त्री-पुरुष संबंध, शहरी-कस्बाई मानसिकता का द्वंद्व या आदमी की कुंठाएँ ही साहित्य कहला रहा था। तब इनसे बेखबर परसाई सामान्य जनता के दुख दर्द और उनके पीछे चल रही ताकतों पर व्यंग्य लिख रहे थे। परसाई ने अपने रचनाकर्म को लोक शिक्षण का माध्यम बनाया। शुद्ध कलावाद उनके साहित्य का कभी लक्ष्य नहीं रहा। उनकी मान्यता रही है कि जनसामान्य को जागरूक और चेतनासंपन्न बनाने का काम न तो गैर साहित्यिक है और न ही कलाविहीन। कला और साहित्य की सार्थकता रचना के सामाजिक उद्देश्य में ही निहित होती है।

प्रश्न हो सकता है कि परसाई जी ने अपने रचनाकर्म में व्यंग्यात्मक शैली को ही क्यों अपनाया? सीधी-सादी कहानी कहने में उनकी रुचि क्यों नहीं रही? क्या हम उन्हें अपने समय की समस्याओं से निरंतर जूझने वाला साहित्यकार वह सकते हैं? परसाई आज़ादी के बाद कथनी-करनी के बढ़ते अंतर से विक्षुब्ध रचनाकार रहे हैं। उन्हें मूल्यों का विघटन, अपसंस्कृति का फैलाव, पूँजीवादी-साम्राज्यवादी प्रवृत्तियों का छद्मवेश, मानवीय संवेदना की अपदस्थता, भुद्र स्वार्थ का आधिपत्य, संस्कृति, कला और साहित्य की दिशाहीनता, श्रम की उपेक्षा, भ्रष्टाचार को मान्यता जैसी विसंगतियां कचोटती रही हैं। संभवतः इसी ने उनमें व्यंग्य को जन्म दिया हो या उनकी करूणा को उभारा हो। इतना अवश्य है कि इन स्थितियों ने उन्हें शोषित-पीड़ित के प्रति सहानुभूति से भर दिया। परसाई मानते रहे हैं : 'अच्छा व्यंग्य सहानुभूति का सबसे उत्कृष्ट उदाहरण होता है।' आखिर इस सहानुभूति की ज़रूरत ही क्यों आन पड़ी? शायद इसलिए कि अफसरशाह और राजनेता सिद्धांत, नैतिकता, मूल्य, ईमानदारी सबको ताक पर रख अंधाधुंध लूट-खसोट में लग गए थे। 'तुलसीदास चंदन घिसै' संग्रह में एक वाक्य है : किसी छोटे से बड़े नेता तक को आज ईमानदार और सिद्धांतवादी कहने में खतरा है।' इसलिए आलोचकों का मानना है कि परसाई जी अपने लेखन में जो चित्र उभारते हैं : 'इस चित्र में कसमसाता, छटपटाता हुआ भारत है जिसे एक और छद्म भारत ने दबोच रखा है। दबोचने वाला और दमित दोनों भारत सक्रिय हैं। दोनों के बीच निरंतर दांवपेंच चल रहे हैं। शोषक-

शोषित, उनकी समस्याएँ, सांस्कृतिक-आर्थिक आचरण सब परस्पर संबद्ध हैं। इस सघन परस्पर संबंधता को ही वर्तमानता की अखंडता समझिए। इसमें उच्च वर्ग, मध्य वर्ग और निम्न वर्ग सबके अपने-अपने दुःख हैं। दुःख और सुख विविध हैं, भिन्न हैं, परस्पर विरोधी हैं, छद्म हैं, सच्चे हैं।" (देश के इस दौर में, डॉ. विश्वनाथ त्रिपाठी)

ध्यान रखने की बात है कि परसाई सतह पर दिखते यथार्थ से अपना साहित्य नहीं रचते। वे स्रोतों तक पहुँचते हैं। स्थितियों, घटनाओं के पीछे छिपी ताकतों को उधेड़ते हैं और इस प्रकार स्वार्थी तत्वों का चेहरा बेनकाब हो जाता है। ज़ाहिर है लेखक स्वयं को सामान्य जनता का हिस्सा समझता है। वह उनके खिलाफ़ होते षड्यंत्र को निष्क्रियतापूर्वक नहीं देख सकता है वह निरंतर गहराती अमानुषीकरण की प्रक्रिया पर आक्रोश दिखाता उस पर आक्रमण करता है। जिससे कि बेहतर मानव समाज का निर्माण हो सके। उसे सक्रियता प्रिय है जो संघर्ष की प्रेरणा देती है। 'तिरछी रेखाएँ' संग्रह की भूमिका में वे कहते हैं : "सच्चा व्यंग्य जीवन की समीक्षा होता है। वह मनुष्य को सोचने के लिए बाध्य करता है। अपने से साक्षात्कार करता है, चेतना में हलचल पैदा करता है और जीवन में व्याप्त मिथ्याचार, पाखंड, असामंजस्य और अन्याय से लड़ने के लिए उसे तैयार करता है।" आज के परिवेश में यह मिथ्याचार और पाखंड और बढ़ गया है। इसलिए परसाई जी इन पर अपनी चुटीली शैली में आक्रमण करते हैं जिससे कि सही दिशा का निर्देश हो सके।

कथनीय है कि उन्होंने अपने व्यंग्य का निशाना हमेशा दूसरों को ही नहीं बनाया है और अपने को हमेशा पाक-साफ़ नहीं दिखाया है। वे खुद पर भी व्यंग्य करते हैं। यही कारण है कि उनकी रचनाओं में 'मैं' और 'हम' का निरंतर आना-जाना लगा रहता है। उदाहरणार्थः "हम बहुत पाखंडी लोग हैं। हम अपने को प्राचीनतम और महान् संस्कृति वाले कहते हैं। आदर्शवादी समझते हैं, नैतिक मानते हैं, मगर हमसे ज्यादा क्रूर और नीच जाति दुनिया में कोई नहीं अफ्रीका के जंगली कबीलों मे भी नारी पर उतने अत्याचार नहीं होते, जितने हम करते हैं और कहते हैं कि नारी पवित्र है, पूज्या है, माता है, जहाँ नारी की पूजा होती है, वहाँ देवता रमते हैं।" यहाँ स्पष्ट ही पुरुष की तथाकथित सभ्यता और संस्कृति के बरक्स उसकी सामंती मनोवृत्ति को उजागर किया गया है।

5.4 'तीसरे दर्जे का श्रद्धेय' की अंतर्वस्तु

इस पृष्ठभूमि में अब हम परसाई के निबंध **तीसरे दर्जे का श्रद्धेय** को देखें। यह व्यंग्य-रचना 1976 में प्रकाशित उनके व्यंग्य संग्रह 'वैष्णव की फिसलन' में संकलित है। 'परसाई-रचनावली' में इसे खंड-तीन में स्थान मिला है। जिसके विषय में कहा गया है कि इस खंड में 'उनके ललित और विचारधारात्मक निबंध शामिल हैं।' हालांकि परंपरागत अर्थ में साहित्यिक लालित्य और विचारधारा इनसे बहुत दूर है। कम-से-कम **तीसरे दर्जे का श्रद्धेय** निबंध के विषय में कहा जा सकता है कि यह शुद्ध व्यंग्य-निबंध है जिसमें लेखक बुद्धिजीवियों की खबर लेता है तथा उनकी साधारण मध्यवर्गीय मानसिकता का खुलासा करता है। रचनाकार देश-दशा के प्रति उनकी निष्क्रियता को दर्ज़ करता है। परसाई जी किसी भी समस्या को बृहत्तर मानवीय संदर्भों में रखकर समझने का प्रयास करते हैं। उनका मानना है कि लेखक-बुद्धिजीवी समाज की नज़रों में बुद्धिमान और संवेदनशील तो बनना चाहते हैं पर श्रद्धेय होने के लिए जिस मानवीयता, त्याग-तपस्या, निस्पृहता, सहानुभूति और करुणा की आवश्यकता होती है, वह उनमें नहीं मिलती। परसाई जी यह भी मानते हैं कि हमारे जैसे गरीब-अशिक्षित समाज में बुद्धिजीवी का दायित्व अधिक बढ़ जाता है। वह एक ओर गरीब जनता के दुःख दर्द-मज़बूरियों को समझे तो दूसरी ओर उन्हें उनके अधिकार और दायित्वों के प्रति जागरूक करें, जिससे कि कोई भी निहित स्वार्थी तत्व उनकी अल्पज्ञता का लाभ उठाकर उनका शोषण न कर सके। पर होता इसके विपरीत ही है। अपनी मध्यवर्गीय मानसिकता के चलते बुद्धिजीवी अपने तक

सीमित, व्यक्तिवादी, अहंकारी हो जाते हैं और अपने देश की सामान्य जनता से कट जाते हैं। अन्य सामान्य लोगों के समान स्वार्थपूर्ति और दिखावा उनके भी मूल्य बन जाते हैं।

तीसरे दर्जे का श्रद्धेय व्यंग्य रचना का नायक बुद्धिजीवी-लेखक है। जिसके बारे में परसाई जी लिखते हैं कि वह 'बहुत थोड़े में संतुष्ट हो जाता है'। यानी वह उन व्यापार-बुद्धि वाले लोगों में से नहीं है, जो हर वक्त यह सोचते हों कि बेईमानी करके अधिक से अधिक कैसे कमाया जाए। उनके लाभ-लोभ की कोई सीमा नहीं होती। बुद्धिजीवी-लेखक उसकी तुलना में "थोड़े में संतुष्ट हो जाता है।" बस "उसे पहले दर्जे का किराया दे दो ताकि वह तीसरे में सफर करके पैसा बचा ले।" पैसा बचाना उसकी मज़बूरी है या आदत-परसाई इसकी चर्चा नहीं करते। लेकिन व्यंग्य करते हैं कि सामान्य-साधारण व्यक्तियों की तरह उसका भी जीवन-मूल्य पैसा है। शायद परसाई जी को इससे भी उतनी आपत्ति नहीं है। आपत्ति इससे है कि वह अपने को जन सामान्य से अलग क्यों समझता है? यदि वह श्रद्धेय बनना चाहता है, तो अपने अंदर बुद्धिजीवी होने का अहंकार और ढोंग क्यों पालता है? दरअसल अहंकार और ढोंग ही परसाई जी को विचलित करते हैं। उनकी दृष्टि में उसकी उन तथाकथित 'असभ्य' और 'दरिद्र' लोगों से स्वयं को अलग दिखाने की प्रवृत्ति ही अशोभनीय है। इसीलिए ये जनसामान्य के मान-सम्मान के योग्य नहीं रहे। इसीलिए **तीसरे दर्जे का श्रद्धेय** प्रेरणा नहीं देता वह शर्म देता है। फिर भी वह व्यापार-बुद्धि वाले लोगों से अलग है जो हर समय और हर जगह सार्वजनिक लूट की सोचते रहते हैं। ये बुद्धिजीवी कहीं न कहीं मानव सरोकारों के निकट होने के कारण ज्यादा की कामना नहीं करते। थोड़े में खुश हो जाते हैं। 'एकाध माला पहना दो, कुछ श्रोता दे दो और भाषण के बाद थोड़ी-सी तारीफ़ - वह मान जाता है इतने में।' पर अफ़सोस सामाजिक-सांस्कृतिक मूल्य एवं प्रतिबद्धता इनके पास भी नहीं है। रचनाकार स्वयं को इनका प्रतिनिधि मानते हुए समीक्ष्य रचना में एक ऐसी ही घटना की चर्चा करता है: 'मैं भी विश्वविद्यालय में भाषण देकर संतुष्ट था। उस शहर से बीस मील इधर के स्टेशन से मैं तीसरे से पहले दर्जे में आ गया था, जिससे मेजबानों को बुद्धिजीवी को तीसरे दर्जे से उतारने की शर्म न झेलनी पड़े।"

प्रकारांतर से परसाई का कहना है कि व्यक्ति श्रद्धेय अपनी त्याग-तपस्या से बनता है, न कि पैसे की पूजा से। पर आज के इस दौर में लोग धन-दौलत से श्रद्धेय बनना चाहते हैं। लेखक कहता है : 'गांधी जी की बात अलग थी। वे तीसरे को भी पहले दर्ज़े की महिमा दे देते थे। हम पहले दर्ज़े में बैठकर भी तीसरे की हीनता अनुभव करते हैं। संत और बुद्धिजीवी में यही फ़र्क है।' यानी आज के परिवेश में धन, शानो-शौकत का प्रभाव इतना बढ़ गया है कि लेखक इनके बिना हीनता का अनुभव करता है। ऐसे में सामान्य लोगों की तो बात ही क्या! उक्त व्यंग्य-रचना में आगे एक अन्य घटना का हवाला देते हुए परसाई लिखते हैं : 'पाठ्यक्रम में आ गया हूँ। कोर्स का लेखक हो गया हूँ। कोर्स का लेखक वह पक्षी है, जिसके पाँवों में घुंघरू बाँध दिए गए हैं। उसे ठुमक कर चलना पड़ता है। ये आभूषण भी है और बेड़ियाँ भी। रायल्टी मिलने लगती है, तो जी होता है कि 'सत्साहित्य' ही लिखो जिससे लड़के-लड़कियों का चरित्र बने। उसे आचार्यगण तुरंत गले लगा लेंगे। परेशानी यही है कि 'सत्साहित्य' कुल आठ-दस वाक्यों में आ जाता है, जैसे सत्य बोलो, किसी को कष्ट मत दो, ब्रह्मचर्य से रहो, पराई स्त्री को माता समझो, आदि।' यहाँ पाठ्यक्रम में आ जाने के 'ग्लैमर' की चर्चा है। फिर 'सत्साहित्य' और समस्यापरक यथार्थवादी साहित्य की चर्चा है। उनका मानना है कि युगीन समस्या से जुड़े बिना कोई साहित्य 'सत्साहित्य' नहीं हो सकता। अपने एक अन्य निबंध में परसाई लिखते हैं : कितना ही प्रखर बुद्धिजीवी हो, अगर तीसर दर्जे से उतरता हुआ देख लिया जाता है, तो उसका मनोबल घट जाता है।... मैं मनोबल बनाए रखने के लिए पंद्रह-बीस मील पहले तीसरे से पहले दर्जे में आ जाता हूँ और पेट चाहे पचा न सके, अच्छे माँसाहारी होटल में ठहरता हूँ। पहला दर्ज़ा और गोश्त बुद्धिजीवी को प्रखर बनाते हैं।' परसाई अपनी इस रचना में ऐसे बुद्धिजीवियों पर व्यंग्य करते हैं, जो अपनी सुख-सुविधा और स्वार्थ के प्रति जागरूक होते हैं, देश और समाज को प्रति नहीं।

समीक्ष्य व्यंग्य निबंध के मूल पर आते हुए परसाई जी फिर घटनासूत्र को बढ़ाते हैं तथा लेखक के रूप में अपने समय का आकलन प्रस्तुत करते हैं : " मेरे भाषण का विषय था 'आज़ादी के पच्चीस वर्ष' सामने लड़कियाँ बैठी थीं, जिनकी शादी बिना दहेज के नहीं होने वाली थी। बैल की तरह मार्केट से उनके लिए पति खरीदना ही होगा। वर का बाप जचकी तक का खर्च जोड़कर ले लेगा। स्त्री के लिए अभी पत्नी के पद पर नौकरी सबसे सुरक्षित जीविका है और लड़के बैठे थे, जिन्हें डिग्री लेने के बाद सिर्फ़ सिनेमाघर पर पत्थर फैंकने का काम मिलने वाला है। आज़ादी के पच्चीस वर्षों का यही हिसाब है।" अतः रचनाकार की बुद्धिजीवियों से अपील है कि वे झूठी क्रांति का राग न गाएँ। हालाँकि बुद्धिजीवियों की हालत बड़ी अजीब है। परसाई जी लिखते हैं : "बुद्धिजीवी को क्रांति की बात करने में क्या लगता है। वह साहसी कहलाता है, लोकप्रिय होता है - मगर यह छद्म क्रांतिकारिता है। ऐसा लेखक सरकार पर नाटकीय हमले करके सारी, क्रांति विरोधी बुर्जुआ ताकतों को बचा ले जाता है।" यह है बुद्धिजीवियों का चरित्र। रचनाकार स्वयं भी जानता है। इसीलिए लिखता है : "तीन पहले दर्जे का किराया और पेट में मुर्गा बुद्धिजीवी को क्रांतिकारी बना देता है।" शोषक-शासक शक्तियाँ उसे खरीद लेती हैं। वह आँखें मूँद लेता है। इस तरह ये स्वार्थान्ध ताकतें अपना एजेंडा जनता में नीचे तक पहुँचाने, उन्हें बरगलाने में कामयाब हो जाती हैं। बुद्धिजीवी बाहर से जनता का हमदर्द बनता है, परिवर्तन और क्रांति की बातें करता है। पर अंदर-ही-अंदर उनसे मिलकर लाभ उठाता है। रचनाकार लिखता है: "मुर्गा दिन में सबसे पहले क्रांति का आह्वान करता है। क्रांति की बांग देता है और फिर धूड़े पर दाने बीनने लगता है। भारतीय बुद्धिजीवी का भी यही हाल है।" परसाई के अभिन्न मित्र गजानन माधव मुक्तिबोध भी अपनी कविता 'अंधेरे में' में लगभग यही बिंब प्रस्तुत करते हैं :

'दुनिया न कचरे का ढेर कि जिस पर
दानों को चुगने चढ़ा हुआ कोई भी कुक्कुट
कोई भी मुर्गा। यदि बाँग दे उठे जोरदार बन जाए मसीहा'।

मध्यवर्गीय बुद्धिजीवियों की जमात ही ऐसी है। उसकी विश्वसनीयता बहुत कम रह गई है। परसाई अपने एक अन्य निबंध में भी लिखते हैं : "इस देश के बुद्धिजीवी सब शेर हैं। पर वे सियारों की बारात में बैंड बजाते हैं।" इन्हीं सब कारणों से परसाई जी इन पर अपने व्यंग्य-बाणों की वर्षा करते हैं। परसाई जी को इनसे बहुत आशा थी पर उन्होंने निराश किया। उनका मानना था कि यदि ये सचेत रहे होते तथा सामान्य जन को सचेत करने का काम किया होता तो आज के जीवन में व्याप्त आशंका, अविश्वास और अनिश्चय का वातावरण न पैदा हुआ होता। आज जीवन के हर क्षेत्र में संदेह और असुरक्षा की भावना भीतर तक पैठ गई है। अपने समीक्ष्य निबंध में आगे परसाई जी लिखते हैं : "लौटने के लिए स्टेशन पहुँचा तो टहलते हुए सोचने लगा - इन पच्चीस वर्षों ने क्या दिया? इस समय मेरी क्या चिंता है। क्या मैं क्रांति की बात सोच रहा हूँ!? नहीं, मुझ में यात्रा की घबराहट है। मैं बार-बार टिकिट निकालकर देखता हूँ। आज का ही है? कहीं जाली तो नहीं है? रिजर्वेशन सही है कि नहीं? कोई भरोसा नहीं।"

हरिशंकर परसाई देश की दशा से चिंतित-विचलित हैं। वे उससे आँखें नहीं मूँद सकते। उसे दार्शनिक अंदाज़ में व्याख्यायित नहीं कर सकते। वे देशवासियों के चरित्र में आ रहे बदलाव को, सिद्धांत ओर व्यवहार के अंतर को जहाँ-तहाँ रेखांकित करते हैं। सिद्धांत आज सिर्फ़ दिखने के लिए रह गए हैं। जैसे कि गांधी जी का चित्र सिर्फ़ टाँगने के लिए रह गया है। जबकि जीवन-व्यापार गांधी जी के आदर्शों के विपरीत है। इसीलिए **तीसरे दर्जे का श्रद्धेय** का नायक टंगे हुए, चिपके हुए रेलवे टाइमटेबल पर विश्वास नहीं करता है। वह बाबू से पूछता है। यात्रियों से पूछता है। वह बाबू से दुबारा पूछता है, बाबू कहता है 'आपने अभी तो वह चिपका हुआ टाइम टेबल देखा है! मैं कहता हूँ चिपके हुए का क्या भरोसा? पच्चीस सालों से क्या-क्या नहीं चिपका है इस देश में? संविधान के निर्देशक सिद्धांत चिपके हैं। पर अमल नहीं। चिपका है गांधी जी का वाक्य - 'स्वराज्य में हर आँख का आँसू पोंछा जाएगा'। मगर यही तय नहीं हो पा रहा है कि रूला कौन रहे हैं। पचपन करोड़ के हाथों में एक-एक रूमाल दे दिया गया है कि

लों, एक दूसरे के स्वराज्य के आँसू पोंछो। चिपके कागज़ का क्या भरोसा।' यह अविश्वास इस सीमा तक जनता में पैठ गया है कि दूसरों पर क्या अपने पर भी भरोसा नहीं होता। जब कोई व्यवस्था ठीक से काम नहीं करती तो व्यक्ति स्वयं उसी में ढल जाता है। निष्क्रिय-निकम्मा हो जाता है। ऐसे में चिंता, अविश्वास उसका स्थाई भाव बन जाता है। रचनाकार का कथन है : अब मुझे समय की चिंता लग गई है। रेलवे की घड़ी का भरोसा नहीं। महीनों बंद पड़ी रहती हैं ये घड़ियाँ। अपनी घड़ी देखता हूँ पर उस पर भी मुझे भरोसा नहीं। पता नहीं कब चाबी दी।' सिनिक होने की सीमा तक अविश्वास और संदेह की मानसिकता क्या फिर मुक्तिबोध की याद नहीं दिलाता?

समीक्ष्य निबंध के परवर्ती हिस्से में परसाई प्रकृतिस्थ होकर इन सारे घटनाक्रमों का सार इस रूप में प्रस्तुत करते हैं : 'सोचता हूँ मुझे क्या हो गया है? इतना अनिश्चय, इतना अविश्वास! क्या आज़ादी के पच्चीस वर्षों ने यही अनिश्चय और अविश्वास की मानसिकता दी है हमारी पीढ़ी को? और यही हम आगामी पीढ़ी को विरासत में दे रहे हैं?' कहना न होगा आज स्थिति इससे भी बदतर है। उपभोक्तावादी संस्कृति, उसका अनुचर मीडिया सबको लील रहा है। सब कुछ बिकाऊ माल में तब्दील हो रहा है। कुछ को छोड़ अन्य सभी उसके साथ हो लेने में भलाई देख रहे हैं। यह नहीं कि वे विवेकहीन हो गए हैं। दरअसल उनमें सक्रियता की कमी होती चली जा रही है। अपने आडम्बर और स्वार्थपूर्ति के चलते वे इन स्थितियों को अनदेखा कर रहे हैं। अतः उनकी आवाज़ भी भोंथरी होती चली जा रही है। उसे अच्छी तरह मालूम है : जिस रास्ते पर चल रहे हैं, वह 'समाजवाद मार्ग' है, पर ले कहीं और जा रहा है। महात्मा गांधी मार्ग पर सारे ठग रहते हैं। रवीन्द्र मार्ग पर बूचड़ खाना खुला है। परीक्षा में कोई बैठता है, और पास दूसरा हो जाता है।' पर वह क्या करे? अपनी सुख-सुविधाओं के चलते उसमें विरोध करने की नीयत और ताकत नहीं बची है। विरोध करने के लिए सारी सुख-सुविधाओं को त्यागना पड़ेगा। खतरे उठाने पड़ेंगे। क्या वह इसके लिए तैयार है? यदि नहीं, तो रचनाकार अंत में प्रश्न करता है क्या फिर संघर्ष का रास्ता छोड़ नियतिवादी बन जाया जाए? क्या अब यही विकल्प शेष है? परसाई लिखते हैं: 'दवा की शीशी पर नाम सही है, पर पता नहीं क्या खा रहे हैं? 'हनुमान भक्त' मेरा एक मित्र कहता है, 'अब आदमी पर भरोसा नहीं रहा। कुछ निश्चित नहीं है। अब तो हनुमानजी से प्रार्थना करते हैं कि अब के जब राम के काम से गंधमादन जाओ तो हमारे लिए भी पेचिश की दवा लेते आना।' आँखे मूँदना तो समस्या का कोई समाधान नहीं। कहीं न कहीं से तो प्रतिरोध की शुरुआत करनी होगी। अन्यथा स्थिति वही होगी, जो समीक्ष्य निबंध के अंत में लेखक की होती है : 'गाड़ी आती है। तीसरे दर्जे का श्रद्धेय जब अपनी सुरक्षित बर्थ पर जाते हैं, तो देखते हैं कि वहाँ कोई दूसरा बिस्तर फैला रहा है।'

5.5 'तीसरे दर्जे का श्रद्धेय' का संरचना शिल्प

परसाई जी की संवेदना और सरोकार के बाद यदि हम उनके व्यंग्य-निबंधों के शैली-शिल्प का विश्लेषण करें तो पाते हैं कि उनके व्यंग्य-निबंध रूढ़ पारंपरिक शैली में बंधे निबंध नहीं हैं। उनके निबंधों में व्यक्तियों, स्थितियों, विचार सूत्रों के घात-प्रतिघात की श्रृंखला विद्यमान है। घटनाओं और दृश्यों के माध्यम से रचनाकार उसे एक ढीला-ढाला स्वरूप प्रदान करता है। जीवनानुभवों की विविधता और व्यापकता को ध्यान में रखते हुए भी परसाई जी ने निबंध को ही अपनी मुख्य विधा बनाया है। हिंदी के श्रेष्ठ निबंधकार आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने लिखा है : संसार की हर एक बात और सब बातों से संबद्ध है, अपने-अपने मानसिक संगठन के अनुसार किसी का मन किसी संबंध सूत्र पर दौड़ता है। किसी का किसी पर। ये संबंध सूत्र एक दूसरे से ऐसे नथे हुए, पत्ते के भीतर की नसों के समान, चारों और एक जाल के रूप में फैले हुए हैं।' इस संबंध सूत्र का ध्यान परसाई जी अपने निबंधों में सर्वत्र रखते हैं। बीच-बीच में घटनाओं के माध्यम से उसका विकास करते हैं। परिस्थितिजन्य विक्षोभ और संवेदना की तीव्रता के कारण भी निबंध उनके अनुकूल पड़ता है। अतः निबंध उनकी प्रिय विधा बन जाता है। कुछ आलोचक इन्हे व्यंग्य-निबंधकार नहीं, कहानीकार मानते हैं। परसाई जी ने कहानियाँ भी लिखी हैं, पर उनकी संख्या कम है। उनके निबंधों में ही कहानियों का भ्रम हो जाता है। कारण,

'परसाई निबंध कहते हैं। उनके निबंध कहानी के बहुत निकट हैं। वे कहानी जैसे लगते हैं। यहाँ कहानी का मतलब रूप की दृष्टि से प्रेमचंद जैसे लेखकों की कहानी से है। 'कहानी' यानी जो कही जाए - लिखी गई न मालूम पड़े।" (देश के इस दौर में, डॉ. विश्वनाथ त्रिपाठी) कथनीय है कि उनके निबंध कहीं से गुरू गंभीर नहीं लगते हैं। उनके निबंधों का प्रारंभ प्रायः किसी घटना या प्रसंग से होता है। जैसे **तीसरे दर्जे का श्रद्धेय** निबंध में 'मैं' एक विश्वविद्यालय में भाषण देने जाता है। यह घटना उक्त निबंध के बीच में आकर कहानी का ढाँचा खड़ा करती है। किंतु ध्यान रहे, 'मैं' का चरित्र-चित्रण करना रचनाकार का उद्देश्य नहीं है। हालांकि 'मैं' परसाई के रचना संसार में सर्वत्र व्याप्त है। इस 'मैं' का चरित्र चित्रण करना इसलिए असंभव है क्योंकि 'वह साहसी, कायर, उदार, अनुदार, लोभी, दानी, अवसरवादी, त्यागी, स्वार्थी, प्रेमी, रसिक, गंभीर चिंतक, विदूषक, सच्चा-झूठा, क्रूर सहृदय कुछ भी हो सकता है।' वह रचना में कहीं से भी कूदकर आ सकता है। कहीं भी कोई दृष्टांत - उदाहरण दे सकता है। घटना घटित कर सकता है। फिर थोड़ी देर के लिये गायब होकर पुनः उपस्थित हो सकता है। कुछ विद्वानों ने इसे लोक संपृक्ति का प्रतीक माना है। कुछ ने परसाई जी का मुखौटा। इसके माध्यम से परसाई जी किसी भी समस्या पर स्वांग भर अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त कर सकते हैं। इससे निबंध रचना में कहानी के साथ-साथ नाट्य तत्व का भी समावेश हो जाता है।

यथार्थ को कहने की बजाय परसाई जी उसे दृश्य में ढालना अधिक पसंद करते हैं। उनकी यह दृश्यता शब्द चित्र के रूप में या सादृश्य विधान के रूप में अधिक प्रकट होती है। **तीसरे दर्जे का श्रद्धेय** निबंध में रचनाकार का कोर्स के लेखक बन जाने पर यह उपमान लाना उनके सादृश्य विधान का ही प्रमाण है : 'कोर्स का लेखक हो गया हूँ। कोर्स का लेखक वह पक्षी है, जिसके पाँवों में घुंघरू बाँध दिए गए हैं। उसे ठुमक कर चलना पड़ता है।" प्रसंगतः परसाई जी के सहधर्मा रचनाकार नागार्जुन भी व्यंग्य में कोर्स में आ गई रचना को 'सुहागिन' रचना कहा करते थे। यह नाटकीयता का ही तत्व है जो परसाई जी की रचनाओ में प्रायः मिलता है।

दृश्यों, घटनाओं, स्थितियों के अनुसार उनकी भाषा तदनुरूप हो जाती है। कहीं तत्सम, कहीं तद्भव। अधिकांश में परसाई बोलचाल की भाषा में अपनी बात कहते पाए जाते हैं। विषयवस्तु की माँग के अनुसार वे कहीं देसी तेवर वाली मुहावरात्मक तो कहीं ठेठ तत्सम शब्दावली का प्रयोग करते हैं। उदाहरणार्थ : 'मुर्गा दिन में सबसे पहले क्रांति का आह्वान करता है। क्रांति की बांग देता है और फिर धूड़े पर दाने बीनने लगता है। भारतीय बुद्धिजीवियों का भी यही हाल है।" यहाँ मुर्गा 'क्रांतिकारी' बुद्धिजीवियों का प्रतीक है, जो अपने लाभ-लोभ में लिप्त है। कहीं कोई अस्पष्टता न रह जाए, इसके लिए रचनाकार अपने मंतव्य को पुनः मुहावरात्मक शैली में अभिव्यक्त करता है। 'क्रांति की बांग, धूड़े पर दाने चुगना और हलाल होने का इंतज़ार करना। यों दूध और कलाकंद खाने वाले (नहीं, सेवन करने वाले) भी अपने को क्रांतिकारी बुद्धिजीवी कहते हैं, पर मैं नहीं मानता।" ध्यान दे, 'खाने वाले (नहीं, सेवन करने वाले) में अर्थ एक ही होते हुए भी व्यंग्य के अनुरूप 'खाने' में जो व्यंजना है, रचनाकार देसी भाषा के माध्यम से उसे स्पष्ट करता है। 'सेवन करने' में व्यंग्य की मारक क्षमता में कमी आ जाती है, परंतु नफ़ासत भी आ जाती है। लेखक भाषा में नफ़ासत पर नहीं, व्यंग्य की मारक क्षमता पर अपनी दृष्टि अधिक जमाए रखता है।

सारांश यह कि हरिशंकर परसाई के व्यंग्य-निबंधों की विषयवस्तु में जीवनानुभवों की विविधता, संवेदना की व्याप्ति और जटिलता मिलती है। जो विधा के रूप में उनकी रचना को कहीं औपन्यासिक बिखराव तो कहीं नाटकीय द्वंद्व से युक्त कर देती है। कहीं वे अपने मंतव्य को कम-से-कम शब्दों में संप्रेषित करते हैं। इसके लिए उन्होंने अपनी रचनाओं में कहीं रेखाचित्र और संस्मरणों की शैली को अपनाया है तो कहीं डायरी और रिपोर्ताज शैली को। ध्यान रहे, यहाँ भी रचनाकार के लिए कथात्मकता या दृश्यात्मकता नहीं अतः सूत्र के रूप में विद्यमान विचार सूत्र महत्वपूर्ण है। इसके लिए उन्हें चाहे जिस विधा या शैली-शिल्प को अपनाना पड़े।

क्या परसाई के समीक्ष्य निबंध या उनके अन्य व्यंग्य-निबंधों का उद्देश्य स्वातंत्र्योत्तर भारत की भ्रष्ट व्यवस्था, मूल्यहीनता या अवसरवादिता को उजागर करना है? शायद नहीं। परसाई अपने सृजनात्मक साहित्य के द्वारा उन लोगों के क्रियाकलापों को दर्शाना चाहते हैं जो हमारे देश की मानवीय विरासत को सिर्फ़ नारे के रूप में कभी-कभार इस्तेमाल कर रहे हैं और इस बहाने जनसामान्य का शोषण करने वाली ताक़तों के साथ मिल जनता को मूर्ख बनाने का प्रयास कर रहे हैं। परसाई जी पूरे प्राणपण के साथ अपनी रचनाओं में उनका पर्दाफ़ाश करते हैं और इन अमानवीय ताक़तों के खिलाफ उठ खड़े होने का आह्वान करते हैं।

5.6 'तीसरे दर्जे का श्रद्धेय' का प्रतिपाद्य

उपर्युक्त परिप्रेक्ष्य में यदि **तीसरे दर्जे का श्रद्धेय** के नायक बुद्धिजीवी-लेखक को देखें तो प्रश्न उठता है कि आखिर वह हीनताग्रंथि से पीड़ित क्यों है? शायद यह उसका अपना खोखलापन है। मिथ्या आदर्श और ढोंग से पैदा आत्मविश्वास की कमी है। उन्हें अपने देश, अपने समाज के लिए जो कुछ करना चाहिए था - उसमें वे बुरी तरह चूक गए हैं। स्वयं को भी इसी वर्ग में सम्मिलित करते हुए परसाई 'सदाचार का ताबीज़' व्यंग्य संग्रह की भूमिका में लिखते हैं : "बुद्धिजीवियों ने इस देश के साथ धोखा दिया। इस देश की जनता के साथ घृणित छल किया ... हमने नासमझी और गैर जिम्मेदारी और कायरता अख्तियार की। हमने कोई खतरा नहीं उठाया।" (कैफियत से) इससे क्या हुआ? समीक्ष्य निबंध में 'आज़ादी के पच्चीस वर्ष' वाले भाषण में हमारे आज के जीवन की वास्तविकता, उसके कटु सत्य व्यक्त हुए हैं। सब कुछ को हमने अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिए अपने हित में इस्तेतमाल करना सीख लिया है। सारे सिद्धांत नारे बन गए हैं। इससे आगे उनकी कोई हैसियत ही नहीं बची। बल्कि काम उसके विपरीत ही किया जा रहा है। परसाई इससे बहुत दुःखी और विक्षुब्ध हैं। इसीलिए वे बुद्धिजीवियों पर बार-बार व्यंग्य करते हैं। उन्हें जगाने का प्रयास करते हैं।

निष्कर्ष यह कि हरिशंकर परसाई जीवन और साहित्य में बनी-बनाई हर कसौटी को तोड़ते हैं। आडम्बर और अनावश्यकता उनके यहाँ न विषयवस्तु में मिलती है, न भाषा-शैली में। वे सरल, रोचक और मार्मिक ढंग से अपनी बात पाठक के हृदय में उतार देते हैं। जीवन की जटिलताओं के आर-पार जाते हुए वे जनता की छिपी शक्तियों को उभारने का प्रयास करते हैं। कथनीय है कि जनता में उन्हें असीम विश्वास है। जिसका उल्लेख उनकी रचनाओं में यत्र-तत्र मिलता है। स्पष्ट है, इस प्रक्रिया मे हमें उनके व्यापक अनुभव, गहरी अध्ययनशीलता, वैज्ञानिक विचार दृष्टि तथा यथार्थ को पकड़ने-विश्लेषित करने वाली रचनात्मक क्षमता के दर्शन होते हैं। तीसरे दर्जे का श्रद्धेय निबंध इसका प्रमाण है।

5.7 सारांश

आपने इस चौथे खंड की अंतिम इकाई का अध्ययन कर लिया है। इस इकाई में हरिशंकर परसाई द्वारा लिखित निबंध **तीसरे दर्जे का श्रद्धेय** के विवेचन का अध्ययन किया है। यह एक व्यंग्य निबंध है। व्यंग्य निबंध वैचारिक, भावात्मक और ललित निबंध से किस रूप में अलग है, इस बात को आप इस पूरे खंड का अध्ययन करने से समझ गए होंगे। निबंधों में व्यंग्य का प्रयोग सबसे अधिक भारतेंदु युग के लेखकों ने किया था, जिसकी एक झलक आप **धोखा** निबंध के अध्ययन के दौरान देख चुके हैं। लेकिन व्यंग्य निबंध को एक स्वतंत्र विधा के रूप में मान्यता दिलवाने का श्रेय श्री हरिशंकर परसाई को है।

परसाई जी प्रगतिशील रचनाकार थे। उन्होंने व्यंग्य के माध्यम से समाज में व्याप्त-शोषण, उत्पीड़न, भ्रष्टाचार, कुरीतियों को उजागर किया है, विशेषकर समाज के शक्तिशाली वर्गों के दोहरे चरित्र, उनकी विसंगतियों और समाज के कमज़ोर वर्गों के जीवन के कष्टों और विडंबनाओं को उन्होंने अपनी रचनाओं का विषय बनाया है।

तीसरे दर्जे का श्रद्धेय एक व्यंग्य निबंध है जिसमें उन बुद्धिजीवियों पर व्यंग्य किया गया है जो बातें तो क्रांतिकारिता की करते हैं, लेकिन जिनका जीवन छोटे-छोटे स्वार्थों की पूर्ति करने से संचालित होता है। जो सरकार और राजसत्ता के विरुद्ध आग उगलते हैं, लेकिन मामूली से लाभ के लिए किसी भी तरह का समझौता करने से नहीं कतराते। इसके लिए वे अपने व्यंग्य में दृष्टांतों का भी सहारा लेत हैं। ये ऐसे बुद्धिजीवी हैं जो पहले दर्जे का किराया लेकर तीसरे दर्जे में यात्रा करते हैं। जिनकी हैसियत तो साधारण लोगों-सी होती हैं, लेकिन जो अपने को उनसे अलग और विशिष्ट समझते हैं।

इस निबंध को व्यंग्य निबंध कहा गया है। लेकिन परसाई जी के निबंधों में कहानी की विशेषताएँ और कहानी में निबंध की विशेषताएँ पाई जाती हैं। यह हम इस रचना में भी देख सकते हैं। इसके बावजूद इसे हम कहानी इसलिए नहीं कहेंगे कि इसमें कहानी के सभी तत्व नहीं है। न तो कथावस्तु है, न चरित्रों का सम्यक् चित्रण। 'मैं' शैली में लिखा गया यह निबंध कहानी की विशेषताओं का इस्तेमाल करता है।

इस निबंध की भाषा बोलचाल की भाषा है। बोलचाल की भाषा को व्यंग्य के अनुकूल बनाने के लिए वे ऐसी कथन-भंगिमा इस्तेमाल करते हैं जिसमें कहानी, कविता, लोककथा, उपदेशात्मकता आदि कई तत्वों का इस्तेमाल होता है। इनके व्यंग्य निबंध में न तो वैचारिकता की बोझिलता होती है, न भावनाओं का ऊहापोह। इसके बावजूद भाषा में इन सभी बातों का प्रभाव स्पष्ट नज़र आता है।

इकाई के अध्ययन से आपको उक्त निबंध की विशेषताओं को समझने में मदद मिली होगी।

अभ्यास

1. व्यंग्य निबंध की विशेषताओं की दृष्टि से परसाई जी के निबंध **तीसरे दर्जे का श्रद्धेय** का विवेचन कीजिए।
2. **तीसरे दर्जे का श्रद्धेय** में बुद्धिजीवियों पर किये गये व्यंग्य से लेखक क्या कहना चाहता है? अपना मत प्रस्तुत कीजिए।

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त
विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

MAHI-111
निबंध और अन्य गद्य विधाएँ

खंड

2

गद्य साहित्य की अन्य विधाएँ-II

इकाई 6
रेखाचित्र : ठकुरी बाबा

इकाई 7
संस्मरण : वसंत का अग्रदूत

इकाई 8
जीवनी : कलम का सिपाही

इकाई 9
आत्मकथा : क्या भूलूँ क्या याद करूँ

पाठ्यक्रम विशेषज्ञ समिति

प्रो. ओम अवस्थी
गुरू नानक देव
विश्वविद्यालय, अमृतसर
प्रो. गोपाल राय
नई दिल्ली
प्रो. नामवर सिंह
नई दिल्ली
प्रो. नित्यानंद तिवारी
दिल्ली विश्वविद्यालय,
दिल्ली
प्रो. निर्मला जैन
गुड़गाँव, हरियाणा
प्रो. प्रेम शंकर
सागर विश्वविद्यालय
सागर
प्रो. मुजीब रिज़वी
नई दिल्ली
प्रो. मैनेजर पाण्डेय
जवाहरलाल नेहरु विश्वविद्यालय
नई दिल्ली
प्रो. रामस्वरूप चतुर्वेदी
इलाहाबाद
प्रो. ललन राय
शिमला
प्रो. शिवकुमार मिश्र
वल्लभ विद्यानगर
गुजरात
स्व. शिव प्रसाद सिंह
प्रो. सूरजभान सिंह
नई दिल्ली

संकाय सदस्य
प्रो. वी.रा. जगन्नाथन

कार्यक्रम संयोजक
डॉ. जवरीमल्ल पारख
डॉ. रीता रानी पालीवाल
डॉ. सत्यकाम
डॉ. राकेश वत्स
डॉ. शत्रुघ्न कुमार
डॉ. नीलम फारूकी
श्रीमती स्मिता चतुर्वेदी
डॉ. विमल खांडेकर

पाठ्यक्रम निर्माण

मूल लेखक	इकाई संख्या	संशोधन
डॉ. रेखा अवस्थी दिल्ली विश्वविद्यालय	20	जवरीमल्ल पारख (इकाई 23)
डॉ. रामेश्वर शर्मा दिल्ली विश्वविद्यालय	21	
डॉ. रेखा सेठी दिल्ली विश्वविद्यालय	22	
डॉ. देवेन्द्र चौबे जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय	23	

पाठ्यक्रम संपादक
प्रो. निर्मला जैन

पाठ्यक्रम संयोजक
डॉ. जवरीमल्ल पारख
डॉ. नीलम फारूकी

खंड संपादन
डॉ0 जवरीमल्ल पारख

निर्माण सहयोग

मुद्रण
श्री कुलवंत सिंह
अनुभाग अधिकारी (प्रकाशन)

कैमरा रेड्डी कॉपी
श्री नरेश कुमार

आवरण
शंख सामंता

मार्च, 2003 (पुनर्मुद्रित)

© इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, 2000

ISBN- 81-7605-844-0

सर्वाधिकार सुरक्षित। इस कार्य का कोई भी अंश इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय की लिखित अनुमति के बिना किसी भी रूप में मिमियोग्राफ (मुद्रण) द्वारा या अन्यथा पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

खंड 2 का परिचय

एम.ए. हिंदी के बीज पाठ्यक्रम-4 'नाटक और अन्य गद्य विधाएँ' का यह पाँचवा खंड है। इसमें कुल चार इकाइयाँ हैं। इकाई 20 जो इस खंड की पहली इकाई है, का संबंध महादेवी वर्मा द्वारा रचित रेखाचित्र 'ठकुरी बाबा से है। इस इकाई में उक्त रेखाचित्र की विशेषताओं पर विचार किया गया है। इकाई 21 का संबंध अज्ञेय द्वारा लिखे गए संस्मरण 'वंसत का अग्रदूत' से है। यह संस्मरण छायावाद के प्रख्यात कवि निराला से संबंधित है। अज्ञेय भी हिंदी के प्रमुख कवि और कथाकार हैं। इस दृष्टि से यह संस्मरण अत्यंत महत्वपूर्ण है। इस इकाई में इस संस्मरण के विभिन्न पक्षों का गहन विवेचन किया गया है। इकाई 22 का आधार अमृतराय द्वारा लिखित आत्मकथा 'कलम का सिपाही' से है। अमृतराय प्रेमचंद के पुत्र थे और स्वयं भी हिंदी के लब्धप्रतिष्ठ रचनाकार थे। प्रेमचंद की इस जीवनी में अमृतराय ने प्रेमचंद के व्यक्तित्व के विभिन्न पहलुओं को अपने समय और समाज के परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत किया है। जीवनीकार में जिस तरह की संवेदनशीलता और वस्तुगतता आवश्यक है वह अमृतराय द्वारा लिखी गई इस जीवनी में व्यक्त हुई है। जीवनी की इन विशेषताओं का अध्ययन आप इस इकाई में करेंगे। खंड की अंतिम इकाई में हिंदी के छायावादोत्तर कवि हरिवंशराय बच्चन की आत्मकथा 'क्या भूलूँ क्या याद करूँ' पर विचार किया गया है। बच्चन की यह आत्मकथा हिंदी की श्रेष्ठ आत्मकथाओं में परिगणित की जाती है। इकाई में आत्मकथा की अंतर्वस्तु लेखकीय विचार, संरचना वैशिष्ट्य और महत्व पर प्रकाश डाला गया है।

हिंदी गद्य की ये चारों विधाएँ अत्यंत महत्वपूर्ण है। ये यथार्थ पर आधारित अकल्पनाशील लेखन की महत्वपूर्ण विधाएँ हैं। इनमें लेखक या तो अपने बारे में लिखता है (आत्मकथा), या अपने जीवन में आए दूसरे लोगों के बारे में (रेखाचित्र और संस्मरण) या ऐसे किसी महान् व्यक्ति के जीवन का वृहद् चित्रण करता है जिसके बारे में वह मानता है कि पाठकों को उनके बारे में जानना चाहिए। हमने 'कलम का सिपाही' और 'क्या भूलूँ क्या याद करूँ' के दो अंश पढ़ने के लिए पाठ के रूप में रखे हैं और जो अलग से पाठ्य पुस्तक के रूप में आपको उपलब्ध कराए गए हैं। इस खंड को पढ़ने से पहले हम आपसे यह अपेक्षा करते हैं कि आप उक्त चारों पाठों (रचनाओं) को जरूर पढ़ लें। साथ ही, पाठ्यक्रम निर्देशिका में इन रचनाओं और रचनाकारों का जो संक्षिप्त परिचय दिया गया है उनका भी अध्ययन करें। हम आपसे यह भी अपेक्षा करते हैं कि आप सिर्फ निर्धारित पाठों तक ही सीमित न रहें बल्कि आत्मकथा और जीवनी दोनों का पूरा अध्ययन करें। साथ ही महादेवी वर्मा द्वारा लिखे दूसरे रेखाचित्रों और अज्ञेय द्वारा लिखित दूसरे संस्मरणों का भी अध्ययन करें। इससे आपको इन रचनाओं को समझने में भी मदद मिलेगी।

इकाई रेखाचित्र : ठकुरी बाबा

इकाई की रूपरेखा

6.0 उद्देश्य
6.1 प्रस्तावना
6.2 रेखाचित्र के रूप में **ठकुरी बाबा**
6.3 **ठकुरी बाबा** में सामाजिक चेतना
6.4 **ठकुरी बाबा** की भाषा और शिल्प
6.5 **ठकुरी** बाबा का मूल्यांकन
6.6 सारांश

6.0 उद्देश्य

एम.ए. हिंदी के बीज पाठ्यक्रमों के चौथे पाठ्यक्रम **नाटक और अन्य गद्य विधाएँ** के पाँचवे खंड की यह पहली और पाठ्यक्रम की बीसवीं इकाई है। इस इकाई में छायावाद की महान् कवयित्री महादेवी वर्मा द्वारा लिखित रेखाचित्र **ठकुरी बाबा** का अध्ययन करने जा रहे हैं।

इस इकाई में एक रेखाचित्र के रूप में **ठकुरी बाबा** की विशिष्टता की पहचान कर सकेंगे। **ठकुरी बाबा** का महत्त्व क्यों है और वह महादेवी के दूसरे रेखाचित्रों से किस रूप में भिन्न है, इसको भी समझ सकेंगे।

ठकुरी बाबा साधारण अर्थ में रेखाचित्र ही नहीं है। महादेवी ने इसके माध्यम से ग्राम्य समाज के उस हिस्से की सामाजिक दशा का यथार्थ चित्रण किया है जो जीने के लिए जरूरी बुनियादी साधनों से भी वंचित है। लेकिन इसके बावजूद उनमें गहरी मानवीय सहानुभूति, करुणा, जीवन राग और कर्मठता मौजूद है। इस रेखाचित्र में व्यक्त सामाजिक चेतना की उक्त विशेषताओं को भी आप इकाई के माध्यम से समझ सकेंगे।

महादेवी वर्मा के रेखाचित्रों में भाषा और शिल्प का प्रयोग अत्यंत सावधानीपूर्वक किया गया है। रेखाचित्रों की शिल्पगत विशिष्टता और उसके भाषिक सौंदर्य को समझने में यह इकाई आपकी मददगार होगी।

ठकुरी बाबा महादेवी का चर्चित रेखाचित्र न होते हुए भी अत्यंत महत्वपूर्ण है। अत्यंत विराट फलक और गहरी सामाजिक संवेदनशीलता इसकी मुख्य विशेषताएँ हैं। इकाई के अध्ययन से आप सामान्य तौर पर महादेवी के रेखाचित्रों को और खास तौर पर **ठकुरी बाबा** का सम्यक् मूल्यांकन करने में मदद मिलेगी।

6.1 प्रस्तावना

नाटक और अन्य गद्य विधाएँ नामक इस पाठ्यक्रम के पाँचवें खंड की यह पहली इकाई है। आपने महादेवी वर्मा का रेखाचित्र **ठकुरी बाबा** को अवश्य पढ़ लिया होगा। अगर नहीं पढ़ा है तो अवश्य पढ़ लें। इसके बाद आप इस इकाई को पढ़ेंगे तो आपको इसे समझने में मदद मिलेगी। हमने पाठ्यक्रम-निर्देशिका में महादेवी वर्मा के लेखकीय व्यक्तित्व और रेखाचित्र की विशेषताओं के बारे में भी बताया है।

इस खंड में आप जिन इकाइयों का अध्ययन करने जा रहे हैं उनका संबध रेखाचित्र, संस्मरण, जीवनी और आत्मकथा से है। इस खंड की इस पहली इकाई में आप महादेवी वर्मा द्वारा लिखित **ठकुरी बाबा** के बारे में पढ़ेंगे। **ठकुरी बाबा** काल्पनिक चरित्र नहीं है बल्कि इस रेखाचित्र में आए सभी चरित्र वास्तविक हैं और जिन घटनाओं का उल्लेख किया गया है वे भी वास्तविक हैं। महादेवी वर्मा अपने जीवन में आए कुछ ऐसे लोगों को अपने रेखाचित्रों का पात्र बनाती हैं जो सामाजिक दृष्टि से अत्यंत गरीब, अशिक्षित और साधारण होते हैं। लेकिन उनके जीवन में बहुत कुछ ऐसा है जो लेखिका को उस समाज में दिखाई नहीं देता जो शिक्षित, सम्पन्न और विशिष्ट लोगों का है। इन साधारण लोगों के जीवन की असाधारणता को उभारने और अपने हृदय की संपूर्ण संवेदना और रचनात्मक ऊर्जा के साथ उन्हें शब्दबद्ध करने का प्रयास ही हमें महादेवी के रेखाचित्रों में दिखाई देता है।

महादेवी वर्मा ने कई सारे रेखाचित्र लिखे हैं। **ठकुरी बाबा** उनमें से एक है। यह रेखाचित्र कई दृष्टियों से उनके अन्य रेखाचित्रों से अलग भी है और विशिष्ट भी। इकाई में इसके इस पक्ष पर विचार किया गया है। लेखिका ने रेखाचित्र में जो शैली अपनाई है और भाषा का जैसा प्रयोग किया है, आप उससे प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकते। लेकिन आपको यह भी विचार करना है कि इस रेखाचित्र की भाषा और उसके शिल्प में वे कौन-सी बातें हैं जिनसे यह रेखाचित्र इतना प्रभावशाली बन सका है।

इस रेखाचित्र का नाम **ठकुरी बाबा** है। लेकिन उसमें सिर्फ **ठकुरी बाबा** ही नहीं है। अन्य कई पात्र हैं जिनका अपना व्यक्तित्व है, अपनी कथा है, अपने दुख हैं। इन सब पात्रों के जीवन से मिलकर जो समाज हमारे सामने आता है, उनकी तकलीफें और उनके दुख हमारे सामने आते हैं तो हमारा हृदय करुणा से विगलित हुए बिना नहीं रहता। यह करुणा निष्क्रिय सहानुभूति पैदा करने वाली करुणा नहीं है बल्कि हमें अपने समाज के अंतर्विरोधों को समझने की चेतना और दृष्टि देने वाली करुणा है। वह हमें निष्क्रिय नहीं बनाती सक्रिय बनाती हैं। **ठकुरी बाबा** क मूल्यांकन उसकी इस भूमिका के संदर्भ में भी करना चाहिए।

ठकुरी बाबा का अध्ययन आप ऐसे समय करने जा रहे हैं जबकि उस समाज की चिंता और उनके प्रति सहानुभूति मध्य वर्ग में कम होती जा रही है। **ठकुरी बाबा** में महादेवी ने उस शिक्षित समाज की कमज़ोरियों को भी दर्शाया है जिसके कारण **ठकुरी बाबा** और उनके संगी-साथियों का व्यक्तित्व असाधारण बनकर उभरता है। **ठकुरी बाबा** जैसे लोगों के बारे में आज समाज ने चिंता करना छोड़ दिया है। क्या यह सामाजिक दृष्टि से श्रेयस्कर है? ठकुरी बाबा हमारे समाज की इस ऐतिहासिक विडम्बना को भी उजागर करता है।

आप इस इकाई के अध्ययन से **ठकुरी बाबा** के अध्ययन का सही परिप्रेक्ष्य पा सकेंगे, ऐसी आशा है।

6.2 रेखाचित्र के रूप में 'ठकुरी बाबा'

कहानी, उपन्यास, नाटक और प्रबंध काव्य की तरह स्केच अथवा रेखाचित्र में भी पात्र होते हैं। महादेवी वर्मा द्वारा लिखित संस्मरणात्मक रेखाचित्रों में प्रायः एक ही केंद्रीय पात्र होता है। अपने संपर्क में आए लोगों की स्मृतियों को वे सिलसिलेवार ढंग से एक घटनापूर्ण आख्यान के रूप में व्यवस्थित करती हैं ताकि केंद्रीय पात्र के चरित्र के आंतरिक और बाह्य पहलुओं पर ठीक से रोशनी पड़ सके और पाठक उसके व्यक्तित्व के आर-पार झाँक सके।

ठकुरी बाबा नामक रेखाचित्र को ही देखिए। ध्यान से पढ़ने पर आपको पता चलेगा कि महादेवी ने प्रसंग तो शुरू किया है अपने कल्पवास के अनुभव का, और प्रकारांतर से भक्तिन के चरित्र

के भी कुछ पहलू उजागर होते चलते हैं, पर उनका वास्तविक अभिप्रेत है - ठकुरी के चरित्र का रेखाकन। यद्यपि बीच-बीच में कल्पवास से संबंधित धार्मिक रिवाज और प्रथा की पुरातन युगीन मूल प्रेरणा का तात्पर्य भी प्रस्तुत किया गया है, पर ठकुरी से संपर्क की कहानी शुरू होते ही लेखिका का पूरा फोकस उस पात्र के व्यक्तित्व पर केंद्रित हो जाता है।

महादेवी के कल्पवास की कुटिया में संक्राति के एक दिन पहले संध्या समय ग्रामीण यात्रियों का एक दल आ घुसा। एक बूढ़े सज्जन कल्पवास के रैनबसेरे में ठहरने की अनुमति माँगने लगे। वे अकेले न थे - पूरी एक टोली थी उनके साथ। ठहरने की अनुमति मिल गई। चूँकि वृद्ध सज्जन का स्वर स्नेहसिक्त था और उसमें आत्मीयता भी थी। लेखिका की पर्णकुटी कोलाहल से परिपूर्ण हो गई। इस बूढ़े बाबा ने पर्णकुटी के बरामदे में अपना पूरा आडम्बर फैला लिया। फटी और अनिश्चित रंग वाली दरी, दूसूती का बिछौना, मैले फटे कपड़ों की गठरी, लाल चिलम का मुकुट पहने नारियल का काला हुक्का, सुरती का बटुआ, काली मिरजई, तैल स्नान से चिकनी बनी गाँठदार लाठी और निवाड़ से बनी खटपटी।

रेखाचित्रकार ने बूढ़े बाबा के सामान के साथ उनका हुलिया भी पेश कर दिया। 'सिर का अग्रभाग खल्वाट होने के कारण चिकना चमकीला था, पर पीछे की ओर कुछ सफेद केशों को देखकर जान पड़ता था कि भाग्य की कठोर रेखाओं से सभीत होकर वे दूर जा छिपे हैं। छोटी आँखों में विषाद, चिंतन और ममता का ऐसा सम्मिश्रित भाव था जिसे एक नाम देना संभव नहीं। लंबी नाक के दोनों और खिंची हुई गहरी रेखाएँ दाढ़ी में विलीन हो जाती थीं।'

नंगे पाँव और घुटनों तक ऊँची धोती पहने इस बूढे बाबा की लंबी सफेद दाढ़ी के बीच कुछेक काले बाल विचित्र-सा आकर्षण पैदा करते थे। यही थे **ठकुरी बाबा**। वे भाट वंश में पैदा हुए थे। चारणों की परम्परा के अवशिष्ट थे वे, अतः उनका धंधा 'व्यक्तिगत मनोविनोद' मात्र रह गया था। पैतृक धंधे के रूप में प्राप्त इस काव्य-कला के कारण वे दुनियादार आदमी कभी बन ही न सके। यही कारण था कि पैतृक सम्पत्ति और ज़मीन-जायदाद की कभी फिक्र ही नहीं की और सौतेले भाइयों ने सांसारिकता से उन्हें अलग ही रखा। भौजाइयों ने ठकुरी की पत्नी की निंदा का अभियान जारी रखा ताकि उसकी गर्दन पर मेहनत-मशक्कत का कठोर जुआ लादा जा सके। रेखाचित्रकार महादेवी की टिप्पणी है - 'ठकुरी बेचारे कवि ठहरे। शुष्क यथार्थता उनकी भाव-बोझिल कल्पना के घटाटोप में प्रवेश करने के लिए रंध्र ही न पाती थी।'

काव्य-जनित अकर्मण्यता, भाइयों की उपेक्षा, भौजाइयों की व्यंग्य-वाणी आदि उनकी पत्नी की मर्म-पीड़ा का कारण थी। पर ठकुरी इसे भी न समझ पाते थे। वह इस लगातार उपेक्षा और यातना के बीच डेढ़ वर्ष की बालिका को छोड़कर प्रसूति-ज्वर से पीड़ित होकर अपने कठोर जीवन से मुक्त हो गई। पत्नी की मृत्यु के बाद ही वे वास्तविक पति और पिता बन सके। बेटी बेला के लिए वही बाप भी थे और माँ भी। दुर्भाग्य ऐसा कि जवान होते न होते बेला का पति चेचक के कारण अंधा हो गया। ससुर ने अंधे दामाद को भी काव्य की शिक्षा दे दी और घर चलाने के लिए जिस बूढ़ी मौसी को ठकुरी अपने घर ले आए, वह भी इसी काव्य-संगीत मंडली का हिस्सा बन गई।

ठकुरी चिकारा बजाकर भक्ति के पद गाते हैं, दामाद खंजरी पर तान संभालता है, बूढ़ी मौसी तन्मय होकर मंजीरा झनकार देती है और बेला घर का झंझट सिर पर ओढ़े भागती-दौड़ती रहती है। ठकुरी के घर पर अब एक भैंस, दो पछाहीं गायें और थोड़ी-बहुत खेती है। अतः जीवन-यापन की मूलभूत समस्या अब उन्होंने हल कर ली है। लेकिन **सहज स्वभाव** और **गहरी इन्सानी रिश्तेदारी** के कायल**ठकुरी बाबा** पूरे मस्तमौला और फक्कड़ थे। कोई गुड़ की एक डली के बदले उनसे आधा सेर आटा ले जाता है, कोई चार मिर्च देकर आलू शकरकंद का फलाहार पा जाता है, कोई तोला भर दही के बदले कटोरा भर चावल उड़ा ले जाता है और रत्ती भर घी देकर लुटिया भर दूध मांग लेता है। दूसरों को देने में, दूसरों की ज़रूरत के

वक्त काम आने में ठकुरी को एक विशेष प्रकार का सुख मिलता है। 'वह भावुक और विश्वासी जीव हैं।' चिकारा हाथ में लेते ही उनके लिए संसार का अर्थ बदल जाता है। उदारता, सहज सौहार्द, सरल भावुकता आदि ग्रामीण जीवन की सहजता के लक्षणों के वे मूर्तिमान अवतार हैं।

कल्पवास के लिए वे जिस कुटुम्ब या टोली को साथ लाए हैं, उनमें विधवा ठकुराइन हैं जो परिवार की उपेक्षा के कारण ठकुरी की सहज अनुकम्पा पाकर फूली न समातीं, अपने पति से उपेक्षित एक सहुआइन हैं जो दो किशोर बालकों को पालने के लिए कठिन संघर्ष से गुज़र रही हैं। इन दोनों के बाद ठकुरी के कुटुम्ब में एक विधुर काछी अपनी दो बेटियों के साथ मौजूद हैं। इनके अतिरिक्त, एक ब्राह्मण दम्पत्ति भी हैं।

भक्तिन और ठकुरी समेत पूरा कुटुम्ब कल्पवास की अवधि में माघी पूर्णिमा के पहले आने वाली त्रयोदशी की रात लेखिका के यहाँ भजन-कीर्तन का आयोजन करता है। ठकुरी चिकारा की खूंटी ऐंठ रहे थे, अंधा दामाद खजड़ी बजा रहा था, बेला आरती-फूलबत्ती आदि का काम संभाले थी। सब मिल-जुलकर गीत गाती हैं। औरतें भक्ति के गीत गाती हैं और ठकुरी ने अपने गीत सुनाए। सबको एक ही स्पंदन, एक ही पुलक और समान भावधारा ने बाँध रखा था। ग्रामीण जनों की स्वाभाविक शिष्टता, रस-विदग्धता और उनकी कर्मठता की तुलना में महादेवी ने शहरों में होने वाले कवि-सम्मेलनों की कृत्रिमता, उनके बाज़ारूपन और फूहड़पन पर भी बेबाक टिप्पणी की है। उनका कहना है - 'हमारे सभ्यता-दर्पित शिष्ट समाज का काव्यानन्द छिछला और उसका लक्ष्य सस्ता मनोरंजन' है। ठीक इसके विपरीत, भाट वंश में पैदा हुए गाँव गंवई के आशु कवि ठकुरी हैं। महादेवी कहती हैं कि उनसे अधिक सहृदय व्यक्ति उन्होंने कम ही देखे हैं। ठकुरी जैसे लोगों का 'बाह्य जीवन दीन है', पर अंतःजीवन संवेदनापूर्ण और समृद्ध है। ठकुरी गाँव के सहृदय समाज के प्रतिनधि हैं। रेखाचित्रकार की दृष्टि में 'उनकी सहृदयता वैयक्तिक विचित्रता न होकर ग्रामीण जीवन में व्याप्त सहृदयता को व्यक्त करती है।' नागरिक शिष्ट समाज में जैसे फीस लेकर कविगण सभा-सम्मेलन में पहुँचते हैं, ठकुरी इसके विपरीत कहीं विरहा गाने पहुँच जाते, कहीं आल्हा-ऊदल की कथा सुनाने मीलों पैदल जाने में भी न सकुचाते। तभी तो अर्थ की दृष्टि से कवि ठाकुरदीन सुदामा ही रह गए। ठकुरी बाबा को उनकी काव्य-कला का पुरस्कार क्या मिलता था? पथरौटी में सत्तू पर नमक के साथ हरी मिर्च और अंगौछे के खूंट में थोड़ा तिलगुड़।

इधर, दो वर्ष से वे मेले में नहीं आए। दो वर्ष पूर्व जब वे आए थे तो शिथिल पड़ चुके थे। कंठ में लोच तो था पर कफ की घरघराहट उनके स्वर को बेसुरा बना देती थी। 'आँखों में ममता का वही आलोक था', पर जर्जर काया पर काल ने अपनी सर्वग्रासी छाया डाल दी थी। ठकुरी बोले अब चला-चली की बेला है। महादेवी ने पूछा - 'तुम स्वर्ग में कैसे रह सकोगे बाबा? वहाँ तो न कोई तुम्हारे कूट पद और उलट-बाँसियाँ समझेगा और न आल्हा-ऊदल की कथा सुनेगा। स्वर्ग के गंधर्व और अप्सराओं में तुम कुछ न जँचोगे।' ठकुरी ने जवाब दिया कि इस हकीकत से वे परिचित हैं। अतः वे वहाँ इतना शोर मचाएंगे कि भगवान जी उन्हें पृथ्वी की ओर ढकेल देंगे। तब पृथ्वी पर पुनः आकर वे धान रोपेंगे, क्यारियाँ बनाएँगे, चिकारा बजाएंगे और पूरे समाज को आल्हा-ऊदल की कथा सुनाएंगे। मुझे स्वर्ग नहीं चाहिए, पर नया शरीर माँगने के लिए वहाँ जरूर जाएंगे क्योंकि यह कम्बख्त शरीर तो जर्जर हो चुका है। और इतना कहने के बाद ठकुरी तन्मय होकर गाने लगे - 'चलत प्रान काया काहे रोई राम।' महादेवी की स्मृति में उनके द्वारा गाया गया दूसरा गीत भी झंकृत हो उठता है - 'जागिए कृपानिधान पंछी बन बोले'; रेखाचित्रकार को ऐसा प्रतीत होता है मानो इस प्रभाती के द्वारा वे जागरण का संदेश दे रहे थे।

पूँजीवादी व्यक्तिवाद के युग की अंध भाग-दौड़ के बावजूद हमारे गाँवों और कस्बों में ठकुरी जैसे सहृदय और संवेदनशील लोग हज़ारों की तादाद में मौजूद हैं। सामूहिक सहृदयता और सहज मानवीयता के प्रतीक के रूप में ठकुरी का चरित्र एक प्रतिनिधि चरित्र है - वह अनूठा व्यक्तित्व है, पर उसके व्यक्तित्व के हर रंग, रेशे और पहलू पर सामूहिकता की छाप है। एक

पात्र के रूप में ठकुरी के व्यक्तित्व को रेखांकित करने में महादेवी के गद्य की वर्णनात्मकता में ही उनकी कला की शक्ति अंतर्निहित है। ठकुरी का पूरा नाक-नक्श, हुलिया, वेशभूषा, रहन-सहन, परिवार, कुटुम्ब और जीवन-संघर्ष मूर्तिमान होकर सामने आता है। रेखाचित्र के एक पाठ के बाद ही केंद्रीय पात्र के रूप में ठकुरी मन में अंकित हो जाते हैं और अपनी अविस्मरणीय छाप छोड़ जाते हैं।

6.3 'ठकुरी बाबा' में सामाजिक चेतना

संस्मरणात्मक रेखाचित्र एक ऐसी साहित्यिक विधा है जिसमें समाज की वास्तविकताओं से लेखक या लेखिका की टकराहट, तमाम तरह के लोगों से संबंध और संपर्क की अंतःक्रिया उल्लेखनीय स्पष्टता के साथ अनिवार्यतः व्यक्त होती है। महादेवी वर्मा अपनी कविताओं तथा अपने गीतों में यथार्थ के साथ अपनी टकराहट पर आवरण डाल देती हैं, पर रेखाचित्रों में ऐसा कर पाना संभव नहीं है। इसीलिए महादेवी के संबंध में यह भ्रम फैला कि वे कविताओं में तो रहस्यवादी हैं, पर रेखाचित्रों में यथार्थवादी है। दरअसल दो अलग-अलग प्रकार की साहित्यिक विधाओं में लिखी जाने वाली रचनाओं में विवेचन विश्लेषण के लिए जिस गहरी परख और अलग-अलग प्रकार के औज़ारों की ज़रूरत है उसे नज़रअंदाज़ करने के कारण ही यह भ्रांति फैली।

प्रायः सभी छायावादी रचनाकार सन 1930 के बाद गद्य-लेखन की आवश्यकता को गंभीर दायित्व के रूप में लेने लगे थे। निराला के उपन्यासों और कहानियों, प्रसाद के उपन्यासों और कहानियों तथा सुमित्रानन्दन पंत की कहानियों में यथार्थ चित्रण की वही प्रवृत्ति मिलती है, जिसका प्रवर्त्तन प्रेमचंद ने 1918 में ही कर दिया था। सन 1930 तक आते-आते स्वाधीनता आंदोलन की विभिन्न धाराओं, खासकर - किसान, मज़दूर, युवा और स्त्री-समुदाय आदि के हितों के प्रश्नों पर उठ खड़े हुए जन-संघर्षों का साहित्य पर गहरा प्रभाव पड़ा और यथार्थवाद की प्रवृत्ति कहीं अधिक परिपक्व और पुष्ट हुई। महादेवी के रेखाचित्र इसी जीवंत यथार्थवादी प्रवृत्ति की प्रेरणाओं और दबावों को बड़ी गहराई से दर्शाते हैं।

इस बात को रेखांकित करने की ज़रूरत है कि इन रेखाचित्रों के ये पात्र प्रायः ही दलित-वंचित और पीड़ित सामाजिक समूहों के बीच से आते हैं। निर्धन, विपन्न और प्रताड़ित चरित्रों का एक विशाल भंडार महादेवी की गद्य-कृतियों का प्राण है। सेवक रामा, सेविका भक्तिन, 'भंगिन' सबिया, साग-भाजी का विक्रेता अंधा अलोपी, कुम्भकार बदलू, पहाड़ी औरत लछमा, चीनी युवक, कुली जंग बहादुर और धनिया - आदि सभी ऐसे ही पात्र हैं जो अपने-अपने यथार्थ जीवन की विभीषिकाओं के साथ हिंदी साहित्य के चित्रागार में अमर हो गए हैं।

उपर्युक्त विश्लेषण से इतना तो आपको स्पष्ट हो ही गया होगा कि पात्रों के चयन में महादेवी की चेतना और मूल्य-दृष्टि किस तरह दलितों, वंचितों, प्रताड़ितों और उपेक्षितों की पक्षधर है। यह भी ज़ाहिर हो जाता है कि महादेवी की सामाजिक चेतना गाँव, करबे और शहर से ऐसे चरित्रों और व्यक्तियों को ढूँढकर पाठको के सामने लाती है जो शोषण और रूढ़िवाद, उत्पीड़न और अंधविश्वास, सामाजिक असमानता और सड़े-गले रीति-रिवाज के चंगुल में फंसकर तड़फड़ाते हैं तथा उनकी पीड़ा आपको बेचैन कर देती है। अन्यायपूर्ण सामाजिक व्यवस्था और सड़े-गले रीति-रिवाजों पर रेखाचित्रकार की हैसियत से महादेवी की तीखी टिप्पणियों से यह न समझना चाहिए वे किसी राजनीतिक दल या विचारधारा की प्रेरणा से ऐसा कर रही थीं। वास्तविकता तो यह थी कि एक कलाकार के नाते उनकी संवेदना उन्हें विवश करती थी कि वे अपने वर्गीय संस्कारों की सीमा का अतिक्रमण करे और देश के गरीबों तथा पीड़ितों से अपने को जोड़े।

ठकुरी बाबा नामक रेखाचित्र में महादेवी गाँव-गँवई के एक ठेठ, अदना से, भाट वंश में अवतीर्ण निर्धन कवि ठाकुरदीन सुदामा अर्थात् ठकुरी से अपने को जोड़ती है। कृत्रिम ढंग से आयोजित शहरी कवि सम्मेलनों में ऊँची-ऊँची फीस लेकर काव्य-पाठ के लिए आने वाले कवि-समाज से भिन्न **ठकुरी बाबा** है जो किसी मचान पर बैठकर विरहा सुनाता है, बारहमासा के रसिक श्रोता को उसके बैलों का सानी-पानी देने के साथ-साथ काव्यानंद भी प्रदान करता है, होली पर कबीर सुनाने में अपनी भूख-प्यास भी भूल जाता है। ऐसे ही कवि को आप लोक-कवि या जन-कवि कहेंगे। महादेवी इस जन-कवि को अपेक्षित हमदर्दी और आत्मीयता के साथ रेखांकित करने में भी एक नए ढंग की सामाजिक चेतना को व्यक्त करती हैं अर्थात् कुलीन साहित्य के पाठक समुदाय को जन-जन के बीच प्रचलित साहित्य के सामाजिक आधार की महत्ता बताती हैं।

कहना चाहिए कि **ठकुरी बाबा** के माध्यम से कुलीन संस्कृति और जन-संस्कृति के बीच फर्क को पूरे तीखेपन के साथ उभारने में भी रेखाचित्रकार की यथार्थवादी और सकारात्मक सामाजिक चेतना का परिचय मिलता है।

निजी सम्पत्ति को लेकर परिवार के अंदर ही किस प्रकार का भेदभाव और अन्याय होता है, इसे दिखाने के लिए उन्होंने ठकुरी के परिवार का दो-टूक ढंग से वर्णन किया है:

'ठकुरी के सौतेले भाई बड़े और गृहस्थी वाले थे, इसी से घर-द्वार सब उन्हीं के अधिकार में रहा और छोटा भाई चाकरी के बदले में भोजन-वस्त्र पाता रहा। उसका कवित्व भाइयों के लिए लाभप्रद ही ठहरा, क्योंकि कोई भी कला सांसारिक और विशेषतः व्यावसायिक बुद्धि को पनपने ही नहीं दे सकती और बिना इस बुद्धि के मनुष्य अपने आपको हानि पहुँचा सकता है, दूसरों को नहीं।'

छोटा भाई यदि कवि होने के नाते कमाऊ नहीं है तो कमाऊ बड़े भाई का नौकर-चाकर बनने को अभिशप्त है और उसकी पत्नी भी अपनी जेठानी की दासी बनने को विवश है। परिवार के अंदर के उत्पीड़न और स्वामी-दास संबंध को उद्घाटित कर महादेवी ने मनुष्य द्वारा मनुष्य के शोषण के प्रश्न को ही गंभीरता से उठाया है।

गाँव में भी इंसानियत का लोप होता जा रहा है और 'मनुष्यता को विकास के लिए अवकाश मिलना कठिन है' जैसे प्रश्न सामने रखकर महादेवी ग्रामीण अर्थव्यवस्था में पूँजीवाद के प्रभाव के प्रवेश से उत्पन्न समस्या को उद्घाटित करती है। उदारता, सहज सौहार्द, सरल भावुकता आदि गुण पहले ग्रामीण जीवन के लक्षण माने जाते थे, पर अब वहाँ भी 'सुलभ नहीं रहे।' इस दुर्लभ गुण के प्रतीक हैं -**ठकुरी बाबा**। उनके साथ सहुआइन है, विधवा काछी है, ब्राह्मण दम्पत्ति हैं, वृद्धा ठकुराइन है और अंधा दामाद भी है। ठकुरी सर्वसुलभ हैं, सबकी मदद के लिए तैयार। उन्हें दूसरों की सहायता करने में ही विशेष प्रकार की आनंदानुभूति होती है। इस प्रसंग के चित्रण में आपने अनुभव किया होगा कि महादेवी परोपकार, उदारता, करुणा और परदुःख कातरता के पक्ष में हैं, न कि अंधी स्वार्थपरता और व्यक्तिवाद के पक्ष में। शिक्षित पेशेवर वर्गों अर्थात् अफसरों, वकीलों, डॉक्टरों, व्यापारियों तथा प्राइवेट कंपनियों में ऊँची तनख्वाह पाने वाले प्रशासनिक अधिकारियों को आप महानगरों और शहरी सभ्य समाज के रूप में देख सकते हैं। महादेवी इस खाते-पीते शिक्षित मध्य वर्ग तथा कुलीन समुदाय पर जिस तरह की टिप्पणी करती हैं, उससे उनके सामाजिक बोध और सामाजिक दृष्टिकोण का खुलासा होता है। **ठकुरी बाबा** में ही दो-टूक शब्दावली में उनका वक्तव्य है :

'हमारे सभ्यता-दर्पित शिष्ट समाज का काव्यानंद छिछला और उसका लक्ष्य सस्ता मनोरंजन मात्र रहता है।'

इतना ही नहीं ब्रिटिश साम्राज्यवादी शासन के तहत जो असमान विकास की पूँजीवादी नीति अपनाई गई, उसी के परिणामस्वरूप ग्रामीण और शहरी समाज के बीच हर दृष्टि से अंतर होता गया। ग्रामीण समाज दैन्य और पिछड़ेपन की गिरफ्त में आता गया, और शहरी समाज विलासप्रियता तथा सस्ते आमोद-प्रमोद की प्रदर्शनप्रिय सभ्यता की अंधी दौड़ में शामिल हो गया।**ठकुरी बाबा** में पूँजीवादी सभ्यता के असमान विकास के अभिशाप से पीड़ित दो प्रकार की जीवन-प्रणालियों पर महादेवी ने अपनी गहरी सामाजिक चिंता व्यक्त की है :

'मेरी पर्णकुटी के दो बरामदे चांदनी से धुल गए थे - उनमें ठंडी ज़मीन, चादर, पुआल आदि पर जो सृष्टि सो रही थी, उसके बाह्य रूप और हृदय में इतना अंतर क्यों है, यही मैं बार-बार सोच रही थी। उनके हृदय का संस्कार, उनकी स्वाभाविक शिष्टता, उनकी रस-विदग्धता, उनकी कर्मठता आदि का क्या इतना कम मूल्य है कि उन्हें जीवन-यापन की साधारण सुविधाएँ तक दुर्लभ हो जावें।'

तथा,

'इन दोनों समाजों का अंतर मिटा सकना सहज नहीं। उनका बाह्य जीवन दीन है और हमारा अंतर्जीवन रिक्त। उस समाज में विकृतियाँ व्यक्तिगत हैं; पर सद्भाव सामूहिक रहते हैं। इसके विपरीत हमारी दुर्बलताएँ समष्टिगत हैं; पर शक्ति वैयक्तिक मिलेगी।'

इस सामाजिक बोध को और अधिक समझने के लिए **घीसा** और **मुन्नु की माई** नामक रेखाचित्र अवश्य पढ़ना चाहिए।

इसके अतिरिक्त, पुरुष-प्रधान पितृसत्तात्मक समाज में स्त्रियों का जैसा उत्पीड़न होता है, उसके चित्रण में महादेवी की यथार्थवादी गद्य-कृतियाँ अपने संपूर्ण कलात्मक वैभव के साथ अपनी सृजनात्मक शक्ति का परिचय देती हैं। ठकुरी बाबा में यद्यपि इस दृष्टि से सिर्फ ठकुरी की पत्नी के उत्पीड़न और सहुआइन के छोटे से पीड़ित परिवार का उल्लेख हुआ है, जिसमें उसके पति 'गाँव की तेली बालिका को लेकर कलकत्त में कर्तव्य पालन कर रहे हैं। विवाहित जीवन के डंबल सर्टीफिकिकेट के समान दो-दो बिछुए पहनकर और नाक तक खिंचे घूघट में वधू वंश की मर्यादा को सुरक्षित रखकर वे परचून की दूकान द्वारा जीवन-यापन करती है।'

'हर माघ में वे अपने दो किशोर बालकों के साथ आकर कल्पवास की कठोरता सहती है और कमर तक जल में खड़ी होकर भावी जन्मों में साहूजी को पाने का वरदान माँगती है। पति ने उनका इहलोक बिगाड़ दिया है, पर अब उसके अतिरिक्त किसी और की कामना करके वे परलोक नहीं बिगाड़ना चाहती।'

सहुआइन जैसी अनेक निस्सहाय औरतों की चरित्र-गाथाएँ 'अतीत के चलचित्र' और 'स्मृति की रेखाएँ' में अंकित हैं। इन चरित्रों के माध्यम से महादेवी मुख्यतः सामंती समाज के अंदर घुट रही, छटपटा रही स्त्रियों की दारुण अवस्था के चित्र खींचकर आज के नारीवादी आंदोलन की पूर्वपीठिका प्रस्तुत कर देती हैं। इस दृष्टि से लछमा, भाभी, बिबिया, गुंगिया और भक्तिन उल्लेखनीय हैं।

खेत मज़दूरों, निर्धन किसानों, उत्पीड़ित स्त्रियों और उपेक्षित बच्चों पर केंद्रित रेखाचित्रों के माध्यम से महादेवी की तीव्र सामाजिक चेतना से आपका साक्षात्कार होता है। पर कल्पवास जैसे धार्मिक-सांस्कृतिक रिवाज के बारे में अपनी व्याख्या प्रस्तुत करके लेखिका लोक-विश्वासों और लोक-रीतियों की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि और मूल प्रेरणा का भी खुलासा करती हैं :

'किसी समय कल्पवास का कितना महत्व रहा होगा, इसका अनुमान लगाने के लिए इसका आज का समारोह भी पर्याप्त है। संभवतः उस समय देश के विभिन्न खण्डों में रहने वाले व्यक्तियों को मिलन, उनके पारस्परिक परिचय, विचारों के आदान-प्रदान तथा सांस्कृतिक

समन्वय का यह महत्वपूर्ण सांधन रहा होगा। ये नदियाँ इस देश की रक्तवाहिनी शिराओं के समान जीवन-दायक रही हैं, इसी से इनके तट पर इस प्रकार के सम्मेलनों की स्थिति स्वाभाविक और अनिवार्य हो गई हो, तो आश्चर्य नहीं। आज इस संबंध में क्या और क्यों तो हम भूल चुके हैं पर बिना जाने लीक पीटना धर्म बन गया है।'

'मुझे इस कल्पवास का मोह है क्योंकि इस थोड़े समय में जीवन का जितना विस्तृत ज्ञान मुझे प्राप्त हो जाता है उतना किसी अन्य उपाय से संभव नहीं। और जीवन के संबंध में निरंतर जिज्ञासा मेरे स्वभाव का अंग बन गई है।'

अपने धार्मिक-सांस्कृतिक इतिहास को देखने की इस वैज्ञानिक दृष्टि के मूल में महादेवी की प्रखर सामाजिक चेतना को रेखांकित किया जाना चाहिए। अपनी इस दृष्टि से वे केवल अतीत पर ही दृष्टिपात नहीं करती बल्कि वर्तमान को भी व्याख्यायित करती हैं। उन्होंने भाभी, लछमा बिबिया, बालिका माँ, मुन्नु की भाई, और घीसा जैसे रेखाचित्रों में और अधिक विस्तार से धर्म के संकीर्ण, स्वार्थी और जड़ चरित्र का बेबाक चित्रण किया है।

महादेवी का तीव्र सामाजिक बोध केवल चेतना और भावना के स्तर तक ही सीमित नहीं है। यद्यपि यह प्रसंग यहाँ बहुत अधिक चर्चा का विषय नहीं हो सकता, पर यह उल्लेखनीय अवश्य है कि अपने लौकिक कर्म और जीवन के स्तर पर भी महादेवी समाज-सेवा और परोपकार के निजी उदाहरणों से लोगों को प्रेरित करती रहीं।

6.4 'ठकुरी बाबा' की भाषा और शिल्प

संस्मरणात्मक रेखाचित्र की कला और भाषा शैली पर विचार करते समय यह याद रखना आवश्यक है कि इनमें 'अतीत समय का अंधकार पार कर वर्तमान में लौटता है।' महादेवी ने **स्वयं ही रेखाचित्र की साहित्यिक विधा के संदर्भ में 'स्मृति चित्र' नामक अपनी पुस्तक की भूमिका में इस निर्णायक पहलू पर ज़ोर दिया है। जिनके अभाव की उन्हें तीव्र अनुभूति है, उन समय की धूल पोंछ-पोंछ कर पहले वह वह अपने मनोजगत के सूने कमरे में ले आती हैं और उनके साथ अपनें आत्मीय संबंध को पुनः जीवित करती हैं। स्मृति कुंज में आत्मीय संबंध वाले** व्यक्तियों और पात्रों को पुनर्जीवित कर सशरीर मूर्त करने के क्रम में महादेवी ऐसी गद्य-भाषा का अन्वेषण करती हैं जिसमें वर्ण्य चरित्र और रेखाचित्रकार - दोनों का योगदान हो, जिसमें व्यक्ति और घटना प्रसंग की चित्रमयता की क्षमता हो, जिसमें ऐंद्रिकता, भावना और विचार-दृष्टि तीनों का समावेश हो और जिसमें नाटकीय संवादशीलता चरित्रों की आंचलिकता को मुखर कर सके।

ठकुरी बाबा नामक संस्मरणात्मक रेखाचित्र में उल्लिखित ये सारी विशेषताएँ साफ-साफ झलकती हैं। कटा छंटा हुआ, परिष्कृत संशोधित और चुस्त गद्य-लेखन का जो स्वरूप छायावादी कवियों ने विकसित किया, **ठकुरी बाबा** नामक रेखाचित्र की गद्य-भाषा उसी प्रक्रिया की परिणति है। द्विवेदीयुगीन गद्यकारों की भाषा से यह भिन्न भाषा थी। इस गद्य लेखन में हिंदी को परिनिष्ठित स्वरूप प्रदान करने की ही चिंता नहीं है बल्कि हिंदी भाषी क्षेत्र के जन-समुदायों की विभिन्न बोलियों के शब्द-भंडार, क्रिया-रूपों और मुहावरों से समृद्ध करने की चिंत भी है। इतना ही नहीं, वर्ण्य चरित्र अपनी विशिष्टता बनाए रखते हैं और अपनी ही जन-बोली मे बोलते हैं। महादेवी खड़ी बोली के शिष्ट गद्य में उनकी गंवई भाषा अथवा उक्तियों का रूपांतर न प्रस्तुत करके उस प्रसंग की सजीवता और चरित्र की आंचलिकता (जनपदीयता) को सुरक्षित कर देती है। जैसे **ठकुरी बाबा** में ही, भक्तिन अपनी बोली में बोलती है, **ठकुरी बाबा** भी अपनी देहाती बोली बानी का दामन पकड़े रहते हैं, और कल्पवास में आया उनका पूरा कुटुम्ब भी महादेवी से ग्रामीण भाषा में ही बात करता है। उदाहरण के लिए, प्रारंभ में ही भक्तिन

कहती है : 'कल्पवास की उमिर आई तब उहौ हुई जाई। का एकै दिन सब नेम-धरम समापत करै की परतिग्या है।'

कल्पवास की कुटी में संध्या समय जब ठकुरी अपने कुटुम्ब के साथ आ धमकते हैं और बसेरा की प्रार्थना करते हैं तो अपनी बोली में कहते हैं - 'बिटिया रानी का हम परदेसिन का ठहरै न देहो? बड़ी दूर से पाँच पियादे चले आइत है। ई तो रैन बसेरा है - भोर भयो उठि जाना रे का झूठ कहित है? हम तो बूढ़-बाढ़ मनई हैं।' अंत में जब महादेवी पूछती हैं कि ठकुरी स्वर्ग में कैसे रह पाएंगे? वहाँ न तो कोई उनके कूट पद्य और न उनकी उलटबासियाँ समझ पाएगा और न आल्हा-ऊदल की कथा ही कोई सुनेगा। स्वर्ग के गंधर्व और अप्सराओं में वे कुछ जँच नहीं पाएंगे। अपनी सहज बुद्धि से नाटकीय अंदाज़ में ठकुरी कहते हैं :

सो तो हम जानित हैं बिटिया! हम उहाँ अस सोर मचाउब कि भगवान्‌जी पुन धरती पै ढनकाय देहैं। हम फिर धान रोपब, कियारी बनाउब, चिकारा बजाउब और तुम पद्यै का आल्हा ऊदल की कथा सुनाउब। सरग हमका न चही, मुदा हम दूसर नवा शरीर मांगै बरे जाब जरूर। ई ससुर तो बनाय कै जरजर हुइगा।'

महोदयी के स्मृति-लोक में चरित्र या वर्ण्य पात्र हू-ब-हू साकार हो जाता है अपनी ही बोली बानी और विशिष्ट प्रकार के नाटकीय तेवर के साथ। इसे गद्य के साँचे में ढालने के लिए महादेवी अपने गद्य की चुस्ती और ठोंक-पीटकर रची गई शालीनता को समानांतर प्रस्तुत कर दो अलग-अलग वर्गों के बीच अंतःक्रिया का स्वरूप भी स्पष्ट कर देती हैं। इससे चरित्रों में ग्रामीण संस्पर्श की जीवंतता बनी रहती है और उनके जीवन का यथार्थ भी मुखर रूप में प्रकट हो जाता है।

दरअसल रेखाचित्रकार के नाते महादेवी की कला मूलतः वर्ण्य पात्रों को एक ओर जहाँ टाइप चरित्र के रूप में चित्रित करने में सफल हुई हैं, वहीं उन पात्रों की अजीबोगरीब निजी विशिष्टता को भी अंकित करने की प्रतिज्ञा पूरी करती हैं। इसलिए ठकुरी देहाती अंचलों के आशु जन-कवि के रूप में अपनी विशिष्टता भी दर्शाता है। इसके साथ गाँव के लोगों की परोपकार भावना, सहजता, सरलता, सहृदयता, घर फूँक मस्ती और भीषण परिस्थितियों में जूझने वाला जीवट भी उसके सामूहिक जीवन के अंतर्भूत गुण के रूप में उभरते हैं।

रेखाचित्र में लिए गए पात्र का अंतर्बाह्य जीवन तभी पूरी तरह उभर पाता है जब उसका हुलिया नख-शिख, नाक-नक्श, व्यक्तित्व इस तरह वर्णित हो कि पात्र का स्वरूप पूरी तरह उभर आए। इसके साथ, उस पात्र के जीवन की झाँकी देने के लिए, उसके भाव, विचार, संस्कार दर्शाने के लिए उसके जीवन के अंतर्विरोधों और परिवेशों की भी झांकी प्रस्तुत करनी होती है। अगर इस दृष्टि से देखें तो आपको पता चलेगा कि जिस क्षण ठकुरी का मंच पर अवतरण होता है उसी क्षण महादेवी वर्मा एक सामान्य-सा हुलिया पेश करती हैं :

एक वृद्ध के नेतृत्व में बालक, प्रौढ़, स्त्री, पुरुष आदि की सम्मिश्रित भीड़ थी। गठरी-मोटरी, बरतन, हुक्का-चिलम, चटाई, पिटारा, लोटा-डोर सब गृहस्थी लादे फांदे यह अनियंत्रित अभ्यागत मेरे बरामदे में कैसे आ घुसे, यह समझना कठिन था।' देहाती **ठकुरी बाबा** के संपूर्ण कुटुम्ब के प्रवेश के लिए जिन चीज़ों - गठरी, मोटरी आदि का उल्लेख किया गया है, उनके लिए जन-भाषा से ही सारी संज्ञाएँ ली गई हैं ताकि कुलीन लोगों से भिन्न इस देहाती समुदाय का चित्र आँखों के सामने सजीव हो सके। यह बात निर्विवाद है कि अपने रेखाचित्रों में महादेवी पात्रों के जीवन प्रसंगों और उनके सहचर्यों को अंकित करने के लिए उन पात्रों द्वारा उपयोग में लाई जा रही संज्ञाओं, क्रियाओं, लोकोक्तियों आदि का बड़ा सटीक इस्तेमाल करती हैं। इससे चित्र और वर्णन में यथार्थता आती है, और वायवी काल्पनिकता का कोहरा रचना को आच्छन्न नहीं कर पाता। 'अतीत के चलचित्र' में पहाड़ी युवती लछमा के चेहरे को अंकित करते हुए महादेवी ने बताया कि धूप से झुलसा हुआ उसका मुख ऐसा जान पड़ता है कि जैसे किसी ने कच्चे सेब को आग की आँच पर पका लिया हो। आलंकारिक भाषा में इसे उत्प्रेक्षा

कहते हैं। समाज और व्यवस्था ने लछमा के साथ जो सलूक किया है उसे दर्शाने के लिए और पाठकों के हृदय में करुणा उत्पन्न करने के लिए वर्णन की इस कला का महादेवी पूरा उपयोग करती हैं। 'अतीत के चलचित्र' में ही रामा के काले कलूटे शरीर के वर्णन के साथ उसकी सफेद चमकती हुई दंत-पंक्तियों का वर्णन आता है :

'किसी थके झुंझलाए शिल्पी की अंतिम भूल जैसी अनगढ़ मोटी नाक, साँस के प्रवाह से फैले हुए से नथने, मुक्त हँसी से भरपूर फूले हुए से ओंठ तथा काले पत्थर की प्याली में दही की याद दिलाने वाली सघन और सफेद दंतपंक्ति।'

सादृश्य झलकाने के लिए लाए गए उपमान रेखांकन और चित्रांकन के अनूठे औज़ार हैं। चित्रकला के अंतर्गत पोर्टेट में जो काम रंगों और रेखाओं से लिया जाता है, रेखाचित्र की कला में वर्णन, इतिवृत्त अंकन आदि की सहायता के लिए सादृश्य विधान और रूपांकन होते हैं। ठकुरी का चित्र अगर आप ध्यान से देखें तो स्पष्ट हो जाएगा कि यह किस प्रकार का पोर्टेट है।

'सिर का अग्रभाग खल्वाट होने के कारण चिकना चमकीला था, पर पीछे की ओर कुछ सफेद केशों को देखकर जान पड़ता था कि भाग्य की कठोर रेखाओं से सभीत होकर वे दूर जा छिपे हैं। छोटी आँखों में विषाद, चिंतन और ममता का ऐसा सम्मिश्रित भाव था जिसे एक नाम देना संभव नहीं। लम्बी नाक के दोनों ओर खिंची हुई गहरी रेखाएँ दाढ़ी में विलीन हो जाती थीं। ओठों में व्यक्त भावुकता को विरल मूंछें छिपा लेती थीं और मुख की असाधारण चौड़ाई को दाढ़ी ने साधारणता दे डाली थी। सघन दाढ़ी में कुछ लम्बे सफेद बालों के बीच में छोटे काले बाल ऐसे लगते थे, जैसे चाँदी के तारों में जहाँ-तहाँ काले डोरे उलझकर टूट गए हों।'
ठकुरी का ही दूसरा चित्र जिसमें क्रमशः उनकी शारीरिक जर्जरता का रेखांकन महादेवी ने इस प्रकार किया है :

'मुख पर वैसी ही उन्मुक्त हँसी का भाव था, पर मानो धीरे-धीरे साथ छोड़ने वाले दाँतों को याद रखने के लिए ओठों ने अपने ऊपर स्मृति की रेखाएँ खींच ली थीं।'

विशेषण, भाववाचक संज्ञाएँ, उपमान योजना और चेहरे के वर्णन में क्रमिकता रेखाचित्रकार की वर्णनात्मक भाषा शैली के मुख्य पहलू हैं। ऐसे वर्णनों के वक्त प्रायः ही लम्बे जटिल वाक्य रूपांकन के स्वतंत्र अनुच्छेद के रूप में ढलकर सामने आते हैं। लेखिका का उद्देश्य है - पात्र के शारीरिक व्यक्तित्व, उसके अंतरंग जीवन की भावात्मकता आदि से आपका परिचय कराना ताकि उसे आप जीते-जागते प्राणी के रूप में देख सकें। रूप वर्णन के इन अनुच्छेदों के वाक्य भी इस तरह गढ़े गए हैं कि लेखिका अपनी टिप्पणी भी उसके अंदर डाल दे। उपर्युक्त उद्धरण में ही खल्वाट सिर के पिछले हिस्से के बालों के संबंध में महादेवी का वर्णन है - 'भाग्य की कठोर रेखाओं से सभीत होकर वे दूर जा छिपे हैं।' वृद्ध **ठकुरी बाबा** के दुर्भाग्य पर लेखिका की टिप्पणी इससे स्पष्ट हो जाती है।

कर्म के मैदान में और समाज के अन्य लोगों से आदान-प्रदान के क्रम में ठकुरी का गतिशील चित्र खींचने में महादेवी की भाषा की त्वरा और लोच, वाक्य-विधान के अंतर्गत संघात निम्नलिखित प्रसंग में द्रष्टव्य है - 'कहीं बिरहा गाने का अवसर मिल जाता, तो किसी के मचान पर बैठकर रात-रात भर खेत की रखवली करते रहते। कोई बारहमासा वाला रसिक श्रोता मिल जाता, तो उसके बैलों का सानी-पानी करने में भी हेठी न समझते। कोई आल्हा ऊदल की कथा सुनना चाहता तो मीलों पैदल दौड़े जाते। कहीं होली का उत्सव होता, तो अपने कबीर सुनाने में भूख-प्यास भूल जाते।'

इसी रेखाचित्र में ठकुरी के आतिथ्य प्रेम, परोपकारी और सहज दानशील स्वभाव के प्रसंग में भी ऐसी ही वाग्धारा की आवृत्ति देखी जा सकती है :

कोई गुड़ की डली रखकर **ठकुरी बाबा** से आध सेर आटा ले जाता है, कोई चार मिर्च देकर आलू-शकरकंद का फलाहार प्राप्त कर लेता है। कोई पत्ते पर तोला भर दही रखकर कटोरा भर बावल नापता है। कोई धूप के लिए रत्ती भर घी देकर लुटिया भर दूध चाहता है।'

महादेवी की गद्य कृतियों की भाषा हमेशा वर्ण्य पात्र के जीवन आख्यान की आवश्यकता के अनुसार दो स्तरों पर शब्द चयन करती है। पहला स्तर तो तत्सम प्रधान संस्कृतनिष्ठ शब्दावली का है जिसमें बछड़ा के स्थान पर वत्स, चंवर की जगह चामर, रोयाँ के बजाय रोम, गर्मी की छुट्टी की जगह ग्रीष्मावकाश जैसे प्रयोग उन्हें प्रिय हैं। दूसरा स्तर उपेक्षित, दलित और गाँव-गंवई के ग्रामीण पात्रों की तद्भव और देशज शब्दावली का है। इन दो स्तरों पर समानांतर रूप में चलने वाली गद्य-भाषा गंभीरता और सहजता, परंपरागत सांस्कृतिक जीवन के शिष्ट स्वरूप और समकालीन अनपढ़ आबादी की जन-संस्कृति के बनते-बिगड़ते स्वरूप के बीच के गहरे रिश्तें को उद्घाटित करती है। इनके बीच कहीं-कहीं अंग्रेज़ी के आवश्यक उपयोगी शब्द भी ज्यों के त्यों आ गए हैं। मसलन, स्प्रिंगदार, जू, स्टूल, ड्रामा, ऑपरेशन, फोटो इन्लार्जमेंट, सप्लाई, डेड लेटर, ऑफिसर, क्ले मॉडल आदि। अनेक स्थलों पर शुक्राचार्य, विश्वकर्मा मयदानव, मनु, संजय, धृतराष्ट्र, भीष्म, कृष्ण, द्रोणाचार्य, दुर्मुख, दुर्वासा, कण्व, शकुंतला, तपस्यारत शूद्र, एकलव्य आदि के पौराणिक प्रसंग स्मित हास्य, व्यंग्य और सादृश्य वर्णन में सहायक हो गए हैं। आलंकारिकता की दृष्टि से प्रायः उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, निदर्शना और उदाहरण का उपयोग किया गया है।

महादेवी के रेखाचित्रों की गद्य-भाषा की उपर्युक्त उल्लिखित विविध विशेषताएँ उनके गद्य-शिल्प को आकार देने में, एक स्वरूप प्रदान करने में कहना चाहिए नई उद्भावना और तकनीक में मददगार रही हैं। इन संस्मरणात्मक रेखाचित्रों की विधा को लेकर हिंदी के प्रौढ़-परिपक्व पाठकों और सुधी आलोचकों के बीच भी मतभेद रहा है। कुछ लोग इन रचनाओं को संस्मरण की संज्ञा देते हैं, कुछ कहानी की और कुछ लोग स्केच, रेखाचित्र या पोर्टेट कहते हैं। दरअसल इन रेखाचित्रों में आख्यान अथवा कथा का तत्व प्रमुखता से उजागर होता है। अपने स्मृति-लोक में बसे पात्रों की आशा-निराशा, जय-पराजय और दुःख-सुख को समाज और दुनिया के बहु-स्तरीय परिवेश में महादेवी अंकित करती हैं। इसलिए उनकी एक कहानी भी होती है, उसमें घटनाओं के मोड़ और उतार-चढ़ाव भी होते हैं। अतः यह नहीं कहा जा सकता कि ये रेखाचित्र कुतूहल से रहित और घटना-शून्य पात्रों की जीवन-कथा हैं। कहना चाहिए कि ये वृत्तमूलक व्यक्ति चित्र तो हैं ही, पर इन पात्रों के व्यक्तित्व पर लेखिका से उनके संबंधों का रंग भी प्रगाढ़ रूप में चढ़ गया है। महादेवी अपनी स्मृति के सूने कक्ष में अपने संसर्गों के परिणामस्वरूप इन पात्रों को जिस रूप में पुनर्जीवित करती हैं, उसी रूप में पाठकों के आगे मूर्तिमान भी करती हैं और चाहती हैं कि पाठक उनकी ही करुणा या अनुकम्पा, उनकी ही ममता या प्यार भरी झिड़क, उनके ही संस्कार या दृष्टिकोण से उन पात्रों को अपनाएँ - इनके प्रकाशन के संबंध में मैंने कुछ सोचा ही नहीं। चिंतन की प्रत्येक उलझन के हर एक स्पन्दन के साथ छापेखाने का सुरम्य चित्र मेरे सामने नहीं आता। इसके अतिरिक्त, इन संस्मरणों के आधार, प्रदर्शनी की वस्तु न होकर मेरी अक्षय ममता के पात्र रहे हैं। उन्हें दूसरों से आदर मिल सकेगा, इसकी परीक्षा से प्रतीक्षा रुचिकर जान पड़ी।' (अतीत के चलचित्र - अपनी बात) महादेवी के रेखाचित्र के शिल्प की यही शक्ति और यही सीमा भी है। वर्णनशीलता का ऐसा गद्य-शिल्प आपको महादेवी के यहाँ ही मिलेगा जिसमें यत्र-तत्र उनकी अपनी दृष्टि से अंतर्भूत टिप्पणी वाक्यांशों में बद्धमूल दिखाई दे। यानी उन पात्रों को महादेवी की ही भाव-दृष्टि से आप देखें - 'उन मानव-हृदयों में उमड़ते हुए भाव समुद्र की जो स्पर्श मधुर तरंग मुझे छू भर गई थी, उसी की स्मृति मेरे मानस तट पर न जाने कितने विरोधी चित्र आँकने लगी। कितने ही विराट कवि सम्मेलन, कितनी ही अखिल भारतीय कवि गोष्ठियाँ मेरे स्मृति की धरोहर हैं। मन ने कहा खोजो तो उनमें कोई इससे मिलता हुआ चित्र - और बुद्धि प्रयास में थकने लगी।'

डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी ने महादेवी के रेखाचित्रों की भाषा को 'सर्जनात्मक भाषा' कहते हुए लिखा है कि 'महादेवी वर्मा का गद्य पहली बार लगता है कि काव्य-रूपों से ऊपर उठकर अपने में सर्जनात्मक लेखन है, जो आधुनिक काल को 'गद्य-काल' कहे जाने का महत्वपूर्ण साक्ष्य प्रस्तुत करता है।' (हिंदी साहित्य और संवेदना का विकास, पृ.195)

6.5 'ठकुरी बाबा' का मूल्यांकन

हिंदी में रेखाचित्र नामक जिस साहित्यिक विधा का उद्भव और विकास हुआ, उसके उदाहरण अंग्रेज़ी या अन्य यूरोपीय साहित्य में उपलब्ध नहीं है। कुछ व्यक्तियों, साहित्यकारों, राजनेताओं, वैज्ञानिकों आदि के बारे में संस्मरणात्मक कृतियाँ अंग्रेज़ी या यूरोपीय साहित्य में मिल जाती हैं, पर रेखाचित्र या स्केच नहीं मिलते। दरअसल हिंदी में इस साहित्यिक कला का आविर्भाव चित्रकला में प्रचलित रेखांकन और पोर्ट्रेट के आधार पर हुआ है। 'इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका' में भी अंग्रेज़ी साहित्य की एक साहित्यिक विधा के रूप में स्केच का कोई ज़िक्र नहीं है, पर चित्रकला के इतिहास के अंतर्गत पोर्ट्रेट का ज़िक्र अवश्य ही है। रेनेसां के बाद जब चित्रकला के क्षेत्र में लौकिक पात्रों (गैर-ईश्वरीय) को विषय बनाया गया तभी पोर्ट्रेट की कला एक विशिष्ट शाखा के रूप में अवतरित हुई।

हिंदी में रेखाचित्रकार के रूप में महादेवी वर्मा, रामवृक्ष बेनीपुरी, कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर' आदि का अभ्युदय सन् 30 के बाद होता है। यह वह समय है जब साहित्य के क्षेत्र में यथार्थवादी प्रवृत्तियों का विकास निरंतर नए-नए रूपों में दृष्टिगत होता है और गद्य के क्षेत्र में नए-नए रूपगत प्रयोग हो रहे हैं। समाज और देश की वास्तविकताओं के बहुरूपी आयामों को लेखन का विषय बनाने की सांस्कृतिक आवश्यकताओं के तहत गद्य में भी नई उद्भावना और प्रयोगशीलता के उदाहरण के रूप में रेखाचित्रों को स्वीकृति मिलने लगी। इनमें अजीब किस्म का आकर्षण और अनूठापन था और वर्ण्य पात्रों का साक्षात्कार कराने की अद्भुत शक्ति भी। ये ऐसे पात्र थे जो सीधे-सीधे जीवन से उठा लिए गए थे और जिनपर धरती की धूल भी चढ़ी हुई थी। दलित और उत्पीड़ित आम जनता के बीच के ये जाने-पहचाने चेहरे थे जो गद्य की नई कला के फ्रेम में कांट-छांट कर पेश किए गए थे। इन रेखाचित्रों को अविलम्ब लोकप्रियता मिलने लगी। महादेवी द्वारा लिखित 'अतीत के चलचित्र', 'स्मृति की रेखाएँ' आदि तथा रामवृक्ष बेनीपुरी द्वारा लिखित 'माटी की मूरतें', 'गेहूं और गुलाब' अविस्मरणीय क्लासिक कृतियों के रूप में आज भी याद की जाती हैं। अन्य रेखाचित्रकारों में बनारसीदास चतुर्वेदी, श्री राम शर्मा, देवेन्द्र सत्यार्थी, कन्हैया मिश्र 'प्रभाकर', सत्यवती मलिक और ओंकार शरद के नाम उल्लेखनीय हैं। 'हंस', 'रूपाभ', 'विशाल भारत', 'कल्पना', 'अजंता' और 'नई धारा' पत्रिकाओं का रेखाचित्र के विकास में सराहनीय योगदान रहा है।

रेखाचित्र न तो संपूर्ण कथा होती है और न किसी पात्र का संपूर्ण जीवनवृत्त। वस्तुतः एक निश्चित दृष्टिकोण से किसी व्यक्ति, पात्र अथवा चरित्र के कुछेक पहलुओं का गतिशील प्रतिबिंब ही शब्द चित्र, रेखाचित्र या स्केच का साहित्यिक आकार ग्रहण कर लेता है। डॉ.नगेन्द्र ने विचार और विश्लेषण नामक अपनी पुस्तक में 'ऑक्सफोर्ड इंग्लिश डिक्शनरी' में स्केच के संबंध में दी गई परिभाषा को आधार बनाते हुए यह कहा है कि जब चित्रकला का यह शब्द साहित्य में आया तो इसकी परिभाषा भी स्वभावतः इसके साथ आई अर्थात् रेखाचित्र ऐसी रचना के लिए प्रयुक्त होने लगा जिसमें रेखाएँ तो हों पर उनमें रंग न हो। दूसरे शब्दों में कथानक का विस्तार न हो, तथ्यों का विश्लेषण न हो सिर्फ उनका उद्घाटन मात्र हो।' ऑक्सफोर्ड इंग्लिश डिक्शनरी में स्केच की परिभाषा दी गई है - 'ऐसा संक्षिप्त वर्णन जो प्रमुख या मुख्य तथ्यों का आख्यान करता हो, न कि पूरा ब्यौरा देता हो।' कहना न होगा कि इस प्रकार की परिभाषाओं में बताई गई सीमा का अतिक्रमण करते हुए हिंदी में लिखे गए रेखाचित्रों ने सर्वथा नए रूप में अपना विकास किया।

कभी-कभी रेखाचित्र और व्यक्ति-केंद्रित संस्मरण के बीच फर्क करना बड़ा मुश्किल होता है। परिभाषा की दृष्टि से तो यह मान लिया गया था कि रेखाचित्र विषय-प्रधान होता है और संस्मरण विषयी-प्रधान। पर महादेवी के संस्मरण भी विषय-प्रधान बन गए हैं, महादेवी ही नहीं, अनेक लेखकों की ऐसी कृतियाँ हैं।

'अतीत के चलचित्र' नामक रेखाचित्र संकलन की भूमिका में महादेवी ने स्वीकार किया है कि इन स्मृति चित्रों में उनका जीवन भी आ गया है पर उनका जीवन वर्ण्य पात्र को एक संदर्भ प्रदान करते हुए हाशिए के तौर पर ही आता है, अतः इन रेखाचित्रों में लेखिका की आत्मीयता प्रकट होती है, आत्मपरकता या आत्मग्रस्तता नहीं। अपनी भावना की तूलिका से इन चित्रों को बेशक उन्होंने ही अंकित किया है।

महादेवी के रेखाचित्रों में **ठकुरी बाबा** की चर्चा कम ही हुई है। रामा, घीसा अलोपी बदलू, लछमा, भक्तिन, चीनी फेरी वाला आदि की चर्चा खूब की जाती रही है। इसका मतलब यह नहीं कि रेखाचित्र की कसौटी पर यह कोई नगण्य रचना है। सच्चाई तो यह है कि महादेवी के प्रारंभिक रेखाचित्रों की लोकप्रियता के बवडर में बाद वाले काल की यह रचना चर्चा के केंद्र में आई ही नहीं। चर्चा से बाहर होने के कारण इस रेखाचित्र में किए गए नए प्रयोगों का उल्लेख तक कहीं नहीं मिलता है।

महादेवी वर्मा द्वारा लिखित कोई भी रेखाचित्र इतना सुदीर्घ नहीं है। इस रेखाचित्र में**ठकुरी बाबा** का नाटकीय अवतरण काफी बाद में होता है, जबकि प्रारंभ में भक्तिन और कल्पवास का ही विशद वर्णन है। दूसरी बात यह कि ठकुरी के जन्म, उसके परिवार, उसके विवाह, पत्नी की मृत्यु अंधे दामाद के साथ बेला के विवाह आदि प्रसंगों के साथ ठकुरी के साथ आई हुई पूरी टोली के सभी पात्रों का बारी-बारी से वर्णन होता है। अगर सिर्फ ठकुरी के जीवनवृत्त और व्यक्तित्व से संबंधित प्रसंग को लिया जाए तो इस लंबे रेखाचित्र को मात्र एक तिहाई पृष्ठों में संशोधित संपादित कर उसका नया संस्करण प्रस्तुत किया जा सकता है। संपादन की इस प्रक्रिया में शहरी कवि सम्मेलन के प्रसंग के साथ-साथ जनकवियों से उसकी तुलना के क्रम में आई हुई टिप्पणियाँ भी छाँटकर अलग की जा सकती हैं। पर इस प्रकार की काँट-छाँट और संपादकीय कैंची से इस रेखाचित्र की कोलाज शैली ही नष्ट हो जाएगी। ग्रामीण जीवन के सामूहिक स्वरूप की साहचर्यगत सरलता और परोपकार भावना को उभारने के लिए ही महादेवी ने सहुआइन, काछी, बूढ़ी मौसी, ब्राह्मण दम्पत्ति आदि के शब्द चित्र अंकित किए हैं। इनके बीच ठकुरी नामक जनकवि की फक्कड़ विशिष्टता तथा अजीबो-गरीब ढंग से अचंभे में डालने वाली उसकी सहृदयता का जीवंत रेखांकन होता है। कुलीन संस्कृति के बरक्स जन संस्कृति की तुलनीय स्थिति का वर्णन इस रेखाचित्र को एक विराट सामाजिक संदर्भ प्रदान करता है। नष्टप्रायः और मरणोन्मुख जनसंस्कृति के प्रति हमदर्दी और अपनी विरासत के रूप में उसे बचाए रखने की चिंता के प्रतीक पुरुष के रूप में ठकुरी हैं, जिनके साथ महादेवी की साझेदारी तो है ही, अन्यों को भी इस स्थिति पर विचार करने के लिए एक आमंत्रण यहाँ मिलता है। समकालीन समाज में स्वार्थपरता और लोभवृत्ति के बढ़ते दबाव के बीच **ठकुरी बाबा** और उनके संगी-साथी मानव धर्म की खोती जा रही विरासत के अवशेष प्रतीत होते हैं। एक संस्कृति-कर्मी के नाते महादेवी की टिप्पणी सार्थक नहीं होती, अगर **ठकुरी बाबा** में वे गहरी संवेदनशीलता के साथ इस विरासत की रक्षा का एहसास न कराती। अतः यह रेखाचित्र किसी दलित उपेक्षित पात्र के सीमित जीवन-खंड का स्केच न होकर ठकुरी के व्यक्तित्व के अंकन के बहाने ठेठ देहाती आबादी के पिछड़ेपन के बावजूद उसकी स्वस्थ सकारात्मक जनसंस्कृति को बचाने का खुला आह्वान बन गया है। इस रेखाचित्र की विराट संदर्भशीलता उसे अन्य रेखाचित्रों से विशिष्ट और भिन्न बना देती है।

रेखाचित्र विधा के कलात्मक मानदंडों पर यदि आप **ठकुरी बाबा** को कसें तो पता चलेगा कि पात्रों के चेहरे, व्यक्तित्व, रूप-रंग, पहनावे, रहन-सहन, अंतरंग व्यक्तित्व आदि की झलकियाँ

ठोस रूप में अंकित करने में महादेवी को पूरी सफलता मिली है। **ठकुरी बाबा** में यद्यपि केंद्रीय पात्र तो एक ही है, पर उसके व्यक्तित्व के बहु आयामी पहलू को दर्शाने के लिए कल्पवास में उसके साथ आई हुई पूरी टोली के सामूहिक परिवेश का सटीक रेखांकन आवश्यक था। इसीलिए महादेवी ने आगंतुकों की टोली द्वारा बसेरा ग्रहण करने के बाद पर्णकुटी के अंदर और बाहर का नए सिरे से दृश्यांकन प्रस्तुत किया है - 'बरामदे की दूसरी ओर का जमघट कुछ विचित्र सा था। एक सूरदास समाधिस्थ जैसे बैठे थे। उनके मुख के चेचक के दाग दृष्टि के जाने के मार्ग की ओर संकेत करते जान पड़ते थे। श्याम और दुर्बल शरीर में कंठ की उभरी नसों का तनाव बताता था कि वे अपनी विकलांगता का बदला कंठ से चुका लेना चाहते हैं। सिरकी की टट्टी बाँधते समय बाँस का एक कोना कुछ बढ़कर खूँटी जैसा बन गया था, इसी से एक चिकारा और एक जोड़ा मंजीरा लटक रहा था। सामान में एक चादर, टाट और एक लुटिया भर थी, जिसके किनारे घिसते-घिसते टेढ़े-मेढ़े और पैने हो गए थे।'

ठकुरी बाबा के अंधे दामाद का यह उपर्युक्त चित्र प्रस्थान बिंदु है अर्थात् कलाकार के ब्रश का पहला स्पर्श मात्र है। इसके बाद टाट की सीमा से बाहर 'वीरासन से विराजमान और तिलकछाप से अपने पांडित्य की घोषणा करने वाले एक प्रौढ़' ब्राह्मण पंडित का चित्र है। फिर स्त्रियों की मंडली का रेखांकन है - बड़ी सी गठरी के सहारे दो वृद्धाएँ सुमिरनी लिए ठंडी ज़मीन पर बैठी थीं जिनमें एक ऊँघ रही थी और दूसरी अपने आसपास बसी सृष्टि के प्रति आवश्यक चौकन्नी लगती थी। दो साँवली किशोरियाँ फटी दरी के टुकड़े पर सो रही काली कलूटी बालिका, चूल्हा खोदने में व्यस्त श्यामांगिनी युवती, अनेक छिद्रों वाली एक काली कंबली में सिकुड़े दो किशोर बालक आदि के सिलसिलेवार चित्र कल्पवास की पर्णकुटी के बदले हुए परिवेश का सजीव स्वरूप आपके सामने ले आते हैं। स्थान, काल, परिवेश, पात्र सबसे अच्छी तरह परिचित होने के बाद ही ठकुरी का व्यक्तित्व सामने आता है जो व्यक्तिपरक आख्यान जैसा आनंद देता है।

वस्तुतः यह घटना-बहुल, चरित्र-बहुल और समस्यामूलक रेखाचित्र है। व्यक्ति और परिवेश, दोनों के रेखांकन की कलात्मक विशेषता महादेवी के रेखाचित्रों को सजीवता प्रदान करती है। यह विशेषता ठकुरी बाबा में और भी गहरी हो गई है।

6.6 सारांश

रेखाचित्र : **ठकुरी बाबा** नामक इस इकाई में आपने महादेवी वर्मा द्वारा लिखित रेखाचित्र 'ठकुरी बाबा' का विश्लेषण और मूल्यांकन का अध्ययन किया है। **ठकुरी बाबा** एक रेखाचित्र है इसलिए यह बहुत ही जरूरी है कि आप यह जानें कि रेखाचित्र के रूप में **ठकुरी बाबा** की विशेषताएँ क्या हैं। उम्मीद है आपने इस दृष्टि से इकाई को समझ लिया होगा है।

ठकुरी बाबा महादेवी वर्मा के अन्य रेखाचित्रों से कई अर्थों में भिन्न है। इसमें **ठकुरी बाबा** और उनके संगी-साथियों का जो जीवन-चित्र प्रस्तुत किया है, उससे भारतीय ग्राम्य समाज के सबसे दरिद्र और उत्पीड़ित लोगों के जीवन की करुणा गाथा हमारे सामने उभर आई है। लेकिन लेखिका ने इसके माध्यम से उन सवालों को भी गहरी पीड़ा के साथ प्रस्तुत किया है जिसने उनके जीवन को कष्टमय बना रखा है। **ठकुरी बाबा** में महादेवी वर्मा ने रेखाचित्र के परंपरागत ढाँचे को तोड़ा है। भाषा की जो रचनात्मक शक्ति दिखाई देती है, वह इस बात का प्रमाण है कि महादेवी का गद्य कितना उत्कृष्ट है। एक ओर, संस्कृत-निष्ठ तत्सम शब्दावली और दूसरी ओर देशज तथा जनपदीय भाषा का प्रयोग ऐसे गद्य की सृष्टि करता है, जिसकी तुलना किसी अन्य लेखक की भाषा से नहीं की जा सकती।

ठकुरी बाबा का मूल्यांकन सिर्फ रेखाचित्र और उसकी कलात्मक उत्कर्षता के आधार पर करना पर्याप्त नहीं है। **ठकुरी बाबा** के माध्यम से उन्होंने अपने समय और समाज, दोनों के गहरे अंतर्विरोधों को भी उजागर किया है। महादेवी की सहानुभूति समाज के पद-दलित और उत्पीड़ित लोगों के प्रति है। विशेषतः नारी समाज को जिस तरह की सामाजिक और मानसिक यातनाओं से गुज़रना पड़ता है, उसका जैसा चित्र महादेवी प्रस्तुत करती है, वह अतुलनीय है। यह इकाई आपको **ठकुरी बाबा** की ऐसी सभी विशेषताओं को समझने का आधार प्रदान करती है।

अभ्यास

1. रेखाचित्र की विशेषताओं के संदर्भ में **ठकुरी बाबा** का विश्लेषण और मूल्यांकन कीजिए।
2. **ठकुरी बाबा** की चारित्रिक विशेषताओं का उल्लेख कीजिए।
3. **ठकुरी बाबा** के माध्यम से महादेवी वर्मा ने किन-किन सामाजिक प्रश्नों को उठाया है? लेखिका के सामाजिक दृष्टिकोण को भी स्पष्ट कीजिए।

इकाई संस्मरण : वसंत का अग्रदूत

इकाई की रूपरेखा

7.0 उद्देश्य
7.1 प्रस्तावना
7.2 संस्मरण की अवधारणा
7.3 संस्मरण का अन्य साहित्यिक विधाओं से संबंध
7.4 हिंदी में संस्मरण-लेखन की परंपरा
7.5 **वसंत का अग्रदूत** की विशिष्टता
7.6 **वसंत की अग्रदूत** की अंतर्वस्तु
7.7 **वसंत का अग्रदूत** का संरचनात्मक वैशिष्ट्य
7.8 सारांश

7.0 उद्देश्य

एम.ए. हिंदी के बीज पाठ्यक्रम 'नाटक और अन्य गद्य विधाएँ' के पाँचवें खंड की दूसरी और पाठ्यक्रम की इक्कीसवीं इकाई है। इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप संस्मरण की अवधारणा और उसके मूलभूत आधार को समझ सकेंगे। संस्मरण और अन्य साहित्यिक विधाओं के पारस्परिक संबंध को स्पष्ट कर सकेंगे। हिंदी में संस्मरण लेखन की परंपरा और प्रमुख संस्मरण लेखकों के बारे में बता सकेंगे।

संस्मरण के रूप में अज्ञेय द्वारा लिखित वसंत का अग्रदूत की विशिष्टता का उल्लेख कर सकेंगे। साथ ही एक संस्मरण लेखक के तौर पर अज्ञेय के महत्व को रेखांकित कर सकेंगे।

वसंत का अग्रदूत संस्मरण की अंतर्वस्तु का विवेचन करते हुए आप निराला के व्यक्तित्व और कवि के रूप में निराला के भावबोध के मुख्य आयामों को समझ सकेंगे।

संस्मरण के रूप में वसंत **का अग्रदूत** के संरचनात्मक विशिष्टता को समझने के क्रम में भाषा और शिल्प की विशेषताओं से परिचित हो सकेंगे।

7.1 प्रस्तावना

'नाटक और अन्य गद्य विधाएँ' नामक इस पाठ्यक्रम की इस इकाई में आप अज्ञेय द्वारा रचित संस्मरण **'वसंत का अग्रदूत'** का अध्ययन करने जा रहे हैं। यह संस्मरण महाकवि निराला के बारे में है।

आधुनिक हिंदी कविता के इतिहास में निराला अपने व्यक्तित्व एवं सृजन-दोनों धरातलों पर सर्वाधिक चर्चित एवं विवादास्पद रचनाकार हैं। अंतर्विरोधों से ग्रस्त निराला इकहरे अथवा पूर्वनिर्धारित फैसलों के लिए चुनौती हैं। उनके व्यक्तित्व में विद्रोह एवं संस्कार की समानांतर उपस्थिति है। अपनी रचनाओं में निराला प्रयोग तथा परंपरा - दोनों धाराओं को सृजनात्मक आयाम देते हैं। वेदांत और मार्क्सवाद, श्रृंगार और भक्ति, मिथक और समसामयिकता, औदात्य और विद्रूपता, अवसाद और व्यंग्य - सब कुछ उनकी ऊर्जस्वित रचनाशीलता में अंतर्लयित हो गया है। निराला की महत्वपूर्ण विशेषता स्वीकृत ढाँचे का अतिक्रमण है, यह ढाँचा चाहे सामाजिक मान्यताओं का हो अथवा रचना-प्रतिमानों का। सीमाओं को तोड़कर मनुष्य एवं रचन की मुक्ति निराला का लक्ष्य है। इसलिए निराला आकर्षित करते हैं। वे राह तोड़ते हैं और नयी

यह बनाते हैं। इसलिए यह अकारण नहीं है कि परवर्ती रचना-पीढ़ी में निराला के लिए एक विशिष्ट आकर्षण है। वे छायावादोत्तर रचना-परंपरा के लिए चुनौती भी हैं और प्रेरणा भी। इन सभी स्थितियों ने निराला को एक किंवदंती पुरुष में बदल दिया है।

इस संस्मरण-लेख के रचनाकार नयी कविता के महत्वपूर्ण हस्ताक्षर सच्चिदानंद हीरानंद वात्सयायन अज्ञेय हैं। यह विचित्र संयोग है कि छायावादोत्तर काव्य में अज्ञेय का व्यक्तित्व, उनका काव्य-चिंतन एवं रचना-कर्म भी अनेक दृष्टियों से विवादास्पद रहा है। अज्ञेय भी 'लीक' जोड़ने वाले कवि हैं और प्रयोगों के माध्यम से नये काव्य-सत्य एवं नयी रचना-प्रणाली के निर्माण का आह्वान करते हैं। विद्रोह एवं प्रयोग - निराला एवं अज्ञेय दोनों रचनाकारों को एक समान धरातल पर ले आता है, हालांकि विद्रोह एवं प्रयोग की प्रकृति - दोनों रचनाकारों के यहां एक-सी नहीं है। इस दृष्टि से यह संस्मरण महत्वपूर्ण भी है और दिलचस्प भी। इस संस्मरण की विशेषताओं पर विचार करने से पूर्व सस्मरण के स्वरूप, अन्य-विधाओं से उसके संबध एवं हिंदी संस्मरणों एवं संस्मरणकारों की परंपरा पर संक्षिप्त दृष्टिपात उचित होगा।

7.2 संस्मरण की अवधारणा

संस्मरण का मूल अर्थ है - सम्यक स्मृति, एक ऐसी स्मृति जो वर्तमान को अधिक सार्थक, समृद्ध और संवेदनशील बनाती है। संस्मरण मूलतः अतीत एवं वर्तमान के बीच एक सेतु है। समय-सरिता के दो तटों के बीच संवाद का माध्यम है संस्मरण। यह एक संबंध-चेतना है जो एक तरफ स्मरणीय को आलोकित करती है तो दूसरी तरफ़ संस्मरणकार को भी अपने मूल्यांकन का अवसर देती है। समय की धुंध में ओझल होती ज़िंदगी को पुनर्सृजित करने की आंतरिक आकांक्षा में ही संस्मरण के बीज निहित होते हैं। इसलिए यह कहा जा सकता है कि संबंधों की आत्मीयता एवं स्मृति की परस्परता ही संस्मरण की रचना-प्रक्रिया का मूल आधार है। संस्मरण में व्यक्ति एक सूचना नहीं होता, बल्कि वह ज़िंदगी के अनेक आवर्तों से लिपटा हुआ एक जीवंत अस्तित्व होता है। संस्मरणकार अपने अनुभवों के प्रकाश में उन आवर्तों की पहचान करता है। इस संदर्भ में यह कहा जा सकता है कि संस्मरण के मूल तत्व हैं - स्मृति, संबंध-भाव, आत्मानुभव और स्वयं को खोजने-पहचानने की ईमानदार कोशिश। स्मृति - यानी अतीतता। स्मृति दरअसल अतीत की वर्तमानता की बोधक है। स्मृति का एक सिरा वर्तमान से बंधा होता है और दूसरा अतीत से। संस्मरण का संबंध उस अतीत से है जो अनुभव के रूप में वर्तमान में जीवित है। इसलिए अतीतता संस्मरण का बुनियादी गुण-धर्म है। संस्मरण सूचना के आधार पर नहीं लिखे जा सकते। साक्षी-भाव भी संस्मरण के लिए पर्याप्त नहीं। एक साथ जीने और बीतने से उपलब्ध भाव ही संस्मरण के आधार होते हैं यद्यपि इस जीने एवं बीतने की अवधि कितनी ही छोटी एवं खंडित क्यों न हो। इसके साथ संस्मरण में रचनाकार अपने को भी विकाशित अथवा विज्ञापित करता चलता है। संस्मरण कल्पना के आधार पर नहीं लिखे जा सकते। अतः आत्मीयता, अनुभव की प्रत्यक्षता एवं घटना तथा परिवेश की सत्यता - संस्मरण के मूलभूत आधार कहे जा सकते हैं। सामान्यतः यह माना जाता है कि महान् व्यक्तियों के ही संस्मरण लिखे जाते हैं जबकि सच यह है कि संस्मरण में व्यक्ति संबंध के कारण महत्वपूर्ण है, अपनी महानताओं के कारण नहीं। जो संबंध किसी भी स्तर पर लेखक की ज़िंदगी को अर्थ देता है, उसमें भराव या खालीपन पैदा करता है, वह संस्मरणीय हो सकता है।

अपनी प्रकृति में संस्मरण मूलतः विधा नहीं है। इसमें कहानी, निबंध, जीवनी, आत्मकथा और रेखाचित्र की अनेक विशेषताएँ संश्लिष्ट हैं। लेकिन प्रचुर लेखन एवं समृद्ध परंपरा ने संस्मरण को एक स्वतंत्र पहचान दी है और इस पहचान के आधार पर ही उसने नयी गद्य-विधाओं में अपनी एक हैसियत बनाई है। जीवन के लौकिक अनुभवों को संबंधों के आलोक में सहेजने की आकांक्षा ने ही संस्मरण-लेखन को प्रेरित किया हे। इसलिए एक विधा के रूप में उसकी स्थिति जानने और उसकी विशिष्टता की पहचान के लिए अन्य विधाओं से उसके संबंधों की संक्षिप्त चर्चा अपरिहार्य है।

7.3 संस्मरण का अन्य साहित्यिक विधाओं से संबंध

जैसा कहा गया है - संस्मरण एक मिश्रित विधा है, फिर भी आज उसकी स्वतंत्र पहचान है। यह पहचान अन्य विधाओं की सापेक्षिकता में है, इसलिए अन्यों के साथ ही उसकी विशिष्टता भी है। यहाँ हम निबंध, कहानी, जीवनी आत्मकथा, रेखाचित्र एवं यात्रा-संस्मरण से संस्मरण की तुलना करते हुए उसकी विशिष्टता की परीक्षा करेंगे।

निबंध और संस्मरण

निबंध की तरह संस्मरण का अस्तित्व भी विधा के रूप में नया है। कालक्रम की दृष्टि से निबंध सस्मरण का पूर्ववर्ती है। दोनों ही गद्य-विधाएँ हैं। निबंध का क्षेत्र संस्मरण की तुलना में अधिक व्यापक है। विषय की निर्बंध विविधता और शैली की अनेकरूपता निबंध में संभव है। भगवती चरण वर्मा की मान्यता है कि संस्मरण निबंध की ही एक शैली है। यद्यपि संस्मरणा में निबंध के कुछ तत्व मिलते हैं लेकिन अपने विकसित एवं व्यावहारिक अर्थ में संस्मरण अपना स्वतंत्र रूप ग्रहण कर चुका है। संस्मरण अनिवार्यतः अतीत से सम्बद्ध होता है, निबंध पर यह अनिवार्यता लागू नहीं होती। संस्मरण का आधार स्मृति है, निबंध का विचार। संस्मरण में संबंधों एवं घटनाओं का संदर्भ सत्य पर आधारित है जबकि निबंध में कल्पनाशीलता अनिवार्य होती है। आत्मीयता संस्मरण का प्रधान गुण है और स्मृति-रक्षा इसका सबसे बड़ा प्रयोजन जबकि निबंध में विचार, तर्क और कल्पनाशीलता के द्वारा अपनी धारणाओं की अभिव्यक्ति निबंध का मूल प्रयोजन है।

कहानी और संस्मरण

कहानी एवं संस्मरण के रचना-विधान का बाहरी ढाँचा मिलता-जुलता है। दोनों ही विधाओं के केंद्र में अतीत होता है। इस केंद्र की एकरूपता के कारण ये दोनों विधाएँ एक-दूसरे में संक्रमित होती रहती हैं। रामवृक्ष बेनीपुरी की 'माटी की मूरतें' एवं महादेवी वर्मा के 'अतीत के चलचित्र' में संकलित रचनाएँ संस्मरण होने के बावजूद कहानी का-सा प्रभाव पैदा करती है। दूसरी तरफ कहानीकार कहानी की रचना-प्रक्रिया के दौरान संस्मरण की राह से गुजरता है। अपने एक साक्षात्कार में उपेन्द्रनाथ अश्क ने कहानी एवं संस्मरण की परस्परता को स्वीकार करते हुए कहा है - "ऐसा हो सकता है कि संस्मरण हू-ब-हू कहानी के रूप में हो। अच्छे लिखे गए संस्मरण और कहानी में अंतर नहीं रहता, विशेषकर जब कोई सिद्धहस्त कथाकार उसे लिखे।" दूसरी तरफ़ आत्मकथात्मक शैली में लिखी जाने वाली कहानियों में सस्मरण की-सी विश्वसनीयता एवं प्रभाव होता है। शिवपूजन सहाय की 'कहानी का प्लाट', पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' की 'दे ख़ुदा की राह पर' और निर्मल वर्मा की 'सूखा' कहानियाँ संस्मरण का आभास देती हैं। लेकिन कहानी एवं संस्मरण निश्चित रूप से भिन्न विधाएँ हैं। कहानी की कथावस्तु काल्पनिक होती हैं। इसमें कल्पना एवं कला का संस्पर्श पाकर अवास्तविक भी 'वास्तव' का आभास देता है, जबकि संस्मरण का केंद्र सत्य होता है। यहाँ सत्य आभासित नहीं होता, सृजित होता है। संस्मण में भी कल्पना का प्रयोग होता है, लेकिन इसमें कल्पना की भूमिका संयोजन, अन्वय एवं रचनात्मक प्रभाव पैदा करने की होती है। कहानी में आलम्बन के प्रति कहानीकार की प्रत्यक्ष प्रतिक्रिया भोक्ता के रूप में नहीं होती जबकि संस्मरण में लेखक आदि से अंत तक आलम्बन के साथ एक गहरी आत्मीयता से युक्त होता है। इसलिए कहानी एवं संस्मरण का विधात्मक स्वरूप निश्चय ही एक-दूसरे से भिन्न है।

जीवनी, आत्मकथा एव संस्मरण

जीवनी, आत्मकथा तथा संस्मरण - ये तीनों विधाएँ अतीत के सत्य से जुड़ी होने के कारण सजातीय हैं। लेकिन तीनों में ठोस अंतर भी है। जीवनी-लेखन की प्रक्रिया बहुत कुछ इतिहास-लेखन से मिलती-जुलती है। वस्तुतः जीवनी एक व्यक्ति का इतिहास है। इसलिए जीवनीकार से यह अपेक्षा की जाती है कि वह पूर्वग्रह-रहित हो। उसमें दृष्टा-भाव हो, भोक्ता-भाव नहीं। जीवनी का विस्तार सम्बद्ध व्यक्ति के पारिवारिक-सामाजिक संदर्भों के साथ उसके स्वभाव और

वृत्ति की आंतरिक संरचना तक होता है।'आत्मकथा' का रचयिता स्वयं लेखक होता है इसलिए आत्मपरकता 'आत्मकथा' का मूल आधार होती है। घटनाओं के चयन या त्याग का अधिकार आत्मकथा लेखक को होता है। आत्मकथा लेखक के अपने अनुभव एवं स्मृति के आलोक में अपने समूचे जीवन का पुनरावलोकन है। संस्मरण में जीवनी और आत्मकथा के कुछ तत्व हो सकतें हैं। संस्मरण जीवनी-लेखन में संदर्भ स्रोत की भूमिका निभा सकता है। लेकिन इन विधाओं का स्वतंत्र अस्तित्व सर्वस्वीकृत है। जीवनी में जीवनीकार का निजी जीवन शामिल नहीं होता जबकि संस्मरण में लेखक आद्योपांत उपस्थित रहता है। संस्मरण का सत्य स्वयं लेखक के द्वारा अनुभूत होता है। जीवनी में यह संभव भी नहीं है और अपेक्षित भी नहीं। इसी तरह संस्मरण आत्मकथा से भी भिन्न है। आत्मकथा के केंद्र में लेखक का अपना जीवन होता है। संस्मरण के केंद्र में स्मरणीय व्यक्ति रहता है। आत्मकथा में संस्मरण के टुकड़े हो सकते हैं। अतः विस्तार की दृष्टि से भी संस्मरण जीवनी एवं आत्मकथा से भिन्न होता हे। संस्मरण का आकार उक्त विधाओं की तुलना में छोटा होता है, क्योंकि उसमें समग्रता का विस्तार अपेक्षित नहीं।

यात्रा-वृत्त एवं संस्मरण

यात्रा-वृत्त एवं संस्मरण तात्विक रूप से एक दूसरे से जुड़े हुए हैं। यात्रा-वृत्त संस्मरण का ही एक विशिष्ट रूप है, इसलिए यात्रा-वृत्त को 'यात्रा संस्मरण' भी कहने का रिवाज़ है। दरअसल यात्रा-वृत्त एव संस्मरण में अंतर विषयवस्तु के धरातल पर ही है। यात्रा-वृत्त यायावर के अनुभव, सौंदर्य बोध एवं प्रतिक्रिया की अभिव्यक्ति है। इसमें भौगोलिक विस्तार, प्राकृतिक सौंदर्य एव यात्रा की महत्वपूर्ण घटनाएँ शामिल होती हैं। यात्रा-वृत्त का उपजीव्य अनुभव का वास्तविक जगत ही होता है। इस दृष्टि से यात्रा-वृत्त का संस्मरण से सीधा संबंध है। यात्रा-वृत्त की विशिष्टता को रेखांकित करते हुए डॉ0 रामस्वरूप चतुर्वेदी लिखते हैं - "यात्रा-संस्मरण का एक पक्ष भूगोल के आकर्षण से जुड़ा है। देश-दर्शन यात्रा-संस्मरण की मूल वृत्ति है जिसमें एक ओर प्रकृति की पुकार है, दूसरी ओर साहसिक जिज्ञासा। यात्रा मानो विराट मानवीय विकास का ही एक सीमित प्रतीक है। इस दृष्टि से यात्रा-संस्मरण लेखक और पाठक दोनों के लिए एक आदिम प्रतीक या पुराण-कथा की भाँति बार-बार अपने को खोलता चलता है।" संस्मरण और यात्रा-वृत्त का मूल पार्थक्य इनके केंद्रों के स्तर पर है। संस्मरण के केंद्र में सामान्यतः एक व्यक्ति होता है जिसे लेखक संबंधों के आत्मीय आलोक में चित्रित करता है, जबकि यात्रा-वृत्त भूगोल और यात्री के राग-संवेदन की संश्लिष्ट पुनर्रचना है। भूगोल के अतिरिक्त कुछ यात्रा-संस्मरणों में समाज, इतिहास और संस्कृति की तह तक पहुंचने की प्रवृत्ति भी दिखाई देती है। ऐसे यात्रा-संस्मरणों में अज्ञेय की 'एक बूँद सहसा उछली' और निर्मल वर्मा की चीड़ों पर चाँदनी' की चर्चा की जा सकती है।

रेखाचित्र एवं संस्मरण

आधुनिक गद्य-विधाओं में रेखाचित्र एव संस्मरण एक दूसरे के सर्वाधिक निकट है। ये विधाएँ अपने रूप, रचना-प्रक्रिया एवं आस्वाद के धरातल पर एक दूसरे में संक्रमित होती हुई एक ही विधा का आभास देती हैं। इसलिए सैद्धांतिक स्तर पर इन्हें अलगाया तो जा सकता है, लेकिन रचनात्मक स्तर पर ये एक-दूसरे से संगुम्फित हैं। महादेवी वर्मा की 'अतीत के चलचित्र', स्मृति की रेखाएँ' और 'पथ के साथी' - रचनाएँ विधा के स्तर पर रेखाचित्र भी हैं और संस्मरण भी। रामवृक्ष बेनीपुरी की 'माटी की मूरतें' में रेखाचित्र एवं संस्मरण का अंतर्लयन हो गया है। लेकिन गहराई से विश्लेषण करने पर इन विधाओं में अंतर की लकीरें दिखाई देती है।

रेखाचित्र में रूपाकृति की संरचना पर बल होता है। अतः इसमें अतीत, घटनाओं से नहीं, बल्कि रूप की स्मृति से आलोकित होता है। संस्मरण के केंद्र में घटनाओं एवं मनोभावों से निर्मित अतीत होता हे। रेखाचित्र का अतीत वस्तुगत होता है जबकि संस्मरण का आत्मगत। रेखाचित्र में लेखक विषय को उसकी स्थिरता में पकड़ता है जबकि संस्मरण में अनुभव की गत्यात्मकता में रेखाचित्र में रचनाकार स्मृति को चित्रात्मक धरातल पर उपलब्ध करता है जबकि संस्मरण

में संबंधों की परतदार एवं गतिशील स्मृतियाँ प्रधान होती हैं। रेखाचित्र में लेखक का व्यक्तित्व अनुपस्थित रह सकता है जबकि संस्मरण में लेखक के जीवन का उद्घाटन भी होता चलता है। रेखाचित्र में पर्यवेक्षण प्रधान होता है, संस्मरण में संवेदन।

लेकिन जैसा कहा गया है कि ये विधाएँ परस्परता के सूत्र से इस तरह बँधी हुई हैं कि उक्त अंतरों को आत्यंतिक नहीं कहा जा सकता। महादेवी वर्मा के स्पष्ट, निर्धारित रेखाचित्रों में भी उनका निजत्व इतना लीन हो गया है कि वे संस्मरण का आस्वाद देते हैं। इसके विपरीत उनके संस्मरणों की परिणति भी रूपांकन की प्रबलता के कारण रेखाचित्र में हो गई है। वस्तुतः अनेक बिंदुओं पर ये दोनों विधाएँ एक दूसरे से उपकृत होती हुई विकसित हुई हैं।

समग्रतः यह कहा जा सकता है कि संस्मरण एक मिश्रित विधा है, इसलिए उसका यांत्रिक तथा शुद्ध पैमाना नहीं बनाया जा सकता। फिर भी रचना की निरंतरता एवं विकास-प्रक्रिया में संस्मरण ने अपनी एक पहचान कायम की है। आज इस विधा का विपुल भण्डार है और वह क्रमशः वर्णन अथवा याद की सपाटता से चलकर एक संश्लिष्ट, सर्जनात्मक धरातल उपलब्ध कर सका है।

7.4 हिंदी में संस्मरण-लेखन की परंपरा

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने अपने 'हिंदी साहित्य का इतिहास' में आधुनिक काल को गद्य काल की संज्ञा दी और अकाल्पनिक गद्य के क्षेत्र में निबंध की चर्चा की। लेकिन गद्य की अन्य नयी गद्य-विधाओं का उल्लेख उन्होंने नहीं किया। इससे पता चलता है कि बीसवीं-शताब्दी के चौथे दशक तक अकाल्पनिक गद्य-विधाओं की कोई विशिष्ट पहचान नहीं बन सकी थी। यद्यपि हिंदी में संस्मरण-लेखन का सिलसिला इस शताब्दी के तीसरे दशक में शुरू हो चुका था, लेकिन विधा के रूप में उसकी स्वतंत्र पहचान पाँचवें दशक में ही हो सकी।

हिंदी के आरंभिक संस्मरणकारों में पहला महत्वपूर्ण नाम पद्मसिंह शर्मा का है जिन्होंने संस्मरण को एक साहित्यिक विधा के रूप में प्रतिष्ठित करने के साथ उसे एक स्वतंत्र पहचान भी दी। सन् 1929 में उनकी संस्मरणात्मक 'पद्म पराग' का प्रकाशन हुआ जिसमें महाकवि अकबर, सत्यनारायण कविरत्न, भीमसेन शर्मा आदि पर मार्मिक संस्मरण हैं। ये संस्मरण भावुकता से संचालित होने के साथ हल्के विनोद-भाव से भी सम्पृक्त हैं। संस्मरण-लेखन के क्षेत्र में प्रसिद्ध पत्रकार बनारसी दास चतुर्वेदी का नाम भी आदर के साथ लिया जाता है। **संस्मरण** शीर्षक से उनकी पुस्तक का प्रकाशन सन् 1952 में हुआ। इस पुस्तक में चतुर्वेदी जी ने श्रीधर पाठक, द्विजेंद्र नाथ ठाकुर, गणेश शंकर विद्यार्थी किशोरी लाल गोस्वामी आदि पर प्रभावशाली ढंग से लिखा। इन संस्मरणों में व्यक्तित्व-विश्लेषण का उपक्रम कम है, व्यक्तित्व से अभिभूत होने की प्रवृत्ति अधिक है। इनके संस्मरणों की रचना-प्रक्रिया छोटी-छोटी घटनाओं और पत्रों का सहारा लेकर सम्पन्न होती है इसलिए स्मरणीय की चारित्रिक वृत्तियों की पकड़ संभव नहीं हो पाती। कन्हैया लाल मिश्र 'प्रभाकर' की संस्मरण-पुस्तक का प्रकाशन सन् 1956 में **दीप जले शंख बजे** शीर्षक से हुआ। साधारण के प्रति आकर्षण तथा स्वस्थ एवं नैतिक जीवन की माँग का स्वर उनके संस्मरणों में मुखर है। संस्मरण लेखन के क्षेत्र में महादेवी वर्मा को महारत हासिल है। यूँ तो महादेवी जी के गद्य-लेखन में संस्मरण एवं रेखाचित्र एक दूसरे में संक्रमित होते रहते हैं, इसलिए यह कह पाना सरल नहीं कि उनकी कौन-सी पुस्तक विशुद्ध रेखाचित्र है और कौन-सी विशुद्ध संस्मरण। फिर भी विचारपूर्वक यह कहा जा सकता है कि सन् 1956 में प्रकाशित **पथ के साथी** में संस्मरण का रंग गहरा है। इसमें उन्होंने रवीन्द्रनाथ ठाकुर, मैथिलीशरण गुप्त, सुभद्रा कुमारी चौहान तथा छायावाद के तीनों महारथियों - प्रसाद, निराला, पंत पर अविस्मरणीय संस्मरणों की सृष्टि की है। संस्मरण-लेखन की दृष्टि से बीसवीं शताब्दी का छठा दशक बहुत उर्वर रहा है। हमारा प्रतिपाद्य विषय अज्ञेय की **स्मृति-लेखा** में संकलित

वसंत का अग्रदूत है। अतः यहाँ संक्षेप में कुछ महत्वपूर्ण संस्मरणकारों एवं उनकी पुस्तकों का उल्लेख ही उचित होगा - शांतिप्रिय द्विवेदी - पथचिह्न (1941 ई.), रामवृक्ष बेनीपुरी - माटी की मूरतें (1946 ई.) पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' - व्यक्तिगत (1954 ई.), उपेन्द्रनाथ अश्क - मंटो : मेरा दुश्मन (1956), शिवरानी देवी - प्रेमचंद : घर में 91956 ई.) जैनेन्द्र कुमार - ये और वे, माखन लाल चतुर्वेदी - समय के पाँव (1962 ई.), जगदीश चन्द्र माथुर - दस तस्वीरें (1963 ई.), रामधारी सिंह दिनकर - लोकदेव नेहरू (1965 ई.)।

अज्ञेय की **स्मृति लेखा** संस्मरण लेखन की इस परंपरा की महत्वूर्ण कड़ी है। इसमें बारह व्यक्तियों के संस्मरण हैं, जिनका क्रम इस प्रकार है - भारत कोकिला (सरोजनी नायडू), राष्ट्रकवि (मैथिलीशरण गुप्त), स्मरण का स्मृतिकार (रायकृष्ण दास), उपन्यास-सम्राट (प्रेमचंद), वसंत का अग्रदूत (सूर्यकांत त्रिपाठी निराला) स्वर-सिद्ध (सुमित्रानंदन पंत), कवि-वत्सला (होमवती देवी), एक भारतीय आत्मा : एक चुनौती (माखनलाल चतुर्वेदी), धरती का धनी (फणीश्वरनाथ रेणु), समय-सूर्य (रामधारी सिंह दिनकर), बीसवीं शताब्दी का बाणभट्ट (हजारी प्रसाद द्विवेदी) तथा असीम औ ससीम के बीच (बालकृष्ण शर्मा नवीन)। ये सभी व्यक्तित्व साहित्य जगत से सम्बद्ध हैं। अज्ञेय अपनी अन्तर्मुखता के कारण चर्चित रहे हैं, लेकिन इन संस्मरणों में वे सहज, उन्मुक्त और मुखर हैं। इन संस्मरणों में स्मरणीय को एक मनुष्य एवं रचनाकार - दोनों रूपों में देखा गया है। व्यक्ति एवं रचनाकार के बीच जो एक अदृश्य सूत्र होता है उसे पहचानने और व्याख्यायित करने का प्रयास यहाँ दिखाई देता है। इस स्तर पर ये संस्मरण सम्बद्ध रचनाकारों की ज़िंदगी के उन हिस्सों को सामने ले आते हैं जो उनके रचना-संसार को समझने की पृष्ठभूमि तैयार करते हैं। अपने वरिष्ठ रचनाकारों पर अज्ञेय ने जिस तरह से लिखा है उससे परंपरा और आधुनिकता के अंतर्संबंधों पर प्रकाश पड़ता है। ये सभी संस्मरण गलदश्रु भावुकता एवं अंध विद्वेष के अतिवाद से मुक्त हैं। अज्ञेय की रचना-प्रक्रिया में बौद्धिकता की भूमिका महत्वपूर्ण रही है और ये संस्मरण भी लेखक के बौद्धिक मिज़ाज से अछूते नहीं हैं। इस बौद्धिकता ने इन संस्मरणों में एक संतुलन पैदा किया है। एक गहरी विनम्रता का भाव इन संस्मरणों में आद्योपांत विद्यमान है। अज्ञेय के अनुसार इन संस्मरणों का मूल लक्ष्य उस मूल्यवान स्मृति को सुरक्षित रखना है जो हर वर्तमान को एक दिशा, पहचान और संस्कार देती है। 'स्मृति-लेखा' की मूल प्रेरणा की चर्चा करते हुए, उसके दूसरे संस्करण की भूमिका में अज्ञेय लिखते हैं, हमारे साहित्यिक संवेदन का निर्माण करने वाले, संस्कार देने वाले और हमारी अस्मिता से पहचान कराने वाले श्रद्धेय रचनाकारों की स्मृति को सुरक्षित रखना ही इन संस्मरणों की मूल प्रेरणा है। अखबारी एक आयामिता एवं तात्कालिकता वाले इस वर्तमान में हमारी महान् प्रतिभाओं की प्रतिभा पर पड़ी हुई धूल को झाड़कर उन्हें बार-बार पहचानने योग्य बनाना- इन संस्मरणों की सार्थकता का आधार हो सकता है।

7.5 'वंसत का अग्रदूत' की विशिष्टता

वंसत का अग्रदूत के सम्यक विश्लेषण के लिए संक्षेप में 'स्मृति-लेखा' के अन्य संस्मरणों पर एक संक्षिप्त चर्चा उचित होगी। जैसा कि कहा गया है - ये संस्मरण अज्ञेय की रचना-दृष्टि, परंपरा-बोध एवं सांस्कृतिक-चेतना के भी महत्वपूर्ण स्रोत हैं, इसलिए संदर्भानुसार इन प्रसंगों का उल्लेख भी किया जाएगा। 'स्मृति-लेखा' का पहला संस्मरण भारत कोकिला सरोजनी नायडू से सम्बद्ध है। श्रीमती नायडू प्रखर वक्ता राजनेता होने के साथ अंग्रेज़ी की कवयित्री भी थीं। अंग्रेज़ी में लिखने वाले भारतीय रचनाकारों की औसत प्रतिभा भी साम्राज्यवादी भाषा का दबदबा और उसकी व्यापक स्वीकृति है। इस स्थिति पर अपनी टिप्पणी में अज्ञेय लिखते हैं, "बड़ा दिखाने वाले मुकुर में जैस बिम्ब, से प्रतबिंब बड़ा दीखने लगता है, वैसे ही अंग्रेज़ी में लिखने वाले भारतीय की प्रतिभासित देशी छवि भी बहुत बड़ी दीखने लगती है।"

मैथिलीशरण गुप्त यानी दद्दा को अज्ञेय ने अपना गुरु-स्थानीय मानते हुए संस्मरण का आरंभ किया है। मैथिलीशरण गुप्त खड़ी बोली हिंदी के एकमात्र ऐसे कवि हैं जिन्होंने भाषा के साथ

हिंदी कविता के लिए एक नया पाठक वर्ग तैयार किया। परंपरागत कविता के संस्कारों में बुनियादी परिवर्तन करते हुए उसे युग-आकांक्षा से जोड़ा। भारतीयता, देश भक्ति, प्रकृति-चित्रण एवं पौराणिक अख्यानों के ढाँचे को सुरक्षित रखते हुए उनमें अपने वर्तमान की चिंताओं के समावेश के द्वारा हिंदी कविता की नयी संभावनाओं का द्वार उन्होंने खोला। अज्ञेय लिखते हैं, 'कैसे बिना परंपरा से नाता तोड़े, नये चिंतन को भी आत्मसात करते हुए युवतर पीढ़ी के लिए एक चुनौती बने रह सके - यह नये लेखक के लिए समझने की बात है। परंपरा तोड़े बिना कैसे आधुनिक हुआ जा सकता है - इसका उदाहरण **हिंदू** से लेकर **यशोधरा** तक की उनकी काव्य-यात्रा में प्रत्यक्ष दीखता है।' इस संस्मरण में अज्ञेय ने दद्दा के व्यक्तित्व के अनेक पहलुओं पर प्रकाश डाला है, लेकिन उनके व्यक्तित्व की जो विशेषता चकित करती है, वह है - ठेठ किसानी सहजता एवं संस्कार के साथ मशीनों के प्रति गहरा आकर्षण। अज्ञेय की यह टिप्पणी गुप्त जी के कवि व्यक्तित्व के साथ न्याय करती है कि - **'वह विरोधाभासों के संगम पर पनपने वाले इस प्राचीन देश किंतु नये राष्ट्र के कवि हैं।'**

उपन्यास-सम्राट प्रेमचंद पर लिखे गए संस्मरण में व्यक्तिगत संबधों की चर्चा बहुत कम है। दरअसल उसे संस्मरण नहीं कहा जा सकता। प्रेमचंद की औपन्यासिक चेतना तथा हिंदी-कथा साहित्य को उनकी देन पर बहुत गहराई और विस्तार के साथ विचार किया गया है। अज्ञेय के अनुसार प्रेमचंद ने साहित्य और साहित्यकार की जवाबदेही तय की। साहित्यकार समाजसेवी है और साहित्य-कर्म मूलतः साधना। प्रेमचंद की दृष्टि में साहित्यकार के लिए साधना का बहुत महत्व होता है। अज्ञेय ने प्रेमचंद की इस धारणा को आत्मसात किया है और संभवतः इसी आधार पर रचना में विचारधारात्मक सत्य एवं आनुभूतिक सत्य के सापेक्षिक महत्व का निर्धारण किया है।

प्रेमचंद की औपन्यासिक चेतना के संबंध में अज्ञेय की धारणाएँ प्रगतिवादी निष्कर्षों के विरोध में हैं, लेकिन वे समझ और आस्वाद की नयी दिशाओं का द्वार खोलती हैं - 'प्रेमचंद के साहित्य का बुनियादी मूल्य संघर्ष का नहीं, समवेदना का, महाकरूणा का था। प्रेमचंद के श्रेष्ठ उपन्यास **गोदान** का होरी इस करूणा का प्रतीक है।'

छायावाद के महत्वपूर्ण स्तंभ एवं प्रकृति के सुकुमार कवि सुमित्रानंदन पंत पर लिखे संस्मरण में उनके व्यक्तित्व के अनेक पहलुओं, मानसिक अवसादों एवं रचना-प्रवृत्तियों पर प्रकाश डाला गया है। पंत को छायावादियों में सबसे पहले प्रतिष्ठा मिली, ख्याति मिली, लेकिन निर्मम आलोचनाओं का कहर भी उन्हीं पर टूटा। बीमारी, आलोचनात्मक प्रहार और भीतरी सृजनात्मकता की सिकुड़ती तरंगों ने पंत को कहीं बहुत अकेला कर दिया था, जिसका असर उनके स्वभाव एवं व्यक्तित्व पर पड़ा। अज्ञेय के अनुसार पंत वैसे भी स्वभाव से संकोची तथा बेहद संवेदनशील थे। इसी कारण तुनक मिज़ाज भी। उनके स्वभाव में एक विशेष प्रकार की परनिर्भरता थी। पंत को अज्ञेय ने हिंदी का कालिदास कहा है। सूक्ष्म पर्यवेक्षण और समर्थ संवेदनामयी संप्रेषी भाषा का दुर्लभ संयोग पंत की रचनाशीलता में दिखायी देता है।

माखन लाल चतुर्वेदी के संबंध में अज्ञेय लिखते हैं कि वे भारतीय अस्मिता को रूपायित करने वाले रचनाकार थे। स्वाधीनता का आह्वान उनके यहाँ महज शब्द के स्तर पर नहीं है, बल्कि स्वाधीनता तो उनके व्यक्तित्व का अभिन्न हिस्सा है। फणीश्वरनाथ रेणु के साथ अज्ञेय के रिश्ते बहुत सघन और एक सीमा तक अनौपचारिक हैं। इसलिए उन पर लिखे गए संस्मरण में एक खुलापन है। घटनाओं, मुलाकातों एवं परिवेश को ब्यौरों में वर्णित किया गया है। इस संस्मरण की संरचना में अलग-अलग स्मृति-खंडों को संयोजित किया गया। प्रत्येक स्मृति खंड रेणु के व्यक्तित्व के किसी-न-किसी पक्ष को उद्घाटित करता है। हर स्मृति टेक की तरह उस अंतिम मुलाकात पर लौटती है जो पटना के अस्पताल के एक बिस्तर पर हुई थी। रेणु का देहांत हो गया था। देहांत द्वारा उत्पन्न हुई रिक्तता की पीड़ा से यह संस्मरण आवेशित है। इसलिए आत्मीयता भी है और उदासी की एक महीन लय भी। रेणु गाँव के रचनाकार हैं लेकिन यह

गाँव किताबों अथवा मतवादों की झोली से नहीं निकला है। एक बेहद जीवंत और सम्पूर्ण चित्रण उनके उपन्यासों में हुआ है। अज्ञेय के अनुसार 'अकेले रेणु के उपन्यासों में गाँवों की समस्त बुराई, कमनगी और गज़ालत के बीच एक अखंड मानवी विश्वास की चिनगारी सुलगती दीखती है।' बेपनाह कारूण्य रेणु के कथा-संसार में मिलता है। **मैला आंचल** रेणु की ही नहीं, सम्पूर्ण भारतीय कथा-साहित्य की गौरवपूर्ण उपलब्धि है। स्वतंत्र भारत के गाँव की समूची ज़िंदगी अपूर्व रचनात्मक आवेश के साथ अपनी यथार्थता में यहाँ उपस्थित है। पंडित हजारी प्रसाद द्विवेदी को अज्ञेय ने बीसवीं शताब्दी का बाणभट्ट कहा है। उनके व्यक्तित्व में आचार्यत्व एवं सहजता का दुर्लभ संयोग था। आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियों के प्रति पंडित जी में गहरी सहानुभूति थी। अपने संस्मरण में अज्ञेय ने पं. हजारी प्रसाद द्विवेदी के व्यक्तित्व की सीमाओं की ओर भी इशारा किया है। वें सहज थे, लेकिन उनमें निर्णय लेने और संकल्प शक्ति का अभाव था। प्रकाण्ड पांडित्य शायद उनकी ज़िंदगी को बुनियादी स्तर पर नहीं बदल पाया था। ज्ञान तो मुक्त करता है, निर्भयता देता है - लेकिन पंडित जी के जीवन में उसकी ऐसी भूमिका नहीं दिखाई देती। उनके व्यक्तित्व की इस कमज़ोरी का लाभ उनके प्रिय शिष्यों ने अपने हितों के लिए किया। पंडित जी के व्यक्तित्व एवं लेखन का मूल्यांकन करते हुए अज्ञेय लिखते हैं - 'आचार्यत्व से और ऊपर भी उनका एक पद युगावधि सुरक्षित रहेगा - एक ऐसे विद्वान का पद जो अपनी सारी विद्वता को मुट्ठी भर धान की तरह बाँटता बिखेरता हुआ हँसता है, हँसाता है,ऐसी हँसी जो मानवीय सहानुभूति के किसी गहरे स्रोत से फूट कर निकलती है।' बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' और अज्ञेय में साझीदारी सबसे अधिक है। नवीन की बेचैन बौद्धिकता का साया अज्ञेय पर भी है। नवीन के चरित्र को अज्ञेय ने महाकाव्यात्मक नायक के अनुरूप पाया है। उनमें विराट एवं अंतर्विरोधी धर्मों का अनुष्ठान है - 'परम वैष्णव, चरम साहसी, अत्यंत भावुक, वज्रादपि कठारे (और निश्चय ही कुसुमादपि मृदु), सदैव फक्कड़ हंसी लिए हुए लेकिन ट्रेजेडी की संभावनाओं से भरा हुआ।'

इन संस्मरणों से **वसंत का अग्रदूत** किंचित अलग दिखायी देता है। निराला को लेकर अज्ञेय के मन में एक गहरा प्रायश्चित बोध है। कवि रूप में वे नयी रचनाशीलता की प्रेरणा एवं पथ प्रदर्शक भी हैं। विपरीत जीवन-परिस्थितियों में, शरीर ओर मन की टूटन के बावजूद निराला की अप्रतिहत रचनाशीलता स्वयं में एक मूल्य है। इस संस्मरण में निराला को देखने वाली आँख दूसरों के पैमानों पर निराला को नहीं परखती, बल्कि निराला यहाँ स्वयं ही प्रतिमान है। अज्ञेय ने निराला के व्यक्तित्व एवं रचना के अनेक आयामों को चित्रित किया है। अपनी सम्पूर्णता में यह संस्मरण भी करूणासिक्त है। सन् 1940 में विश्व भारती के एक अंग्रेज़ी त्रैमासिक पत्र में अज्ञेय ने निराला के लिए लिखा था - 'निराला इज डेड।' निराला की सृजनशीलता की मृत्यु-घोषणा का पछतावा अज्ञेय के मन में तो है ही, निराला भी इससे कम आहत नहीं हैं। हालांकि संस्मरण की भूमिका में और **वसंत का अग्रदूत** में भी यह स्पष्ट किया गया है कि निराला को उक्त लेख की जानकारी नहीं थी। किंतु 'निराला इज डेड' की आवृत्ति निराला कई बार करते हैं जिससे निराला के आहत मन और गहरे अवसाद का संकेत मिलता है। इस संस्मरण में निराला के मनुष्य रूप एवं कवि रूप में निहित अद्वैत को रेखांकित किया गया है। निर्बन्धता या स्वातंत्र्य - उनके दोनों रूपों का केंद्रीय सूत्र है। अपने प्रार्थना-गीतों में इस निर्बंधता की आकांक्षा को निराला प्रकट करते हैं :

'काट बंध डर के बंधन स्तर
बहा जननि ज्योतिर्मय निर्झर
कलुष भेद तम हर प्रकाश भर
जगमग जग कर दे।'

वसंत का अग्रदूत में निराला की प्रयोगधर्मी सृजन-चेतना की पहचान की गई है। वे क्लासिकल कवि भी हैं और प्रयोगधर्मी भी। विराट औदात्य एव परिचित सहजता की अकुंठ समानांतरता निराला को विशिष्ट पहचान देती है। इस संस्मरण में निराला के व्यक्तित्व कं साथ उनकी सृजनशीलता के अनेक आयामों का भी उद्घाटन किया गया है। इस दृष्टि से यह संस्मरण

निराला को समझने के साथ अज्ञेय को जानने का भी अवसर देता है। अपने-अपने युग के प्रतिनिधि कवियों को संस्मरण के विधान में पाना - निश्चय ही बहुत दिलचस्प और सार्थक है।

7.6 'वसंत का अग्रदूत' की अंतर्वस्तु

वसंत का अग्रदूत में निराला को सम्पूर्णता में जानने की कोशिश की गई है। अज्ञेय निराला के अंतरंगों में नहीं हैं, लेकिन अनेक मुलाकातों में उन्होंने निराला को जिस रूप में देखा और समझा है, उन्हीं मुलाकातों की पगडंडियों के सहारे इस महाकवि की ज़िंदगी की गहराइयों में उतरने का उन्होंने प्रयास किया है। निराला को महान् बनाने या क्षुद्र बताने का कोई आग्रह अज्ञेय में नहीं है। एक सामान्य मनुष्य अपनी सीमाओं-संभावनाओं एवं संघर्षों के साथ ही सार्थक रचनाकार होता है। इस धारणा का निर्वाह इस लेख में निरंतर मिलता है। निराला शराब पीते हैं, मांस भक्षी है, अक्खड़ता उनके स्वभाव में है, लेकिन इसके बावजूद उनमें मानवीय गुणों की प्रचुरता है। सभी कमज़ोरियों के साथ वे करुणावान हैं, संस्कारी हैं तथा सार्थक रचनाकार हैं। दरअसल किसी भी रचनाकार अथवा मनुष्य को मापने के ऊपरी पैमाने बहुत छोटे और अपर्याप्त होते हैं। इन बाहरी पैमानों के आधार पर लिए गए निर्णय स्वयं में कितने विकलांग होते हैं - इसका आभास निराला के लिए की गई आलोचनाओं से स्पष्ट है। लेकिन निराला को अज्ञेय विशिष्ट मानते हैं। विडम्बना एवं कारुण्य के द्वारा ही उन्हें समझा जा सकता है। **वसंत का अग्रदूत** की अंतर्वस्तु के तीन मुख्य बिंदु हैं : (1) निराला का व्यक्तित्व, (2) निराला के भावबोध के मुख्य आयाम, (3) परवर्ती रचना-पीढ़ी के प्रति निराला की दृष्टि। हम क्रमशः इन बिंदुओं पर विचार करेंगे।

निराला का व्यक्तित्व

निराला के व्यक्तित्व में ढली हुई समरूपता का अभाव है, इसलिए वह प्रामाणिक भी है और मध्यवर्गीय धारणाओं की सुरक्षित पवित्रता को झटका भी देता है। अपने पहले साक्षात्कार के संबंध में अज्ञेय लिखते हैं - "एक चौकी के निकट आमने-सामने निराला और 'उग्र' बैठे थे। दोनों के सामने चौकी पर अधभरे गिलास रखे थे और दोनों के हाथ में अधजले सिगरेट थे।" एक दूसरा प्रसंग भी इस संदर्भ में उल्लेखनीय है - "होमवती जी ने श्रद्धापूर्वक निराला जी को ठहरा तो लिया लेकिन दोपहर का भोजन उन्हें करा लेने के बाद वह दौड़ी हुई मेरे यहाँ आईं। भाई जी, शाम का क्या होगा? लोग तो कह रहे हैं कि निराला जी तो शाम को शराब के बिना भोजन नहीं करते और भोजन भी माँस के बिना नहीं करते। हमारे यहाँ तो यह सब नहीं चल सकता।" यह निराला की मूर्तिभंजक छवि है। इन उद्धरणों से यह भी आभास होता है कि संस्मरणकार निराला को देवत्व मंडित मूर्ति के रूप में नहीं, बल्कि एक मनुष्य के रूप में पहचानना और जानना चाहता है। एक तरफ निराला का यह रूप है तो दूसरी तरफ महादेवी उनके दूसरे रूप को प्रस्तुत करती हैं। **पथ के साथी** में निराला को याद करते हुए वह लिखती हैं - 'साहित्यकार संसद में सब सुविधाएँ सुलभ होने पर भी उन्होंने स्वयं पाकी बनकर और एक बार भोजन करने का जो अनुष्ठान आरंभ किया था, उसकी तो मैं अभ्यस्त हो चुकी थी। पर अचानक एक दिन उन्होंने पाव भर गेरू मँगाने का आदेश दिया... उन्होंने अपना मंतव्य स्पष्ट किया, 'अब हम संन्यास लेंगे।"... एकादशी के सवेरे स्नान-हवन आदि करके जब वे निकले तब वैदिक परिधान पहन चुके थे। अँगोछे के अभाव और वस्त्रों में रंग की अधिकता के कारण उनके मुँह-हाथ आदि ही नहीं, विशाल शरीर भी गैरिक हो गया था, मानो सुनहली धूप में धुला गेरू के पर्वत का कोई शिखर हो।" निराला के व्यक्तित्व का एक तीसरा पक्ष - भी अवलोकनीय है। निराला के अंतरंग एवं जीवनीकार डॉ. रामविलास शर्मा ने "निराला की साहित्य-साधना" भाग-1 में उनके व्यक्तित्व के अत्यंत मार्मिक पक्ष का उल्लेख किया है - उस समय निराला लखनऊ में थे और विकट आर्थिक संघर्ष में पड़े थे। यह 1935 का साल था। जुलाई का महीना। एक दिन डाकिये ने आवाज़ दी पंडित जी। वे खुद ही नीचे गये। लौटते हुए ज़ीने से ही बोले - डाक्टर, सरोज इज़ नो मोर। वे कार्ड लिए हुए कमरे में आये। चेहरा दुख के मारे जैसे सपाट हो गया था। उन्होंने न एक भी आँसू गिराया,. न एक भी शब्द कहा। कुछ देर

तक कमरे में चक्कर लगाते रहे। फिर कुर्ता पहना, छड़ी उठाई और घर से बाहर निकल गए।'

भोग, संन्यास और घनीभूत राग की त्रिवेणी को निराला का व्यक्तित्व समाहित कर लेता है। यह निरालापन ही निराला को बौने पैमानों में अँटने नहीं देता। निराला का व्यक्तित्व इस धारणा की भी पुष्टि करता है कि मनुष्य को नापने के लिए बाहरी प्रतिमान अपर्याप्त है। जीवन की बनैली प्रतिकूलताओं से जूझने वाले कवि का व्यक्तित्व हमारी धारणाओं को तोड़ता और पुष्ट करता चलता है। निराला के व्यक्तित्व के संबंध में महादेवी जी ने ठीक ही लिखा है - 'यदि वे हमारे कल्पित साँचे में समा जावें तो उनकी विशेषता ही क्या रहे!'

निराला के व्यक्तित्व का सबसे महत्वपूर्ण पक्ष है - उनका किसानी संस्कार। किसान और प्रकृति के बीच जो अनिवार्य एवं आत्मीय रिश्ता होता है - निराला के काव्य में वह मौजूद है। ऋतुओं, वनस्पतियों एव बादल की इतनी सघन उपस्थिति आधुनिक हिंदी कविता में दुर्लभ है। निराला की कविता में बावल बहुत हैं। लेकिन ये बादल न तो कालिदास के हैं और न पंत के। इन बादलों को निराला किसानी आँखों से देखते हैं और जीवन को रससिक्त करने वाले बादलों तक किसान की पुकार को कविता में प्रक्षेपित करते हैं :

जीर्ण बाहु है, शीर्ण शरीर,
तुझे बुलाता कृषक अधीर,
ऐ विप्लव के वीर!

बादल निराला के यहाँ मात्र उपादान या उद्दीपन नहीं है। उसके साथ कवि का रिश्ता बहुत गहरा है। रेत में तब्दील होता हुआ जीवन है, क्योंकि स्नेह का निर्झर बह गया है। ग्रीष्म से दहकता हुआ आकाश प्रलय का दृश्य उपस्थित कर रहा है, धूल उड़ रही है और कुछ भी दिखाई नहीं देता। यह निदाघ प्रकृति में भी है और जीवन में भी। इसलिए निराला बादल से अपने मन की सघनतम पीड़ा का साझा करते हैं :

'बादल रे, जी तड़पे।
अब अंधियाली ही बढ़ती है
छाया पर छाया चढ़ती है
प्राणों के घनश्याम गगन में
बूँद कभी न बरसे?'

निराला की प्रार्थनाओं में पानी संगीत और हरियाली की पुकार है। भावना का आवेग और प्रार्थना की आर्द्रता निराला की कविता में गति और आत्मीयता की अद्भुत ऋतु का सृजन करती है :

झर झरझर निर्झर-गिरि-सर में
घर, मरू-तरू-मर्मर सागर में,
सरित-तड़ित-गति चकित पवन में
मन में, विजन-गहन-कानन में
आनन-आनन में, रव-घोर कठोर
राग-अमर! अम्बर में भर निज रोर!'

बादलों के साथ यह गहरा रिश्ता किसानी संस्कार के कारण है। इस रिश्ते के बल पर निराला ने भारतीय कविता के बादल बदल दिए हैं। अज्ञेय ने निराला के किसानी संस्कारों को उसकी मानसिकता एवं सौंदर्य प्रतिमानों के संदर्भ में उठाया है। कद-काठी किसानी सौंदर्य-बोध का मूल आधार है। **'वसंत का अग्रदूत'** में अज्ञेय ने एक रोचक प्रसंग का वर्णन किया है। अपनी पहली भेंट के बारे में अज्ञेय लिखते हैं - 'निराला ने सिर से पैर तक मुझे देखा। मेरे नमस्कार के जवाब में केवल कहा बैठो।' मैं बैठने ही जा रहा था कि एक बार फिर उन्होंने कहा, 'जरा सीधे खड़े हो जाओ।' मुझे कुछ आश्चर्य तो हुआ, लेकिन मैं फिर सीधा खड़ा हो गया।

निरालाजी भी उठे और मेरे सामने आ खड़े हुए। एक बार उन्होंने सिर से पैर तक मुझे देखा, मानो तौला और फिर बोले, 'ठीक है'। फिर बैठते हुए उन्होंने मुझे भी बैठने को कहा। मैं बैठ गया तो माना स्वगत स्वर से उन्होंने कहा, 'डौल तो राम बिलास जैसा ही है।'

निराला के किसानी संस्कार का दूसरा पक्ष है - उनकी आतिथ्य भावना। यह उनके व्यक्तित्व का ऐसा पक्ष है जो किंवदंती की सीमा तक चर्चित है। निराला के जीवन की दारूण विपन्नता एवं आतिथ्य-भावना का यह गठजोड़ करूणा उत्पन्न करता है। जो कवि आर्थिक पथ पर व्याप्त अनर्थों के कारण हमेशा जीवन-समर में पराजित होता रहा, जो अपने बच्चों के भरण-पोषण में अपने को हमेशा असमर्थ पाता रहा, उसके यहाँ आतिथ्य की यह सजगता अवसाद की सृष्टि करती है। इस महाकवि के कक्ष का एक चित्र महादेवी के शब्दों में द्रष्टव्य है, "आले पर कपड़े की आधी जली बत्ती से भरा, पर तेल से खाली मिट्टी का दिया, रसोई घर में अधजली दो-तीन लकड़ियाँ, औंधी पड़ी बटलोई और खूँटी से लटकती हुई आटे की छोटी सी गठरी आदि मानो उपवास चिकित्सा के लाभों की व्याख्या कर रहे थे।" यह है निराला का घर। मगर हृदय कितना बड़ा है कि कोई भी उनके यहाँ से खाये बिना नहीं लौट सकता। आत्मकेंद्रित होती सभ्यता की इस अमानिशा में निराला **केवल जलती मशाल** से दिखाई देते हैं। अज्ञेय ने भी निराला की इस द्रवित करने वाली आतिथ्य-भावना का उल्लेख किया है। शिवमंगल सिंह 'सुमन के साथ अज्ञेय जब निराला के घर पहुँचे तो निराला खाना बना रहे थे। आगे का वृत्तांत अज्ञेय के शब्दों में - "इस बीच निराला एक बड़ी बाटी में कुछ ले आये और हम दोनों के बीच बाटी रखते हुए बोले, लो खाओ, मैं पानी लेकर आता हूँ," और फिर भीतर लौट गए। बाटी में कटहल की भुजिया थी। बाटी में ही सफाई से उसके दो हिस्से कर दिये गये थे। निराला के लौटने तक हम दोनों रूके रहे। यह क्लेश हम दोनों के मन में था कि निराला जी अपने लिए जो भोजन बना रहे थे, वह सारा का सारा उन्होंने हमारे सामने परोस दिया और अब दिन-भर भूखे रहेंगे। लेकिन मैं यह भी जानता था कि हमारा कुछ भी कहना व्यर्थ होगा - निराला का आतिथ्य ऐसा ही जालिम आतिथ्य है।" इस प्रसंग में महादेवी जी का यह कथन अज्ञेय की धारणा को पुष्ट करता है - "अपने संबंध में बेसुध निरालाजी अपने अतिथि की सुविधा के लिए सतर्क प्रहरी हैं। ऐसे युग में आतिथ्य की दृष्टि से निरालाजी में वही पुरातन संस्कार हैं जो इस देश के ग्रामीण किसान में मिलता है।"

निराला के व्यवहार में एक अनिश्चित आक्रामकता को भी इस लेख में रेखांकित किया गया है उपेक्षा, अभाव एवं दुख की निरंतरता ने निराला के मानसिक संतुलन को डिगा दिया था। अपने लम्बे साहित्यिक जीवन में निराला ने अंग्रेज़ी के वर्चस्व को देखा था। वे जानते थे कि अंग्रेज़ी एक भाषा नहीं, वर्ग है। जब मानसिक विक्षिप्तता का दबाव बढ़ने लगा तो उन्होंने सिद्ध करना चाहा कि वे भाषा के स्तर पर आभिजात्य वर्ग से किसी भी मायने में कम नहीं हैं। अंग्रेज़ी का कोई शब्द सुनते ही वे धारा प्रवाह अंग्रेज़ी बोलने लगते थे। इस स्थिति का ज़िक्र अज्ञेय ने इस संस्मरण में किया है, "निराला ने एकाएक कहा - निराला, कौन निराला? निराला तो मर गया निराला इज़ डेड। निराला इज़ डेड। अंग्रेज़ी का वाक्य सुनकर मैं डरा कि अब निराला बिल्कुल बहक जाएंगे और अंग्रेज़ी में न जाने क्या-क्या कहेंगे।" **राम की शक्ति-पूजा** लिखने वाला महाकवि औपनिवेशिक भाषा की ग्रंथि से आहत हो - यह विडम्बना निराला की है या उन राजनेताओं और उनकी राजनीति की जिन्होंने भारत की अपनी भाषाओं में लिखने वाले रचनाकारों को हाशिये पर डाल दिया था? निराला का पागलपन, अज्ञेय के अनुसार एक जीनियस का पागलपन था। उसमें आक्रोश, हीनता एवं पराजय-बोध की अनेक स्थितियाँ मिली हुई थीं।

कवि निराला और उनके भाव बोध के मुख्य आयाम

'भवंती' में अज्ञये ने लिखा था - 'प्रसाद पढ़ाये जाएँगे, निराला पढ़े जाएँगे और पंत से सीखा जाएगा।' निराला को सुनना और उन्हें पढ़ना एक प्रीतिकार अनुभव है। अज्ञेय की मान्यता है कि निराला आधुनिक हिंदी कविता में नाद-व्यंजना के सबसे बड़े कवि हैं और उनकी वाणी

कविता के इस गंभीर नाद-सौंदर्य को प्रभावपूर्ण ढंग से प्रस्तुत करती है। क्षितिज पर गूँजती हुई मेघ-ध्वनि के समान निराला की वाणी अद्‌भुत प्रभाव की सृष्टि करती है। उनके वाचन को अज्ञेय ने पहाड़ों से उतरते हुए झरने की कलकल ध्वनि, मूसलाधार वृष्टि, धुँआधार जल प्रपात और वेग से बहती हुई नदी से उपमित किया है। आवेग निराला की कविता की आंतरिक प्रकृति भी है और उनके वाचन की विशेषता भी। निराला गति के रचनाकार हैं, परिवर्तन के प्रतीक उन्हें प्रिय हैं। बादल, वसंत, फूल और बहती हवाएँ निराला की कविता में रूप पाती हैं। निराला जीवन के हर 'बंध' को तोड़ना चाहते हैं, तोड़ते हैं और इस तोड़ने में जो गति और ऊर्जा पैदा होती है वह उनके वाचन में भी छलकती है। निराला के काव्य-वाचन पर टिप्पणी करते हुए अज्ञेय लिखते हैं "प्राचीन काल में काव्य-वाचक जैसे भी रहे हों, मेरे युग में तो निराला जैसा काव्य-वाचक दूसरा नहीं हुआ।"

निराला के भाव बोध की बनावट सुनिर्दिष्ट नहीं है। परस्पर विरोधी स्थितियों को निराला अपने सृजन में समाहित करते हैं। इसलिए उनके भावबोध को अलग-अलग कोणों से देखा और समझा गया है। उनके काव्य में छायावाद, प्रगतिवाद एवं प्रयोगवाद की प्रवृत्तियाँ दिखाई देती हैं। इसलिए निराला की सम्पूर्ण रचनात्मकता भी आंदोलन विशेष का अतिक्रमण करती है। लेकिन प्रत्येक रचनाकार की रचनाओं में वैविध्य के बावजूद एक अखण्ड अंतर्धारा होती है जो रचना-परंपरा में उसकी विशिष्टता को रेखांकित करती है। निराला की बहुधर्मी कविताओं की भीतरी प्राणधारा को पहचानने की कोशिश भी अज्ञेय ने इस संस्मरण में की है। अज्ञेय के अनुसार अवसाद निराला की कविताओं की केंद्रीय भावभूमि है। यह अवसाद रूमानी भावुकता का नहीं है। हाड़ तोड़ने वाले दुख की निरंतरता, दुनिया की वास्तविकता का बोध और संघर्ष में निरंतर पराजित होते रहने के कारण निराला के मन में अवसाद की गहरी अनुभूति का उदय होता है। यह अवसाद स्वभावतः वेदना की अनुभूति से उत्पन्न मनःस्थिति का वाचक है। निराला के यहाँ वेदना की प्रकृति एव उसके स्वरूप में अनेक ऐसे तत्व हैं जो छायावादी वेदना की धारा से अलग करते हैं। छायावाद में वेदना एक मूल्य है जो सृजन का उत्स भी है और सार्थकता का आधार भी। वह रचनाकार के जीवन में आँसू बनकर बरसता है और जगत को उर्वर करता है। शायद इसीलिए वहाँ वेदना सौंदर्यात्मक मूल्य का दर्जा प्राप्त कर लेती है। पंत की वेदना एक कैशोर्य भावुकता का कच्चापन है जबकि प्रसाद और महादेवी में वह दर्शन का पुष्ट आधार लेकर आत्म प्रसार की भावना का वाहक बन गयी है। निराला में दुख एक कठोर वास्तविकता के रूप में प्रकट होता है। निराला के यहाँ दुख का स्रोत जीवन है, उसकी परिस्थितियाँ हैं, व्यवस्था है। इसलिए उस दुख को समझने के लिए रचनाकार का मनोमय लोक अपर्याप्त है। निराला में दुख की प्रकृति ऐतिहासिक है, इसलिए वह सामाजिक-आर्थिक संरचना से जुड़ी हुइ है। हम कह सकते हैं कि निराला दुख की निर्गुणता के दर्शन को अपर्याप्त मानते हुए उसके सगुण रूप को कविता में ढालते हैं। इसलिए इनके यहाँ दुख विचार रूप नहीं है, एक सच्चाई है। वह सौंदर्य नहीं, विडम्बना है। अपनी सर्वाधिक मार्मिक कविता **सरोज-स्मृति** में निराला दुख को अपने जीवन का सारांश मानते हुए लिखते हैं :

> दुख ही जीवन की कथा रही,
> क्या कुहूँ आज जो नहीं कही।

दुख 'जीवन' की कथा है, भावना का सूक्ष्म अथवा अदृश्य अहसास नहीं। जीवन है तो संघर्ष है, लेकिन यह विशिष्ट संघर्ष है। व्यवस्था के हथियारबंद चक्रव्यूह में एक निहत्थे और ईमानदार मनुष्य का संघर्ष। निराला इस संघर्ष की प्रकृति का संकेत **सरोज-स्मृति** में देते हैं :

> मैं खड़ा देखता रहा अपल
> वह शरक्षेप वह रण-कौशल।

प्रतिमानवीय शक्तियों की दुर्दान्त क्रूरता में कवि की यह विडंबित सहनशीलता अथवा बेचारगी एक कारुणिक प्रभाव पैदा करती है। इसलिए निराला का दुख रचनात्मक आस्वाद उत्पन्न नहीं

करता। वह एक ठंडी और कठोर शिलाखंड की तरह प्रतीत होता है। निराला केवल दुख की बात नहीं करते, वे दुख के कारणों की चर्चा भी करते हैं। उनके अनुसार दुख के दो आधारभूत कारण हैं - पहला है - निरर्थकता का बोध। 'धन्ये, मैं पिता निरर्थक था।' यह निरर्थकता दायित्व-निर्वहन की अक्षमता के कारण उत्पन्न होती है। अपने दायित्वों को पूरा न कर पाने का कारण हमेशा व्यक्ति नहीं होता। कई बार परिस्थितियाँ भी उत्तरदायी होती हैं। अनर्थ-पथ के अस्वीकार की परिणति पराजय में होती है और यह पराजय भी दुख का कारण है। आधुनिक समय में यह अनर्थ **आर्थिक पथ** पर है। सम्पन्नता मूल्यहीनता की सूचक है और निराला के यहाँ जीने के लिए मूल्य के अतिरिक्त कोई विकल्प नहीं है। इसलिए दुख नियति है। उससे मुक्ति संभव नहीं। शायद इसी कारण निराला इस दुख को आत्यन्तिक सच मानते हैं :

'बार-बार हार-हार मैं गया
खोजा जो हार क्षार में नया
उड़ी धूल, तन सारा भर गया
नहीं फूल, जीवन अविकच है
यही सच है।

इस अवसाद अथवा दुख का एक महत्वपूर्ण कारण शाश्वत विश्वासों की टूटन है। आस्था के केंद्र के टूटने से, भरोसे वाली शक्ति का प्रतिमानवीय खेमे में शामिल हो जाने से भी निराला आहत होते हैं :

अन्याय जिधर है उधर शक्ति
कहते छल छल हो गये नयन,
कुछ बूँद पुनः छलके दृग-जल!

अगर निराला के जीवन को देखें तो पाएँगे कि वे निरंतर दुख, मुसीबतों ओर प्रतिकूलताओं का आघात झेलते रहे हैं। भाग्य, दैव ही नहीं बल्कि यह जगत भी उनके खिलाफ़ रहा है। दैवीय विधान और शक्तिशाली, लेकिन रावणी व्यवस्था के दुहरे दबाव में निराला टूटते चले जाते हैं और अपनी इस त्रासद कहानी को बहुत मार्मिक ढंग से इन पंक्तियों में व्यक्त करते हैं :

'मुसीबत में कटे हैं दिन
मुसीबत में कटी रातें
लगी हैं चांद सूरज से
निरंतर राहु की घातें।

दुख की इस निरंतरता ने जीवन के रस को सुखा दिया है। छायावाद के अन्य कवियों ने दुख को रसमय बना दिया है, जबकि निराला के यहां दुख जीवन की नदी को मरू में रूपांतरित कर देता है :

स्नेह-निर्झर बह गया है
रेत-ज्यों तन रह गया है।'

निराला के दुख की प्रकृति को व्याख्यायित करते हुए मलयज लिखते हैं कि निराला की कविता दुख को लेकर उड़ने या उसमें खोने के लिए नहीं, बल्कि दुख को याद करने, उससे भीतर ही भीतर मर्माहत होने और बीच-बीच में बाहर कभी व्यंग्य विद्रूप में तो कभी आत्मधिक्कार में चीख पड़ने के लिए है। यह चीख छायावादी दुख की स्व-निर्भर दुनिया से बाहर आने की चीख है।

इस दुख की परिणति 'अकेलेपन' में हुई है। निराला के काव्य में दुख और अकेलेपन की चर्चा परस्परता में हुई है, लेकिन यह निश्चित है कि निराला का अकेलापन अस्तित्ववादी नहीं है।

निरंतर घनीभूत और उदास चेतना के भीतर से अकेलेपन का यह बोध जगा है। उम्र की ढलान से उतरते हुए निराला पाते हैं कि मेला बहुत पीछे छूट गया है। नदी की धार अभी भी उतनी ही तेज है, लेकिन अब कोई नाव नहीं है, कोई माध्यम नहीं है। इस अकेलेपन का एक दूसरा महत्वपूर्ण कारण साथ जीने वाले साथियों के चरित्र और उनकी राहों में परिवर्तन का आ जाना भी है। शायद निराला हमसफरों की वास्तविकता को पहचान लेते हैं और इस तरह गलत न जीने की अपनी प्रतिबद्धता के कारण जमाने के जुलुस में सबसे पीछे और अकेले बच जाते हैं। अपनी एक प्रार्थना में निराला इस अकेलेपन की हृदयबेधी स्थिति का बयान करते हैं :

'हार गया जीवन-रण
छोड़ गये साथी-जन
एकांकी नैश-क्षण
कंटक-पथ, विगत पाथ।'

यह अकेलापन 'आत्म' का नहीं है, एक सामाजिक मनुष्य का है। यह अकेलापन दुख को अधिक मर्मान्तक बनाता है। यह अकेलापन अंधकार को और अधिक घना बना देता है और राह को अधिक कठिन!

अज्ञेय के अनुसार निराला इस अवसाद जनित वेदना और अकेलेपन का सामना 'भक्ति' से करते हैं। उनकी कविताओं में प्रार्थना की आर्त्त पुकार है, विकराल लहरों से जूझते हुए तैराक की थकी हुई सांसों की अनकही व्यथा है, द्रवित कर देने वाली करूणा है। मनुष्यों की इस दुनिया में आदमी कितना अकेला और असहाय है - इस विडंबना की व्यंजना भी निराला के भक्ति-गीतों में है। रामकृष्ण परमहंस की परंपरा से प्रभावित होने के कारण निराला बार-बार माँ को याद करते हैं। इस धरती और अपने जीवन पर गहराते अंधकार की सूचना देते हैं और नरक के बढ़ते हुए दुर्दान्त प्रभाव से मनुष्य को मुक्त करने की प्रार्थना करते हैं :

माँ अपने आलोक निखारो
नर को नरक त्रास से वारो।'

निराला के भक्तिपरक गीतों में नितांत निजता के साथ सम्पूर्ण मनुष्य के संकटों एव पीड़ाओं का बयान भी है। निजी आत्मनिवेदनों में कवि का स्वर दीनता और विवशता के उस स्तर तक पहुँच गया है जहाँ हिंदी कविता के महान रचनाकार तुलसीदास थे। शारीरिक असमर्थता, कठिन-यात्रा और गहराता अँधेरा! इन तमाम प्रतिकूलताओं में शरण के अतिरिक्त दूसरा विकल्प ही क्या है!

'भग्न तन, रुग्ण मन
जीवन विषण्ण बन!
चलता नहीं हाथ
कोई नहीं साथ
उन्नत, विनत माथ
दो शरण, दोषरण।'

यह दैन्य आर्त्त पुकार बहुत बेधक है। मानवीय समाज से सहायता की कोई उम्मीद नहीं है। रास्ता सूझता नहीं और चाल धीमी होती जा रही है। कैसे पूरा होगा सफ़र? 'परिमल' की सेवा कविता में निराला ने लिखा था :

डोलती नाव, प्रखर है धार
सँभालो जीवन खेवन हार!

'गीत-गुँज' तक पहुँचते-पहुँचते यह संकट और अधिक घना हो गया है, जीवन पतझड़ के उपवन में बदल गया है :

दुखता रहता है अब जीवन,
जैसे पतझड़ का वन उपवन!

लेकिन अज्ञेय यह नहीं मानते कि निराला की भक्ति मध्यकाल के भक्त कवियों की तरह है। मध्यकाल में भक्ति एक मूल्य है। सामंतवाद की विलासिता एवं धार्मिक पाखंडों के खिलाफ यह सार्थकता एवं अनुभूति की प्रक्रिया है। निराला की भक्ति में एक पराजित मनुष्य की व्यथा है। इसलिए मध्यकालीन भक्ति की प्रकृति आनंदमूलक है जबकि निराला के यहाँ वह अवसादमूलक है।

निराला का निरालापन जीवन की इन परिस्थितियों एवं पीड़ाओं के अतिक्रमण में है। निराला द्वंद्व के कवि हैं। जितना गहरा अधकार है, मशाल की रोशनी उतनी ही प्रखर है। वे दुख और मृत्यु का सामना स्मृति की मधुमयता और सौंदर्य से करते हैं। उनकी महत्वपूर्ण कविता **राम की शक्ति-पूजा** में राम पराजय-बोध के विषादमय क्षणों में सीता के प्रथम स्नेह को याद करते हैं। **सरोज-स्मृति** में वे मृत्यु को बार-बार सौंदर्य की अप्रतिम अनुभूति से विचलित करते हैं। अपनी लम्बी कविताओं में ही नहीं, गीतों मं भी निराला जीवन की पक्षधरता में सृजन का उपयोग करते हैं। वे पतझर के खिलाफ़ स्वयं को **वसंत का अग्रदूत** होने की घोषणा करते हैं। वस्ततः निराला दुख या अवसाद को झुठलाते नहीं। वे इनका सामना करते हैं और इस मुठभेड़ में कभी दुख को विजय मिलती है और कभी सौंदर्य को, आस्था को, आनंद को विजय मिलती है। निराला के गीतों में वसंत और वर्षा की अधिकता का कारण सौंदर्य और सृजन की अपराजेय आकांक्षा है। इसलिए निराला की आँखें दुख के साथ जीवन का दूसरा चेहरा भी देख पाती हैं :

सखि वसंत आया
भरा हर्ष वन के मन
नवोत्कर्ष छाया।

यहाँ ध्यान रखने की बात है कि यह वसंत फूलों की ऋतु है और निराला फूल को संघर्ष की परिणति मानते हैं। इसलिए इस वसंत का, इन फूलों का एक छोर पतझड़ की वास्तविकता से भी बँधा हुआ है। बादल निराला को बहुत प्रिय हैं। वे बादलों को अपनी आँखों का सपना कहते हैं:

'बादल छाये
ये मेरे अपने सपने
आँखों से निकले, मँडलाये।'

और निराला का सपना है कि यह धरती, यह जीव रसमय हो जाय। वे बादल से आग्रह भी करते हैं :

अरे वर्ष के हर्ष
बरस तू बरस बरस रसधार।'

सामान्यतः **राम की शक्ति पूजा** एवं **सरोज-स्मृति** को निराला की प्रतिनिधि रचनाओं के रूप में देखा जाता है। प्रस्तुत लेख में अज्ञेय ने **'तुलसीदास'** को निराला की अद्वितीय रचनात्मक उपलब्धि माना है। अज्ञेय **'तुलसीदास'** को इसलिए सर्वाधिक महत्व देते हैं क्योंकि उसमें सांस्कृतिक चेतना सर्जनात्मक रूप में अवतरित हुई है। अज्ञेय काव्य को एक सांस्कृतिक प्रक्रिया मानते हैं। इस रूप में कविता किसी देश की ऐतिहासिक अस्मिता के साथ-साथ अनागत की स्वप्न-गाथा भी होती है। स्मृति और स्वप्न के किनारों के बीच प्रवाहित जीवन ही

जागरण और सृजन की अपूर्व ऊर्जा से आवेशित यह कविता समूची हिंदी रचनाशीलता की कालजयी उपलब्धि है।

नयी पीढ़ी के प्रति निराला के मन में स्नेह का भाव है। वे नयी पीढ़ी की रचनात्मक चुनौतियों को समझते हैं। नयी कविता बोलचाल की भाषा के स्वर पर बल देती है जबकि छायावाद में संगीत के स्वर पर बल था। इस बारीक अंतर का बोध निराला को है। निराला नयी पीढ़ी को कितनी गहराई और सजगता से पढ़ते हैं, इसका आभास उनके निम्नांकित कथन से होता है, 'तुम जो लिखते हो, वह मैंने पढ़ा है... तुम क्या करना चाहते हो, वह हम समझते हैं। स्वर की बात तो हम भी सोचते हैं। लेकिन असल में हमारे सामने संगीत का स्वर रहता था और तुम्हारे सामने बोलचाल की भाषा का स्वर रहता है।" अपनी इसी उदारता के कारण निराला प्रयोगशील रह सके और परवर्ती रचना-पीढ़ियों के प्रतिमान भी बन पाये।

7.7 'वसंत का अग्रदूत' का संरचनात्मक वैशिष्ट्य

वसंत का अग्रदूत की संरचना पर विचार करते हुए सबसे पहले हम स्वयं को इस सवाल के सामने खड़ा पाते हैं कि यह पूरी तरह संस्मरण है या नहीं? सरमरण के केंद्र में व्यक्ति होता है, इसलिए रचना विश्लेषण उसकी परिधि में नहीं आता। सृजन पर मूल्य निर्णय देने का काम आलोचक करता है, संस्मरणकार नहीं। लेकिन इस लेख में निराला की कविताओं पर भी विस्तार से टिप्पणी की गई है। ऐसी स्थिति में यह लेख सिर्फ़ संस्मरण की परिधि में नहीं आता। स्मृति और समीक्षा के गठजोड़ से इस संस्मरण लेख का निर्माण किया गया है।

इस लेख के विन्यास में नाटकीय-विधान का प्रयोग किया गया है। संवादों का प्राचुर्य है और उनमें नाटकीय उतार चढ़ाव की गति को ध्यान में रखा है। वस्तुतः इसकी भाषा संवादधर्मी है और विन्यास में विवरण या वर्णन के स्थान पर दृश्यात्मकता पर अधिक बल हैं। संवाद की एक बनागी द्रष्टव्य है - 'बीच में उग्रजी ने एकाएक गिलास की ओर इशारा करते हुए पूछा, 'लोगे?' मैंने सिर हिला दिया तो फिर कुछ चिढ़ाते हुए बोले, 'पानी नहीं है, शराब है शराब।' संवादों में पात्रों की मनःस्थितियों को भी ध्यान में रख गया है। नशे के सूरूर में निराला की भाषा का एक रूप द्रष्टव्य है :

निराला जी ने उसी आज्ञापना स्वर में कहा, देखो, दो घंटे तक यह सवाल हमसे मत पूछना। जहाँ तुम चाहो, लेते चलो। अच्छी सड़कों पर सैर करेंगे... पैसे पूरे मिलेंगे।...।"

इस लेख की रचना की तीसरी खासियत है - हास्य और विनोद का अद्‌भुत प्रयोग। यहाँ शेवमंगल सिंह सुमन कवि रूप में नहीं, विदूषक के रूप में दिखायी देते हैं। अतिरिक्त उत्सुकता, बचकानी इतराहट और हास्यास्पद चेष्टाओं के चित्रण के द्वारा अज्ञेय इस गंभीर संस्मरण की पठनीयता की हिफाज़त कर सके हैं। हास्य-विनोद के कुछ नमूने द्रष्टव्य हैं - i) लेकिन सुमन जी और चुप रहना? (ii) मैंने पीठ में चिकोटी काट कर सुमन को चुप कराया और अचरज यह कि वे चुप भी हो गये! (iii) नाम सुमन रख लेने से क्या होता है - अगर सवेरे-सवेरे सहज खिल भी न सकें।"

इस संस्मरण में स्मृति, विचार एवं आलोचना का मिश्रण हो गया है। अज्ञेय इस रचना के माध्यम से अपने एक वरिष्ठ कवि को याद करते हैं, साथ ही उनकी रचनाओं के अर्थ पर प्रकाश डालते हुए कवि की रचनात्मक प्रवृत्ति की विवेचना भी प्रस्तुत करते हैं। अज्ञेय के रचना-कर्म में कलाकार की सजगता है, इसलिए प्रस्तुत लेख भी संरचनात्मक कसावट से अनुशासित है।

7.8 सारांश

आधुनिक हिंदी कविता के इतिहास को जिन दो रचनाकारों ने सर्वाधिक प्रभावित किया है, वे है - भारतेंदु हरिश्चंद्र और निराला। भारतेंदु ने नयी सृजनशीलता की दिशाओं का संधान किया तो निराला ने छंद की मुक्ति को कविता की मुक्ति और कविता की मुक्ति को अंततः मनुष्य की मुक्ति से जोड़ दिया। वे अपनी रचनाशीलता में निरंतर प्रयोगशील रहे और वादों के संकीर्ण घेरे को तोड़ते रहे। इसलिए वे परवर्ती पीढ़ी की प्रेरणा और प्रतिमान बने। उनके व्यक्तित्व में भी बहुत-सी ऐसी विशेषताएँ थीं कि वे सहज ही आकर्षण का केंद्र बने रह सके और उन पर अनेक समकालीन और परवर्ती पीढ़ी के लेखकों ने लिखा और उन्हें याद किया। प्रस्तुत संस्मरण **वसंत का अग्रदूत** इसी श्रृंखला की एक कड़ी है।

एक विधा के रूप में संस्मरण का आविर्भाव आधुनिक काल में हुआ। यह विधा अपनी प्रकृति में सम्मिश्र है। निबंध, कहानी, जीवनी, आत्मकथा और रेखाचित्र के अनेक तत्व इसमें मिलते हैं। लेकिन आज हिंदी में इसका विपुल साहित्य है और इसकी एक समृद्ध परंपरा भी बन गई है। अतः अकाल्पनिक गद्य-लेखन में संस्मरण ने अपनी विशिष्ट पहचान बना ली है। संस्मरण लेखन की परंपरा का सूत्रपात यद्यपि बीसवीं शताब्दी के तीसरे दशक में हो चुका था, लेकिन पाँचवे दशक तक आते-आते उसे उसकी स्वतंत्र पहचान मिली। हिंदी में साहित्यिक एवं गैर-साहित्यिक संस्मरणों की भरमार है। प्रस्तुत इकाई में साहित्यिक संस्मरणों पर ही ध्यान दिया गया है।

संस्मरण स्मृति से साक्षात्कार है। वह समय में लौटना नहीं है, बल्कि गुजरे समय को जीवन की वर्तमानता से जोड़ने का माध्यम है। इस रूप में वह इकहरे वर्तमान की रिक्तता को भरने वाला सशक्त रचना माध्यम है। **वसंत का अग्रदूत** में अज्ञेय ने निराला के व्यक्ति रूप और कवि रूप - दोनों पर विचार किया है और इन दोनों रूपों की आंतरिक संगति को भी पहचानने की कोशिश की है। निराला सबसे पहले एक संवेदनशील एवं करूणावान मनुष्य हैं। व्यक्तित्व की बाहरी अनगढ़ता के भीतर एक अंतःसलिला है जो उनकी मनुष्यता और रचना में निरंतर दिखाई देती है। वे एक ही साथ आधुनिक भी हैं और प्राचीन भी। परंपरा को आधुनिक अर्थवत्ता से जोड़कर वे उसका विकास करते हैं। इसलिए उनके व्यक्तित्व में एक तरफ किसानी संस्कार की प्रबलता है तो दूसरी तरफ द्रष्टा कवि का सर्जनात्मक वर्तमान बोध भी है। निराला नयी पीढ़ी के प्रति सहृदय हैं और उसकी चिंताओं एवं रचनात्मक चुनौतियों से अवगत हैं। यह विशेषता ही उन्हें परवर्ती पीढ़ी के लिए समादरणीय बनाती है।

अज्ञेय के अनुसार निराला के भावबोध का मूल आधार है अवसाद। यह अवसाद मानसिक अथवा रोमांटिक भाव-बोध नहीं है। इस अवसाद की वस्तुगत परिस्थितियाँ हैं। यानी यह अवसाद पूरी तरह मानवीय है या व्यवस्था की मार से पैदा हुआ है। यह अवसाद अकेलेपन की सृष्टि करता है। अकेलेपन की निस्सहायता से टूट कर निराला-भक्ति की ओर मुड़ते हैं। लेकिन वहाँ भी उन्हें शांति नहीं मिलती। निराला के भक्ति गीतों में भी आत्मा का उल्लास नहीं है। ये गीत उनके दुखों-संघर्षों एवं पराजयों का इतिहास हैं। अतः इनकी भक्ति आध्यात्मिक नहीं, मनोवैज्ञानिक है। लेकिन जैसा कहा गया है कि निराला इकहरी चेतना के कवि नहीं हैं। उनमें संश्लिष्टता है और अंतर्विरोध हैं। आजीवन संघर्ष एवं अभाव के बावजूद जीवन के प्रति उनकी आस्था में कोई दरार नहीं है। वे मृत्युधर्मी स्थितियों का सामना जीवन से करते हैं। बादल, फूल, सौंदर्य, आकांक्षा आदि के द्वारा वे मनुष्य की अपराजेयता में अपनी आस्था व्यक्त करते हैं। जिस संसार में वे निरंतर टूटते रहे, छिजते रहे उस संसार से मुक्ति की कामना निराला नहीं करते। अपनी अंतिम कविता में वे यही आकांक्षा करते हैं :

'पुनः सवेरा, एक और फेरा हो जी का।'

बार-बार जीवन में लौटने की यह आकांक्षा निराला की मानवीय आस्था को तो प्रमाणित करती है, वह एक कालजयी रचनाकार की अपराजेय सृजनेच्छा को भी प्रमाणित करती है। निराला पर अज्ञेय की यह टिप्पणी अत्यंत सार्थक है - 'इस अशेष छवि पर कवि ने दान कभी नहीं माँगा, पर गीत विश्व को दिया - गीत दिया, पर उसके लिए भी रुका नहीं, बाँटते-बाँटते ही तिरोधान हो गया :

'मैं अलक्षित हूँ, यह कवि कह गया है।'

वसंत का अग्रदूत की संरचना में संस्मरण और समीक्षा का वैशिष्ट्य है। उसमें एक कवि की दूसरे अग्रज कवि के प्रति गहरी श्रद्धा की अभिव्यक्ति भी है। इसी के अनुरूप इस संस्मरण की भाषा में आत्मीयता और रचनाशीलता का गहरा प्रभाव है।

अभ्यास

1. संस्मरण का आशय स्पष्ट करते हुए बताइए कि वंसत का अग्रदूत संस्मरण की शर्तों का किस सीमा तक निर्वाह करता है?
2. अज्ञेय ने 'अवसाद' को निराला के भावबोध का मुख्य आधार माना है, फिर भी उन्हें वसंत का अग्रदूत कहा है। इस अंतर्विरोध के औचित्य पर प्रकाश डालिए।
3. निराला की वेदना किन बिंदुओं पर छायावादी वेदनानुभूति से अलग है? इस संस्मरण के आधार पर स्पष्ट कीजिए।

इकाई जीवनी : कलम का सिपाही

इकाई की रूपरेखा

8 .0 उद्देश्य
8 .1 प्रस्तावना
8 .2 जीवनी का स्वरूप
8 .3 जीवनी साहित्य : परंपरा और विकास
8 .4 **कलम का सिपाही** : जीवनी साहित्य की अन्यतम उपलब्धि
8 .5 **कलम का सिपाही** : वस्तु और संवेदना
8 .6 **कलम का सिपाही** : शिल्पगत वैशिष्ट्य
8 .7 **कलम का सिपाही** का मूल्यांकन
8 .8 सारांश

8 .0 उद्देश्य

यह इकाई एम.ए.(हिंदी) के बीज पाठ्यक्रम- 4 के लिए अमृतराय द्वारा लिखित प्रेमचंद की जीवनी **कलम का सिपाही** पर केंद्रित है। इस खंड में अब तक आप दो इकाइयाँ पढ़ चुके हैं। इकाई 20 में आपने महादेवी वर्मा के रेखाचित्र **ठकुरी बाबा** के बारे में अध्ययन किया था और इकाई 21 में आपने अज्ञेय द्वारा निराला पर लिखे संस्मरण **बसंत का अग्रदूत** के बारे में पढ़ा था। अब आप जीवनी का अध्ययन करने जा रहे हैं।

यह इकाई छह भागों में विभक्त है। पहला भाग जीवनी के स्वरूप निर्धारण पर है। जीवनी विधा को किस तरह परिभाषित किया गया और जीवनी लेखन में कितने तत्वों का योग है - यह भाग इन्हीं तत्वों को रेखांकित करता है। जीवनी आधुनिक युग की देन होते हुए भी उसके प्रारंभिक बीज आदिकालीन साहित्य से ही मिलने लगते हैं। दूसरा भाग जीवनी की परंपरा और विकास को उद्घाटित करता है। तीसरे भाग में **कलम का सिपाही** जीवनी की विशेषताओं का परिचय दिया गया है। चौथा भाग आपके पाठ्यक्रम में निर्धारित अंश के संवेदनात्मक स्तरों पर केंद्रित है और पाँचवे भाग में उसके शिल्पगत वैशिष्ट्य को उभारा गया है। छठे भाग में प्रेमचंद पर लिखित अन्य जीवनियों का उल्लेख करते हुए इस कृति के वैशिष्ट्य का मूल्यांकन किया गया है। इकाई के अंत में इकाई का सारांश और अभ्यास दिए गए हैं। इकाई का अध्ययन करने से आपको सामान्य तौर पर जीवनी के लेखन और विशेष तौर पर **कलम का सिपाही** को समझने में मदद मिलेगी।

8 .1 प्रस्तावना

इस इकाई का संबंध प्रेमचंद की जीवनी से है। यह जीवनी स्वयं प्रेमचंद के छोटे पुत्र अमृतराय ने लिखी है। प्रेमचंद का जन्म 1880 ई. में हुआ था और 1936 ई. में उनका देहावसान हो गया था। अमृतराय उस समय छोटे थे। बाद में उन्होंने प्रेमचंद से संबंधित विभिन्न सामगी एकत्र की, उनके संपर्क में आने वाले सगे-संबंधियों, दोस्तों और परिचितों से मुलाकात की और खुद प्रेमचंद के साहित्य का सतर्कतापूर्वक अध्ययन किया। इस आधार सामग्री का इस्तेमाल कर अमृतराय ने **कलम का सिपाही** नाम से जो जीवनी लिखी, वह प्रेमचंद की सबसे प्रामाणिक, महत्वपूर्ण और पठनीय जीवनी है। अमृतराय प्रेमचंद के पुत्र थे। अपने पिता की जीवनी लिखना किसी भी पुत्र के लिए आसान नहीं होता। तब तो और भी मुश्किल होता है, जब पिता प्रेमचंद जैसा महान कथाकार हो। अमृतराय के बारे में यहाँ यह जानना जरूरी है कि वे स्वयं भी रचनाकार थे। कहानियों, उपन्यासों के साथ-साथ उन्होंने कई सालों तक 'हंस'

पत्रिका का संपादन भी किया। वे महान लेखक के पुत्र ही नहीं थे। स्वयं उन्हें एक रचनाकार का हृदय और विचारक की दृष्टि मिली थी।

लेकिन महान् से महान रचनाकार भी अंततः मनुष्य होता है। उसमें भी मनुष्य की स्वाभाविक कमज़ोरियाँ, इच्छाएँ और सीमाएँ होती हैं। लेकिन वह इन मानवीय स्थितियों से संघर्ष करता हुआ, समाज को कुछ ऐसा दे जाता है जो अपने समय के लिए ही नहीं आगे आने वाली कई-कई पीढ़ियों के लिए मूल्यवान् निधि होता है। उसकी इस कालजयी देन के वास्तविक महत्व को हम तभी समझ सकते हैं जब हम उस रचनाकार के जीवन संघर्ष के संदर्भ को समझने का प्रयास करें।

जीवनी का लेखन एक तरह से परकाया प्रवेश है। जीवनीकार जिस व्यक्ति के जीवन का विस्तृत वर्णन प्रस्तुत करता है, उसे वह तभी प्रभावी रूप दे सकता है जब वह उस व्यक्ति के जीवन के अंतर्विरोधों और मर्म को समझ सके। वह उसके द्वारा किए कार्यों के महत्व को पहचान सके। प्रेमचंद ने हिंदी कथा साहित्य को जिस रूप में समृद्ध किया है, वह युगांतरकारी कार्य है। लेकिन वह सिर्फ कथाकार ही नहीं थे। वे पत्रकार भी थे। 'हंस' और 'जागरण' के द्वारा उन्होंने स्वतंत्रता आंदोलन और नवजागरण को प्रगतिशील और जनोन्मुखी दिशा प्रदान की थी। लेकिन इन पत्र-पत्रिकाओं को प्रकाशित करने के लिए उन्हें लगातार मुश्किलों का सामना करना पड़ा था। मसिजीवी होने के कारण आय का अन्य कोई साधन न होते हुए भी पत्रों के प्रकाशन उनकी गहरी प्रतिबद्धता का सूचक था। **कलम का सिपाही** का जो अंश आपने पढ़ा है, उसका संबंध उनके पत्रकार के रूप में संघर्ष से संबंधित है। प्रेमचंद ने कितनी मुश्किलों के बावजूद 'हंस' और 'जागरण' का प्रकाशन जारी रखा - यह अपने में एक मिसाल है।

प्रेमचंद की जीवनी के उतने ही अंश को पढ़ना पर्याप्त नहीं है जो आपके पाठ्यक्रम में है। हमारा सुझाव है कि आप **कलम का सिपाही** का आद्योपांत अध्ययन करें। यही नहीं, आपको प्रेमचंद से संबंधित अन्य पुस्तकों और उनके साहित्य को जरूर पढ़ना चाहिए। इस इकाई में आपको जीवनी साहित्य के स्वरूप और महत्व, **कलम का सिपाही** की विशेषताएँ और अन्य जीवनी-लेखन से उसकी तुलना को जानने का अवसर मिलेगा। लेकिन इतना अध्ययन ही आपके लिए पर्याप्त नहीं है। आप स्वयं पढ़कर जीवनी की विशेषताओं को समझने का प्रयास करें। इसके साथ ही आप यह भी पहचानने का प्रयास करें कि जीवनी और आत्मकथा, जीवनी और संस्मरण तथा जीवनी और रेखाचित्र में क्या बुनियादी अंतर है। आपने **वसंत का अग्रदूत** का अध्ययन किया है, क्या वह निराला की जीवनी है? क्या **ठकुरी बाबा** की जीवनी कहा जा सकता है? इन रचनाओं में ही इनकी विशिष्टताएँ निहित हैं जिनको जानना आपके लिए मुश्किल नहीं होगा।

8.2 जीवनी का स्वरूप

आधुनिक हिंदी गद्य के विकास में जिन विधाओं का विशेष योगदान रहा है, 'जीवनी' का उनमें महत्वपूर्ण स्थान है। मनुष्य-साहित्य और जीवन दोनों का केंद्र है। जीवनी उसके जीवन और व्यक्तित्व को समग्रतः अभिव्यक्त करने वाली साहित्यिक विधा है। जीवनी के विषय में 'हिंदी साहित्य कोश' में कहा गया है - 'किसी व्यक्ति-विशेष के जीवन वृत्तांत को जीवनी कहते हैं।' अर्थात् जीवनी में व्यक्ति-विशेष के जीवन को उसकी संपूर्णता एवं व्यापकता के साथ प्रस्तुत किया जाता है। जीवन का यह ब्यौरा स्व-रचित न होकर किसी अन्य द्वारा तटस्थ तथा निष्पक्ष दृष्टिकोण के आधार पर रचा जाता है। इस दृष्टि से यह आत्मकथा के विपरीत 'परकथा' है।

जीवनी का लेखक अपने चरित नायक के जीवनवृत्त को साकार करने के लिए व्यक्ति-विशेष के जीवन की घटनाओं पर बहुत बल देता है लेकिन घटनाओं का परिगणन मात्र जीवनी नहीं है: उसमें घटनाएँ और चरित्र, युग और पृष्ठभूमि - सबका समंजन रहता है। अतः जीवनी का रचना विधान लेखक से विशिष्ट रचना सामर्थ्य की भी अपेक्षा रखता है। कुल मिलाकर, जीवनी व्यक्ति-विशेष के जीवन का ऐसा चित्र है जहाँ उसके जीवनगत तथ्यों और चरित्र की विशेषताओं को ऐसी कलात्मकला के साथ विन्यस्त किया जाता है कि वह शब्द चित्र सजीव हो उठता है। बाबू गुलाबराय ने जीवनी को परिभाषित करते हुए इसी विशेषता की ओर संकेत करते हुए लिखा है - 'जीवनी लेखक अपने चरित्रनायक के अंतर-बाह्य स्वरूप का चित्रण कलात्मक ढंग से करता है। इस चित्रण में वह अनुपात और शालीनता का पूर्ण ध्यान रखता हुआ सहृदयता, स्वतंत्रता और निष्पक्षता के साथ अपने चरित्रनायक के गुण दोषमय सजीव व्यक्तित्व का एक आकर्षक शैली में उद्‌घाटन करता है।' (गुलाबराय, काव्य के रूप,)

जीवनी के केंद्र में चरित नायक और उसका कर्तृत्व रहता है। इसलिए जब जीवनी के चरितनायक का चयन किया जाता है तब जीवनीकार के मन में यही तत्व सर्वप्रमुख रहता है कि चरितनायक का चरित्र प्रेरक और आकर्षक हो अर्थात् मनुष्य की मानवीयता, कर्मठता और सदाशयता को प्रकाशित करने वाला व्यक्तित्व ही किसी भी जीवनी का केंद्र-बिंदु बनता है। किसी समय यह धारणा महत्वपूर्ण थी कि जीवनी का चरित नायक ऐसा विख्यात व्यक्ति ही हो सकता था जिसका चरित्र महिमा-मंडित रहा हो और जिसके प्रति जीवनीकार की श्रद्धा हो। लेकिन आधुनिक युग में यह दृष्टि बदली है और यह अनुभव किया गया है कि जीवनी व्यक्ति-केंद्रित विधा होते हुए भी समूचे युग और उसकी पृष्ठभूमि को प्रति-ध्वनित करने वाली विधा है। इसीलिए अति-सामान्य दिखने वाला साधारण-जन भी जीवनी का चरित-नायक हो सकता है। प्रायः ऐसे व्यक्ति की जीवनी लिखते हुए लेखक का उद्देश्य समाज और व्यवस्था तथा उसमें निहित मानव मूल्यों की स्थिति को उजागर करना रहता है।

जीवनी लेखन में जितना बल चरित-नायक के चुनाव पर दिया जाता है उतनी ही महत्ता उसके सजीव व्यक्तित्वांकन की भी है। जीवनी का नायक कोई कल्पना निर्मित पात्र नहीं है। इसलिए उसके चरित्र का निर्माण भी उसके जीवन तथ्यों एवं सत्य घटनाओं के आधार पर किया जाता है। नायक का जीवन चरित्र सत्य के जितना निकट होगा उसकी जीवनी उतनी ही प्रामाणिक एवं विश्वसनीय होगी लेकिन इन सबके बावजूद जीवनी चरित नायक के जीवन की घटनाओं का ब्यौरा भर नहीं है। बाबू गुलाबराय का मत है :

'जीवन की घटनाओं के विवरण का नाम जीवनी नहीं है। लेखक जहाँ नायक के जीवन में छिपे उसके विकास को, उसके व्यक्तित्व के रहस्य को, उसकी मुख्य जीवनधारा को खोलकर पाठकों के सामने रख देता है वहाँ जीवनी लेखन-कला सार्थक होती है। ऊपर से मनुष्य के दिखाई पड़ने वाले रूप को दिखाकर ही जीवनी लेखन कला संतुष्ट नहीं होती, वह उस आवरण को भेदकर अंतःस्वरूप और आंतरिक सत्य को प्रत्यक्ष करती है।'

इस दृष्टि से जीवनी को चरित-नायक के जीवन का मनोवैज्ञानिक अध्ययन भी कहा गया है जहाँ लेखक अपने चरितनायक के गुण-दोषमय चरित्र को एक तटस्थ एवं ईमानदार दृष्टि से पहचानकर उसका सहृदयता, स्वतंत्रता एवं निष्पक्षतापूर्ण अंकन करता है। जीवनी लेखक अपने चरितनायक की जीवन यात्रा का सहयात्री बनता है। वह अपने चरित नायक को सतह की वास्तविकताओं से नहीं समझता, उसके जीवन की सच्चाइयों में गहरे पैठकर जीवन के उतार चढ़ावों में सामाजिक संचरण करता हुआ अपने नायक के जीवन चरित्र को परत-दर-परत उघाड़कर प्रस्तुत करता है। न तो अतिरिक्त श्रद्धावश वह उसे केवल गुणों का पुतला बनाकर प्रस्तुत करता है न ही दुर्बलताओं का पुंज। जीवनी की सार्थकता इसी बात में निहित है कि उसके चरितनायक का स्वरूप एक जीते-जागते इंसान की तरह सप्राण हो।

जीवनी लेखन चरित-नायक के जीवन-तथ्यों पर आधारित होता है। उसे प्रामाणिक और विश्वसनीय बनाने के लिए लेखक को सामग्री संकलन के लिए भी भगीरथ प्रयास करना पड़ता है। एक शोधकर्ता की भांति वह विभिन्न सामग्री स्रोतों का संकलन एवं अध्ययन-मनन करता है। यदि चरित-नायक द्वारा आत्मकथा लिखी गई हो तो वह जीवनी लेखक के लिए भी प्रमुख स्रोत बनती है। इसके साथ-साथ स्वयं नायक द्वारा लिखे गए संस्मरण या अन्य लोगों द्वारा नायक के विषय में लिखे संस्मरण, नायक की डायरी, पत्र, चरित-नायक द्वारा लिखा गया संर्जनात्मक एवं आलोचनात्मक साहित्य उसकी वक्तृताएँ, भेंटवार्ताएँ, पेंटिंग, फोटोग्राफ इत्यादि विभिन्न सामग्री जिसका संबध किसी न किसी रूप में चरित-नायक से हो - वह सब जीवनीकार के लिए महत्वपूर्ण होता है। इसके अतिरिक्त, वह स्वयं उन लोगों से मिलता है जो चरित-नायक के घनिष्ठ रहे हों। अपने चरित-नायक के युग और पृष्ठभूमि को समझने के लिए लेखक तत्कालीन समाचार-पत्रों, इतिहास-ग्रंथों आदि में बिखरी सामग्री का भी संचयन कर, उसपर चिंतन करता है और तभी एक सफल जीवनी का निर्माण संभव होता है।

तथ्य-संकलन की इतनी महत्ता के बावजूद अनुभूति और कल्पना के अभाव में जीवनी साहित्य विधा न होकर निष्प्राण इतिहास-ग्रंथ के समान हो जाती है। यदि जीवन-तथ्य जीवनी का कलेवर है तो अनुभूति और कल्पना उसमें प्राण-संचार करने वाला तत्व है लेकिन कल्पना का प्रयोग केवल कलात्मक विन्यास के सहायक तत्व के रूप में ही किया जाता है।

जीवनीकार का लक्ष्य व्यक्ति को उसके संपूर्ण संदर्भों में प्रस्तुत करने का रहता है, इसलिए व्यक्ति के भावलोक एवं विचार-क्षेत्र के साथ-साथ उसका बहिर्जगत भी जीवनीकार के लिए महत्वपूर्ण है। वस्तुतः व्यक्ति को गढ़ने में उसकी परिस्थितियों और सामाजिक शक्तियों का अद्वितीय योगदान है। जीवनीकार के लिए व्यक्ति-जीवन की घटनाएँ मात्र सत्य नहीं है, घटनाओं की पृष्ठभूमि, उनको निर्धारित करने वाले प्रेरणा स्रोत अधिक महत्वपूर्ण हैं। इस दृष्टि से लेखक तत्कालीन सामाजिक, राजनीतिक परिप्रेक्ष्य को खंगालता है और उन सक्रिय शक्तियों की पहचान करता है जो उसके चरित-नायक के जीवन का नियमन करती रहीं या फिर चरित-नायक ने जिस रूप में सामाजिक-राजनीतिक परिवर्तन लाने में अपनी भूमिका निभाई।

इस प्रकार, जीवनी एक गुम्फित विधा है जिसके केंद्र में व्यक्ति और उसका अंतर बाह्य जगत है। दूसरी ओर, उस व्यक्ति के माध्यम से ही पूरा युग और पृष्ठभूमि भी ध्वनित होती है। कुल मिलाकर, जीवनी लेखन एक चुनौतीपूर्ण विधा है जो लेखक से विशिष्ट रचनात्मक प्रतिभा की अपेक्षा रखती है।

8.3 जीवनी साहित्य : परंपरा और विकास

आधुनिक गद्य विधा के रूप में जीवनी निश्चित रूप से आधुनिक युग की ही देन है। यों परंपरागत दृष्टि से देखा जाए तो साहित्य के आरंभिक युग से ही जीवन-चरितों के सृजन की परंपरा उपलब्ध रही है। आदिकाल के चरित-काव्य काव्य-नायक के जीवन-चरित की ही कहानी हुआ करते थे, किंतु वहाँ तथ्यगत सच्चाई की अपेक्षा कवि-कल्पना की प्रधानता रहती थी। आदिकालीन वीर काव्य राजा-महाराजाओं के शौर्य और ऐश्वर्य की ऐसी गाथाएँ थीं जिनमें वीरता और शृंगारिकता के अतिरंजित चित्र उपलब्ध होते थे। भक्तिकाल में भी भक्तों के जीवनादर्शों की प्रस्तुति के लिए चरित लेखन की परंपरा को विशेष प्रोत्साहन मिला। एक ओर जहाँ संतों के जीवन चरित पर आधारित 'परचई' साहित्य लिखा गया जैसे 'कबीर जी की परचई', 'नामदेव जी की परचई', 'रैदास जी की परचई', 'मलूकदास जी की परचई' आदि। दूसरी ओर नाभादास कृत 'भक्तमाल', स्वामी गोकुलनाथ कृत 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता', 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' तथा 'अष्टसखान की वार्ता' जैसे ग्रंथ जनता के बीच विशेष रूप से विख्यात रहे। इन सभी रचनाओं में तथ्यात्मकता का अभाव रहा। भक्तों के प्रति आदर

और प्रशंसा की अभिव्यक्ति के उद्देश्य से रचे गए ये ग्रंथ कहीं-कहीं अलौकिकता का पुट लिए हुए हैं।

भारतेंदु युग में ही अन्य गद्य विधाओं की भांति जीवनी के भी सृजन और विकास का पथ प्रशस्त हुआ। राष्ट्रीय आंदोलन की पृष्ठभूमि में भारतेंदु युग में मुख्यतः संत महात्माओं, राजा-महाराजाओं, विदेशी शासकों, समकालीन राष्ट्रीय नेताओं, देशभक्त क्रांतिकारी युवाओं एवं साहित्यकारों के जीवन चरित लिखे गए। स्वयं भारतेंदु ने 'चरितावली' (1871-1889) की रचना की जिसमें अनेक महत्वपूर्ण व्यक्तियों के संक्षिप्त जीवन चरित संकलित हैं। 'पंच पवित्रात्मा' (1884) शीर्षक से उन्होंने मुस्लिम धमाचार्यों की भी संक्षिप्त जीवनियाँ लिखीं। इस युग की अधिकांश जीवनियों में किंवदंतियों को आधार बनाया गया। प्रायः वर्णन और विवरण ही प्रधान रहे। फिर भी भारतेंदु, मुंशी देवी प्रसाद और कार्तिक प्रसाद खत्री ने अपने चरित नायक की विशिष्टताओं को उभारने का प्रयास किया। इनके द्वारा रचित जीवन चरितों में प्रामाणिकता और रोचकता के गुणों का भी निर्वाह हुआ।

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने जीवन चरित संबंधी पाँच पुस्तकों की रचना की जिनमें 'प्राचीन पंडित और कवि', 'सुकवि संकीर्तन' तथा 'चरित चर्चा' आदि उल्लेखनीय हैं।

प्रेमचंद के जीवन पर केंद्रित शिवरानी देवी की रचना 'प्रेमचंद : घर में' (1944) संस्मरणात्मक शैली में लिखी गई जीवनी है।

इस प्रकार, स्वाधीनता-पूर्व युग में यद्यपि जीवनी के कोई स्थिर मानदंड नहीं थे। एक विकासात्मक विधा के रूप में उसमें अनेक तत्वों और भाषागत विभिन्न शैलियों का प्रयोग होता रहा। वस्तुपरक तटस्थता की अपेक्षा श्रद्धापरक दृष्टि ही प्रधान रही लेकिन इन सबके बावजूद विषयगत वैविध्य इस युग के जीवनी लेखन की प्रधान प्रवृत्ति रहा। अपने चरित नायक के चुनाव में लेखकों ने व्यापक दृष्टिकोण का परिचय दिया।

स्वातंत्र्योत्तर युग जीवनी विधा का उत्कर्ष काल कहा जा सकता है। विषय-वस्तु और अभिव्यक्ति, दोनों दृष्टियों से इस युग में विकास की नई संभावनाएँ सामने आईं। संक्षिप्त जीवन-चरितों के सृजन की अपेक्षा लेखकों की प्रवृत्ति व्यक्ति को उसके व्यापक युग संदर्भों से जोड़कर देखने की रही। स्वातंत्र्योत्तर युग में साहित्यकारों का जीवन के कठोर यथार्थ से सीधा साक्षात्कार हुआ। फलतः जीवनीकार का भी अपने चरित-नायक के प्रति अंध-भक्तिपरक दृष्टिकोण परिवर्तित हो गया। अब जीवनी चरित-नायक का प्रशस्तिपरक चित्र न होकर अपने व्यक्तित्व का गुण-दोषपूर्ण चित्रण होने लगी। इसी परिवर्तित दृष्टिकोण ने जीवनी के स्वरूप को प्रामाणिकता एवं विश्वसनीयता प्रदान की। अब जीवनी के चरित-नायक अति-मानवीय चरित्र न होकर हाड़-मांस युक्त ऐसे व्यक्ति के रूप में प्रस्तुत हुए, जीवनगत संघर्षों के बीच जिसका जीवन मानव मात्र के लिए प्रेरणा का स्रोत बन जाता है। स्वातंत्र्योत्तर युग में भी जीवनी के चरित-नायकों का चुनाव जीवन के विविध क्षेत्रों से किया जाता रहा। धर्म, समाज, राजनीति, साहित्य - इन सभी क्षेत्रों से संबद्ध विशिष्ट व्यक्ति जीवनीकारों के लिए आकर्षण का केंद्र बने रहे और इस युग की कुछ महत्वपूर्ण जीवनियाँ इन्हीं के जीवन को केंद्र में रखकर लिखी गईं।

राजनीतिक क्षेत्र से संबंधित व्यक्तियों पर जीवनी लिखने वाले साहित्यकारों में पंडित राहुल सांकृत्यायन का नाम विशेष सम्मान का अधिकारी है। साम्यवादी विचारधारा को उसके पूर्ण परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत करने तथा उसके नेताओं के प्रति आस्था उत्पन्न करने के उद्देश्य से उन्होंने 1953 में 'स्तालिन', 1954 में 'कार्ल मार्क्स' तथा 'लेनिन' और 1956 में 'माओ त्से तुंग' की जीवनियाँ लिखीं।

इस श्रेणी में रामवृक्ष बेनीपुरी द्वारा लिखित 'कार्ल मार्क्स' तथा जयप्रकाश नारायण की जीवनियों का भी अपना महत्व है। समकालीन राजनीतिक नेताओं के जीवन को केंद्र में रखकर जो जीवनियाँ लिखी गईं उनमें ओंकार शरद द्वारा लिखित 'राममनोहर लोहिया' (1971) इस युग में प्रमुख रही है।

गद्य की आधुनिक विधा के रूप में जहाँ 'जीवनी' अपने पूर्ण उत्कर्ष पर दिखाई देती है वह है अपने समय के प्रसिद्ध साहित्यकारों पर लिखी गईं जीवनियाँ जो एक लेखक के व्यक्तित्व, उसके युग तथा उसकी रचना-प्रक्रिया को समझने में सहायक रही है। इस दृष्टि से पत्रकार ऋषि जैमिनी, कौशिक 'बारुआ' द्वारा लिखित 'माखनलाल चतुर्वेदी' (1960) की जीवनी, प्रेमचंद के जीवन पर केंद्रित उनके पुत्र अमृतराय द्वारा लिखित 'कलम का सिपाही' (1962), डॉ.रामविलास शर्मा द्वारा रचित 'निराला की साहित्य साधना' का प्रथम खंड (1969) तथा सुप्रसिद्ध साहित्यकार शरत्चंद्र के जीवन पर आधारित विष्णु प्रभाकर द्वारा लिखी गई जीवनी 'आवारा मसीहा' विशेष रूप से महत्वपूर्ण हैं।

इस प्रकार, कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि जीवनी लेखन के जो बीज हिंदी साहित्य के आरंभिक काल में दिखाई पड़े थे आधुनिक काल में पूर्णतः पल्लवित एवं विकसित हुए हैं। आधुनिक काल में जीवनी गद्य साहित्य की एक शक्त विधा बनकर उभरी है। न केवल परिमाण की दृष्टि से बल्कि वैविध्य एवं गुणवत्ता की दृष्टि से भी उसका उत्तरोत्तर विकास हो गया है।

8.4 कलम का सिपाही : जीवनी साहित्य की अन्यतम उपलब्धि

अमृतराय द्वारा लिखित **प्रेमचंद : कलम का सिपाही** जीवनी विधा की परिपक्वता की पहचान है और हिंदी साहित्य की एक अन्यतम उपलब्धि भी। प्रेमचंद केवल एक व्यक्ति-विशेष नहीं है, वे एक समूचे युग के प्रणेता हैं। उनका सर्जनात्मक व्यक्तित्व जीवन और साहित्य की खाई को पाटने वाला अथक प्रयास है। प्रेमचंद के अनुसार साहित्य की सार्थकता उसके मानव समाज से जुड़े रहने में ही है। साहित्य और समाज का दिशा-निर्देश करने वाले प्रेमचंद का जीवन अति-साधारण होते हुए भी अपने युग के अंतर्विरोधों का प्रतिबिंब है। अमृतराय ने उनके जीवन के इसी रूप को साकार किया है।

प्रेमचंद का जीवन औसत भारतीय जन जैसा है। यह साधारणत्व एवं सहजता प्रेमचंद की विशेषता है। उन्होंने स्वयं स्वीकार किया है - 'मेरा जीवन सपाट समतल मैदान है, जिसमें कहीं-कहीं गढ़े तो हैं पर टीलों, पर्वतों, घने जंगलों, गहरी घाटियों और खंडहरों का स्थान नहीं है। जो सज्जन पहाड़ों की सैर के शौकीन है उन्हें तो यहाँ निराशा ही होगी।' (भूमिका, **कलम का सिपाही**, पृ.4)

प्रेमचंद की यह सहजता यत्न-साधित या एक लेखक की ओढ़ी हुई विशिष्ट मुद्रा नहीं है। अमृतराय कहते हैं - 'प्रेमचंद की सरलता सहज है।.....नहीं, वह कस्तूरी मृग नहीं है जिसे अपने भीतर की कस्तूरी का पता नहीं। उसे पता है कि उसके भीतर ऐसा भी कुछ है जो मूल्यवान है,उसका अपना है, नितांत अपना, मौलिक, विशेष वही उसका मोती है, मानिक है।' (भूमिका, **कलम का सिपाही**, पृ.2)

प्रेमचंद की सरलता, सहज होते हुए भी जटिल है। वह इकहरी नहीं है - केवल उस व्यक्ति तक सीमित नही है। वस्तुतः प्रेमचंद का 'स्व', 'सर्व' से जुड़े बिना परिभाषित किया ही नहीं जा सकता। प्रेमचंद की चेतना भारतीय पुनर्जागरण के दौर में विकसित हुई है। राजनीतिक दृष्टि से यह गहरी उथल-पुथल और मानसिक ऊहापोह का युग था। अमृतराय ने इसीलिए कांग्रेस के इतिहास के लंबे विवरण दिए हैं और प्रेमचंद का युवा-मानस किस तरह उन सबसे प्रभावित होता है लेखक ने इसका उचित रेखांकन किया है। आरंभ में प्रेमचंद गोखले से

प्रभावित होते हैं और बाद में तिलक का व्यक्तित्व उन्हें अधिक आकर्षित करता है। लेखक की दृष्टि में इन दोनों का समंजन गांधी जी की नैतिक सुधारपरक चेतना में मिलता है जो एक लंबे समय तक प्रेमचंद के व्यक्तित्व और कृतित्व पर हावी रहा।

चरित-लेखक अमृतराय ने अपने चरित-नायक प्रेमचंद के वैचारिक और भावात्मक विकास को तत्कालीन परिवेश के परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत किया है। अतः उनके व्यक्तित्व में उस युग-यथार्थ क जटिलतर अभिव्यक्ति संभव हुई है। **कलम का सिपाही** की भूमिका में अमृतराय ने प्रेमचंद की विचारधारा को वाणी देते हुए लिखा है :

'मैं तो नदी किनारे खड़ा हुआ नरकुल हूँ, हवा के थपेड़ों से मेरे अंदर भी आवाज़ पैदा हो जाती है। बस इतनी-सी बात है। मेरे पास अपना कुछ नहीं है, जो कुछ है इन हवाओं का है जो मेरे भीतर बजीं।'
(भूमिका - **कलम का सिपाही**, पृ.4)

अमृतराय ने इन्हीं हवाओं को पकड़ने की कोशिश की है। स्वातंत्र्य-पूर्व युग में प्रेमचंद ऐसे व्यक्ति हैं जिनकी राष्ट्रीय-सामाजिक परिवर्तन लाने में एक सक्रिय भूमिका रही है। प्रेमचंद का रचनात्मक साहित्य, संपादकीय टिप्पणियाँ और उनके पत्र आदि इस सत्य के साक्षी हैं।

प्रेमचंद के जीवन-चरित को उभारने में एक ओर यदि लेखक ने युग की विस्तृत पृष्ठभूमि को लिया है तो दूसरी ओर छोटे-छोटे पारिवारिक प्रसंगों का संयोजन हैं जिनमें प्रेमचंद के मानसिक द्वंद्व और आर्थिक परेशानियों की अभिव्यक्ति हुई है। अमृतराय ने प्रेमचंद का पुत्र होते हुए भी जीवनी लेखन के लिए पूर्ण तटस्थता का निर्वाह किया है। डॉ.बच्चन सिंह के शब्दों में - 'जब पुत्र पिता की जीवनी लिख रहा हो तो यह काम और भी जोखिम का हो जाता है लेकिन कुल मिलाकर अमृतराय ने जिस तटस्थता का परिचय दिया है वह श्लाघ्य है।' (डॉ. बच्चन सिंह - कलम का सिपाही : एक युग का संदर्भ; संपा. मन्मथनाथ गुप्त - समसामयिक हिंदी साहित्य, पृ.193)

प्रेमचंद की कहानियों और उनके जीवन संदर्भों पर लेखक की ऐसी अनेक टिप्पणियाँ हैं जो प्रेमचंद की कमज़ोरियों और उनकी सीमाओं को भी प्रत्यक्ष करती हैं। पुत्री को उच्च शिक्षा न दिला सकने के प्रसंग में अमृतराय ने यहाँ तक कहा है कि अन्य मजबूरियों के साथ मुंशी जी के मन की वह मजबूरी भी रही होगी जो स्त्री की नयी शिक्षा के प्रति कुछ संशयग्रस्त थी। जैसे 'राम की शक्ति पूजा' में निराला राम के उस मन की बात करते हैं जो कभी नहीं थकता - 'एक और मन रहा राम का जो न थका' उसी तरह प्रेमचंद भी यहाँ गहरे मानसिक द्वंद्व और अंतःसंघर्ष से गुजरते दिखाई पड़ते हैं। एक ओर तो ऊपर से देखने पर प्रेमचंद का समाज-भीरू व्यक्तित्व है और दूसरी ओर समाज में परिवर्तन लाने वाली प्रगतिशील शक्तियों के हाथ मज़बूत करने के लिए उनकी कलम बराबर चलती रही। लेकिन प्रेमचंद की यह जीवन-यात्रा अत्यंत कठिन है। जीवन के अंत में मृत्यु-शैय्या पर पड़े प्रेमचंद का जैनेन्द्र से यह कहना कि 'अब आदर्श से काम नहीं चलेगा।' कहीं उनकी आशाओं और दृढ़ विश्वासों के स्खलन का सूचक है। प्रेमचंद के मन की इसी पीड़ा को अमृतराय ने बखूबी शब्दबद्ध किया है। इसीलिए प्रेमचंद की यह जीवनी मात्र उनके जीवन की घटनाओं का ब्यौरा भर नहीं है बल्कि उनके जीवन का ऐसा पुनः सृजन है जहाँ पाठक भी अपने युग के इतने बड़े साहित्यिक की जीवन-यात्रा का सहयात्री बन जाता है। प्रेमचंद को पूर्णतः समझने के लिए उनकी यह जीवनी एक सार्थक सोपान है।

प्रेमचंद ने स्वयं कोई आत्मकथा नहीं लिखी, न ही अपने विषय में कोई लेख लिखा और न ही वे डायरी लिखा करते थे। यहाँ तक कि अपने पत्रों को भी संभाल कर नहीं रखते थे। इससे जीवनी लेखक का काम और भी कठिन हो गया। सामग्री संकलन के लिए उन्हें विशेष प्रयास करने पड़े हैं। लेखक ने जहाँ से हो सका उनके पत्रों को इकट्ठा किया, उनपर लिखे गए

संस्मरणों का आश्रय लिया और साथ ही उनके रचनात्मक साहित्य के पात्रों में भी प्रेमचंद के जीवन-प्रसंगों को ढूंढा है। यहाँ एक खतरा पैदा हो जाता है। कथा-साहित्य के पात्रों की प्रेरणा स्वानुभूत जीवन-प्रसंगों की हो सकती है लेकिन उनके सृजन में लेखक की कल्पना का भी बहुत बड़ा योगदान रहता है। अतः पात्रों के जीवन में प्रेमचंद के जीवन को तलाशना बहुत उचित नहीं है। इसी तरह, संस्मरणों के प्रयोग में भी अतिरिक्त सावधानी की अपेक्षा रहती है क्योंकि संस्मरण लेखक का 'स्व' या उसके श्रद्धापरक दृष्टिकोण ही अपने चरित-नायक के व्यक्तित्व को उभारने में अधिक क्रियाशील रहता है। जीवनी के अंत में, अमृतराय ने प्रेमचंद के अंतिम दिनों का वर्णन किया है और उसमें उनपर लिखे गए संस्मरणों का बहुत प्रयोग हुआ है। ये संस्मरण मार्मिक होते हुए भी भावाविष्ट हैं, इस सत्य को नकारा नहीं जा सकता।

जहाँ तक उनके पत्रों का प्रश्न है, तो उसमें उनके व्यक्तित्व के अनेक पक्ष उभरे हैं - सुख-दुःख, आशा-आकांक्षाएँ, आर्थिक तंगहाली, वैचारिक संघर्ष आदि।

कुल मिलाकर, इन सभी स्रोतों से संकलित सामग्री के आधार पर अमृतराय ने प्रेमचंद के जीवन को जिस समग्रता से प्रस्तुत किया है वह रोचक भी है और आकर्षक भी। इस सबमें अमृतराय की भाषा का भी बहुत बड़ा योगदान है। भाषा पर उनका पूर्ण अधिकार है और शब्दों के वे धनी हैं। अतः भाषा की सजीवता एवं सशक्तता ने इस जीवनी को और भी महत्वपूर्ण बना दिया है।

8.5 कलम का सिपाही : वस्तु और संवेदना

जीवनी विधा की दृष्टि से **कलम का सिपाही** की अद्वितीयता स्वतःसिद्ध है, जिस रूप में यह जीवनी प्रेमचंद जैसे साहित्य-सेवी के जीवन-संघर्ष और उनकी विचारधारा को प्रस्तुत करती है वह अपने आप में इस विधा की प्रभविष्णुता का प्रमाण है। प्रस्तुत अंश जीवनी के अध्याय 32 में से है। यह इस जीवनी की प्रातिनिधिक झलक है। इस अध्याय में प्रेमचंद का जो चित्र उपस्थित हुआ है उसमें उनके व्यक्तित्व के सभी रंग दिखाई पड़ते हैं। परिवार के छोटे-छोटे सुख-दुःखों में फंसे साधारण व्यक्ति-जीवन से लेकर राष्ट्रीय-सामाजिक और साहित्यिक मसलों पर गंभीरता से विचार करने वाले बुद्धिजीवी-जीवन तक प्रेमचंद का जीवन फैला हुआ था। प्रस्तुत अध्याय संपूर्ण जीवनी के संदर्भ में उसे उभारने में सक्षम है।

अध्याय के प्रारंभिक अंशों में प्रेमचंद के गार्हस्थिक जीवन की झलक प्रस्तुत की गई है। लेखन कार्य में तल्लीन प्रेमचंद को परिवार के सदस्यों का बार-बार आकर पुकारना और अंत में पत्नी शिवरानी देवी का स्वयं आकर कलम छुड़ाना और ज़बरदस्ती भोजन के लिए ले जाना, बच्चों का पिता के साथ ही भोजन करने की प्रतीक्षा में सो जाना और फिर सबका एक-साथ बैठकर रात का भोजन करना - इन सब प्रसंगों द्वारा अमृतराय ने प्रेमचंद के पारिवारिक जीवन, उनके सहज व्यक्तित्व तथा परस्पर आत्मीयता की सुंदर संक्षिप्त झलक प्रस्तुत की है। कहीं पर स्वयं जी तोड़कर मेहनत करने वाले प्रेमचंद अपने बच्चों को सदैव खेलने-कूदने की नसीहत देते प्रस्तुत हुए हैं तो कहीं बीमार बेटी के स्वास्थ्य की चिंता में विचार-मग्न।

प्रेमचंद का साहित्यिक व्यक्तित्व भले ही समृद्धि के शिखर पर रहा हो लेकिन व्यक्तिगत जीवन में वे सदैव अभावों और तकलीफों से घिरे रहे। अपने मित्रों को लिखे पत्रों में प्रेमचंद ने बार-बार अपनी स्थितियों का उल्लेख किया है। प्रस्तुत अध्याय में उन पत्रों के कुछ अंश अमृतराय ने उद्धृत किए हैं, जिनमें प्रेमचंद के संघर्षरत जीवन की व्यथा-कथा झलकती है :

'मैं तो इधर बहुत परेशान रहा।.....बेटी के पुत्र हुआ और उसे प्रसूत ज्वर ने पकड़ लिया, मरते-मरते बची.....।....मैं अकेला रह गया था। बीमार पड़ा, दाँतों ने कष्ट दिया....बुढ़ापा स्वयं रोग है और अब मुझे उसने स्वीकार करा दिया कि अब मैं उसके पंजे में आ गया हूँ।'

किंतु बुढ़ापे का यह अहसास, अस्वस्थता और बेचारगी, प्रेमचंद के व्यक्तित्व पर कभी हावी नही रहे, भले ही शारीरिक स्तर पर उन्होंने इसकी पीड़ा को भोगा हो। अमृतराय ने बहुत सुंदर-सटीक शब्दों में प्रेमचंद के जीवट का परिचय दिया है :

'बुढ़ापा यह है जब चित्त बुड्ढा हो जाता है और आदमी केवल साँस के आने-जाने को ज़िन्दगी समझने लगता है। जब निष्ठा के पैर डगमगाने लगते हैं और तरुणाई के आदर्श संकल्प सदा झूठे जान पड़ते हैं। जब अन्याय देखकर आँखों में खून नहीं उतरता, बुढ़ापा वह है। यहाँ तो अभी वैसी कोई बात नहीं है।'

वस्तुतः प्रेमचंद के व्यक्तित्व में जो उत्कट जिजीविषा और जीवंतता है वही इस अध्याय में प्रमुख रूप से उभरी है। सामाजिक अन्याय के विरुद्ध लड़ता हुआ, साम्प्रदायिक सद्भाव के प्रति सचेत, साहित्यिक मसलों पर निडर और दो-टूक बात करने वाला 'प्रेमचंद का जुझारू रूप अनेक घटनाओं के माध्यम से उभरकर सामने आया है। जैसा कि अमृतराय ने टिप्पणी की है - '.....कोई भी बात हो, छोटी हो बड़ा हो, अपनी हो' पराई हो, जहाँ भी कोई अन्याय हो रहा हो, मुंशीजी जूझने के लिए तैयार हैं।'

राष्ट्रीय एकता और साम्प्रदायिक सद्भाव के प्रति मुंशी जी सदा जागरूक दिखते हैं। हज़रत मुहम्मद की पुण्य-तिथि पर हुए जलसे और उसमें पंडित सुंदरलाल की दी हुई स्पीच को वे अपनी पत्रिका में महत्वपूर्ण स्थान देते हैं। जबकि दोनों सम्प्रदायों के बीच विद्वेष बढ़ाने वाले हर व्यक्ति को वे आड़े-हाथों लेते हैं फिर चाहे वह कोई प्रसिद्ध लेखक ही क्यों न हो :

'इन चतुरसेन को क्या हो गया कि 'इस्लाम का विषवृक्ष' लिख डाला? उसकी एक आलोचना तुम लिखो और वह पुस्तक मेरे पास भेजो.....इस कम्युनल प्रोपेगण्डा का जोरों से मुकाबला करना होगा.....' (कलम का सिपाही, पृ.495)

प्रेमचंद के भीतर एक बेचैनी है परिवर्तन की। समाज की प्रत्येक गतिविधि पर उनकी राय है और जहाँ भी, जो कुछ भी विकास के मार्ग को अवरुद्ध करने वाला है उससे डटकर लोहा लेना, अपनी कलम की ताक़त से उसके समस्त छिद्रों का उद्घाटन कर अपना विरोध प्रकट करना, प्रेमचंद की शख्सियत का हिस्सा है। चाहे परंपरागत हिंदू समाज में कोढ़ की भांति फैली कुरीतियों और पुरोहित वर्ग के शोषण की बात हो, चाहे आधुनिक समाज में पूँजीवादी की स्वार्थ नीति का विषय हो। प्रेमचंद इन ह्रासशील और समाज का अहित करने वाले विशिष्ट वर्गों का खुलकर विरोध करते दिखते हैं।

ब्राह्मणत्व प्रेमचंद की दृष्टि में एक विशिष्ट पदवी है जिसे कोई भी व्यक्ति सेवा और त्याग के द्वारा ही प्राप्त कर सकता है लेकिन हिंदू समाज में ब्राह्मणत्व के नाम पर जिस प्रकार पण्डे और पुरोहित अपना स्वार्थ सिद्ध करते हैं और भोली-भाली जनता को धार्मिक आडम्बरों और अंधविश्वासों में जकड़कर रख देते हैं, उस प्रवृत्ति का प्रेमचंद खुलकर विरोध करते हैं। उनके कथा-साहित्य में इसी तथाकथित ब्राह्मण वर्ग के विरुद्ध उठाई गई आवाज़ को लक्षित कर उन्हें घृणा का प्रचारक तथा ब्राह्मण विरोधी भी कहा गया। इस आक्षेप का उत्तर प्रेमचंद बड़ी सधी हुई भाषा में देते हैं। इस विषय में उनकी स्पष्ट राय है कि - 'इन पुजारियों और पंडों को मैं हिंदू जाति का अभिशाप समझता हूँ, वही हमारे पतन का कारण हैं।'

प्रेमचंद हिंदू जाति को पुरोहितों, पुजारियों, पंडों और धर्मोपजीवी कीटाणुओं से,मुक्त कराने के अभिलाषी हैं। वे मानते हैं कि हिंदू जाति का सबसे घृणित कोढ़, सबसे लज्जाजनक कलंक यही टकेपंथी दल है जो एक विशाल जोंक की भांति उसका खून चूस रहा है।

पूँजीवादी अर्थ-नैतिक विडम्बना पर भी मुंशीजी के विचार स्पष्ट रूप से इस अध्याय में उभरकर आए हैं। उनके अनुसार, वर्तमान समय में सामाजिक विसंगतियों की जड़ यही वर्ग है। पूँजीवादी

चाहे वह किसी भी देश या जाति का हो, मुंशी जी उसे एक ही प्रवृत्ति का मानते हैं और संसार में आई हुई हर तबाही का कारण पूँजीपति को ही मानते हैं :

'यह साम्राज्यवाद की विपत्ति जिससे संसार त्राहि-त्राहि कर रहा है, यह किसकी बुलाई हुई है? इन्हीं कुबेर के गुलामों की। .....यह जो बड़ी-बड़ी लड़ाइयाँ होती हैं जिनमें खून की नदियाँ बह जाती हैं इसका ज़िम्मेदार कौन है? यही लक्ष्मी के उपासक।'

इसलिए वे मानते हैं कि जब तक सम्पत्ति पर व्यक्तिगत अधिकार रहेगा, तब तक मानव समाज का उद्धार नहीं हो सकता। पुरोहितवाद की ही तरह, इस पूँजीवाद के प्रति भी प्रेमचंद की लेखनी मे असंतोष और आक्रोश के तीखे स्वर हैं :

'....यह आशा करना कि पूँजीपति किसानों की दीन दशा से लाभ उठाना छोड़ देंगे, कुत्ते से चमड़े की रखवाली करने की आशा करना है। इस खूंखार जानवर से अपनी रक्षा करने के लिए हम स्वयं सशस्त्र होना पड़ेगा।'

प्रेमचंद का जीवन और उनका बहु-आयामी व्यक्तित्व हर मोर्चे पर कमर कसे दिखाई देता है। राष्ट्रीय-अंतर्राष्ट्रीय हर महत्वपूर्ण मसले पर उनका गंभीर चिंतन उनके सरोकारों का स्पष्ट उदाहरण है, चाहे सीमा प्रदेश में हो रही बमबारी हो या पुलिस के अमानवीय कृत्य, कोर्ट-कचहरी की लचर व्यवस्था हो या जेलों की स्थिति। मुंशी जी की लेखनी हर मसले पर उठती है, एक अन्य घटना जिसका संबंध तत्कालीन साहित्यिक माहौल से है, प्रस्तुत अध्याय में विस्तार से वर्णित की गई है। ठाकुर श्रीनाथ सिंह ने बनारसीदास का इंटरव्यू लेकर उसमें अपनी तरफ से नमक-मिर्च लगाकर पत्रिका में छाप दिया, मुंशी जी इस मसले पर भी चुप नहीं रहे और 'साहित्यिक गुंडापन' शीर्षक से 'हंस' में इस मामले की चर्चा करते हुए कूद पड़े और बनारसीदास जी की ओर से ज़ोरदार पैरवी कर डाली। इस प्रसंग से जहाँ प्रेमचंद की सहृदयता, निर्भीकता और बेलाग बात करने की प्रवृत्ति पर प्रकाश पड़ता है वहीं तत्कालीन पत्र-पत्रिकाओं की साधनहीनता और उनकी दयनीय स्थिति का भी संकेत मिलता है :

'इस होड़ युग में अन्य व्यवसायों की भांति पत्र-पत्रिकाओं को अपने स्वामियों या संचालकों को नफ़ा देने या अपना अस्तित्व बनाए रखने के लिए तरह-तरह की चालें चलनी पड़ती हैं.....स्वामी नफ़ा चाहता है और नफ़ा न हुआ तो बेचारे संपादक की जान की कुशल नहीं।'

लेखक संघ की स्थापना के प्रश्न पर भी प्रेमचंद के विचार प्रस्तुत अध्याय में प्रकाशित हुए हैं। प्रेमचंद जी स्वयं एक भुक्तभोगी लेखक रहे, लेकिन लेखकों के अधिकारों और हितों क लिए बने लेखक संघ के प्रस्ताव को उन्होंने अधिक तवज्जो नहीं दी। वस्तुतः लेखक संघ को लेखकों के ट्रेड यूनियन के रूप में गठित करना - जिसका अकेला काम प्रकाशकों के साथ टक्कर लेना हो, उन्हें स्वीकार नहीं। इस संदर्भ में प्रेमचंद द्वारा की गई टिप्पणी के पीछे उनकी विवेकपूर्ण दृष्टि का आधार रहा है :

'मौजूदा हालत ऐसी नहीं कि प्रकाशकों को लेखकों के साथ ज्यादा न्यायसंगत व्यवहार करने पर मजबूर किया जा सके.....इस समय एक भी ऐसा साहित्य ग्रंथ प्रकाशक नहीं है जो नफ़े से काम कर रहा हो...वे प्रायः बड़ी मुश्किल से अपनी लागत निकाल पाते हैं।'

यद्यपि **कलम का सिपाही** के इस विवेच्य अध्याय में प्रेमचंद का जुझारू व्यक्तित्व ही उभरकर सामने आता है, जो हर कठिनाई, हर चुनौती का सामना करने को प्रस्तुत है लेकिन कहीं-कहीं उनकी निराशा और टूटन की झलक भी मिलती है। विशेष रूप से पत्र-पत्रिकाओं के प्रकाशन से जुड़ी समस्याओं के संदर्भ में। प्रेमचंद ने अपने प्रसिद्ध पत्र 'हंस' के साथ-साथ 'जागरण' का दायित्व भी संभाला था लेकिन पत्रिकाओं की दयनीय दशा का असर उनके प्रकाशन पर भी पड़ा, उनके पूरे श्रम और समर्पण के बावजूद भी दोनों पत्र घाटे में चलते रहे। कभी कागज़ के पैसे चुकाने में कठिनाई हो, कभी मज़दूरों के वेतन की समस्या, जिससे निपटने के लिए वे

पूँजीपतियों से गुज़ारिश करते हैं ताकि विज्ञापन मिल सकें, इधर-उधर हाथ-पैर मारते हैं, पर फिर भी प्रकाशन का कार्य छोड़ नहीं पाते। अपनी किताबों की आमदनी फूँककर अपनी ज़िन्दगी का आराम-चैन गंवाकर भी इस कार्य को संभाले रहते हैं। अपने सहयोगी मित्रों को लिखे पत्रों में उनकी हताशा, छटपटाहट और जद्दोजहद बड़ी शिद्दत से उभरी है :

'दस हज़ार रुपए और ग्यारह साल की मेहनत सब अकारथ हो गई। इस प्रेस के पीछे कितने मित्रों से बुरा बना, कितनों से वादा ख़िलाफ़ी की, कितना बहुमूल्य समय जो लिखने में कटता बेकार प्रूफ देखने में कटा। मेरी ज़िन्दगी की यह सबसे बड़ी गलती है।'

इस तरह, संवेदना के स्तर पर प्रस्तुत अध्याय प्रेमचंद के संघर्षशील व्यक्तित्व को रूपायित करने के साथ-साथ तद्युगीन समस्याओं, साम्प्रदायिकता और पूँजीवाद के स्वरूप को भी प्रकट करता है। आज प्रेमचंद की प्रतिष्ठा एक युग-प्रवर्तक साहित्यकार के रूप में है लेकिन उस समय में वे किस तरह साहित्यिक विवादों के घेरे में फंसे रहे और साहित्य को व्यवसाय बनाने वाले साहित्य-कर्मियों का उन्होंने कैसे डटकर विरोध किया उससे उनके जीवट का पता चलता है। साहित्य को अपने जीवन का उद्देश्य मानने वाले प्रेमचंद ने प्रतिकूल परिस्थितियों में भी 'हंस' और 'जागरण' को चलाने का भरसक प्रयत्न किया लेकिन अपने निकट उन्हें यह स्वीकार करना पड़ा कि शायद यह उनके जीवन की सबसे बड़ी गलती थी। फिर भी तमाम निराशाओं के बावजूद वे निरुत्साहित नहीं हुए बल्कि जीवन के अंत तक अपनी इस साधना में लीन रहे। प्रेमचंद के ऐसे अपराजेय, युगद्रष्टा और क्रान्तदर्शी व्यक्तित्व को साकार करने में अमृतराय निश्चित रूप से सफल रहे हैं। प्रस्तुत अध्याय इस सत्य का प्रमाण है।

8.6 कलम का सिपाही : शिल्पगत वैशिष्ट्य

कलम का सिपाही एक जीवनी है और जीवनी का शिल्प अत्यंत विशिष्ट होता है। यह एक व्यक्ति के संपूर्ण जीवन की कथा है लेकिन कथात्मक होते हुए भी उपन्यास की भांति इसके पात्र कल्पना निर्मित नहीं हैं। सत्य घटनाओं और तथ्यात्मकता का निर्वाह इसके लिए परमावश्यक है। अतः यहाँ लेखक तथ्यों से बंधा रहता है, वह स्वेच्छा से न तो घटनाओं को बदल सकता है न मनचाहा मोड़ दे सकता है। साथ ही यह भी ध्यान रखना ज़रूरी है कि तथ्यात्मकता पर बल देते हुए भी यह कोरा इतिहास नहीं है उसमें कल्पना, भावानुभूति का भी योगदान रहता है। इस दृष्टि से जीवनी लेखन रचनाकार से विशिष्ट रचना सामर्थ्य की अपेक्षा रखता है। जीवनी लेखन एक प्रक्रिया है - जहाँ रचनाकार चरित नायक की जीवन यात्रा का सहचर बनकर पाठक को भी उसका समभागी बनाता है। अमृतराय ने 'कलम का सिपाही' की रचना द्वारा भाषा और शिल्प पर अपनी पकड़ को सिद्ध कर दिया है। लेखक ने कथात्मक शैली में प्रेमचंद के जीवन की घटनाओं का क्रमबद्ध संयोजन किया है। दरअसल यहाँ कथा जैसा प्रवाह और सरसता भी है और वैज्ञानिक दृष्टि की तटस्थता और निरपेक्षता भी।

प्रेमचंद के चरित्र को समग्रता से प्रस्तुत करने के लिए लेखक ने उसके चरित्र के मुख्यतः दो पक्षों को उजागर किया है। एक उनका निजी व्यक्तिगत पक्ष जहाँ वे बराबर अर्थाभाव से जूझते, छोटी-छोटी पारिवारिक परेशानियों में फंसे दिखाई पड़ते हैं तो उनके व्यक्तित्व का दूसरा पक्ष सामाजिक-राष्ट्रीय उत्थान के लिए संकल्पबद्ध नज़र आता है। चरित्र चित्रण के लिए लेखक ने जो शैली अपनाई है उसमें प्रेमचंद के लंबे-लंबे वक्तव्यों के उद्धरण हैं और बीच-बीच में उनपर लेखक की अपनी टिप्पणियाँ हैं। प्रस्तुत अध्याय में अनेक मुद्दों पर जैसे कि पूँजीवाद, साम्प्रदायिकता, साहित्यिक गुटबाज़ी, साहित्य में अर्थ के हस्तक्षेप आदि पर प्रेमचंद के विचार संकलित हैं। इन सबमें प्रेमचंद के बहु-आयामी व्यक्तित्व की झलक मिलती है। लंबे उद्धरण होने से लेखक का अपना हस्तक्षेप बहुत सीमित हो गया है। सवाल यह है कि क्या यह पद्धति जीवनी की सरसता को बाधित करती है? इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि ऐसा जीवनी की प्रामाणिकता और विश्वसनीयता को बढ़ाने के लिए किया गया है। इससे, पूरी जीवनी में

प्रेमचंद की मौजूदगी का अहसास भी बढ़ा है और बीच-बीच में जहाँ लेखक की टिप्पणियाँ हैं वे अत्यंत सशक्त हैं जैसे बनारसीदास चतुर्वेदी के प्रसंग में जहाँ प्रेमचंद ने 'साहित्यिक गुंडापन' का पर्दाफाश करते हुए व्यावसायिकता के लिए सनसनी पैदा करने की पद्धति से बचने का आग्रह किया है। अमृतराय लिखते हैं - 'चतुर्वेदी जी शायद खुद भी अपनी वकालत इतने ज़ोरदार शब्दों में न कर पाते। मैदान में उतरने पर मुंशी जी फिर सुध-बुध खोकर लड़ते हैं, न आगे देखते हैं न पीछे।'

अमृतराय ने प्रेमचंद का व्यक्तित्वांकन इस रूप में किया है कि उसके माध्यम से युगीन अभिव्यक्ति भी सस्वर हो गई है। वस्तुतः इस जीवनी में व्यक्ति और युग का अद्‌भुत समन्वय जीवनी की रचना प्रक्रिया में पूर्णतः अनुस्यूत है। प्रेमचंद द्वारा ब्राह्मणवाद के खण्डन के प्रसंगों में लेखक यह स्पष्ट कर पाया है कि बदलते समय में सामाजिक समीकरणों के बदलने पर भी शोषण का रूप नहीं बदला। प्रेमचंद का विरोध उन टकेपंथी ब्राह्मणों से है जो अपने प्राचीन अधिकारों के दम पर एक बड़े वर्ग को साधन और सुविधाओं से वंचित किए हुए है। अमृतराय टिप्पणी करते हैं - 'मुंशी जी की लड़ाई उनके इसी धर्म - उपजीवी, धर्म व्यवसायी रूप से है, ब्राह्मण जाति से लड़ाई करके क्या होगा।'

अमृतराय ने इस जीवनी की रचना एक विस्तृत फलक पर की है। इसीलिए उन्हें सामग्री संकलन के लिए भी कठोर परिश्रम करना पड़ा है। वस्तुतः एक ही अध्याय में प्रेमचंद के व्यक्तित्व के कितने पक्ष उजागर हुए हैं यह लेखक के श्रम का प्रमाण है। उनके पत्रों, संपादकीय टिप्पणियों और कहानी के साक्ष्य से प्रेमचंद की एक समग्र छवि उभारने में अमृतराय सफल रहे हैं।

कलम का सिपाही की सफलता का बहुत बड़ा श्रेय इसकी भाषा को भी है। डॉ.बच्चन सिंह ने लिखा है - 'भाषा और शैली तो लेखक को प्रेमचंद से विरासत में मिली है। सारी जीवनी अद्‌भुत प्रवाहमयता से युक्त है। यह लेखक की महत्वपूर्ण उपलब्धि है। जीवनी साहित्य के लिए उसने भाषा का नया आदर्श प्रस्तुत किया है।' (डॉ. बच्चन सिंह - कलम का सिपाही : एक युग का संदर्भ; संपा. मन्मथनाथ गुप्त - समसामयिक हिंदी साहित्य, पृ.193)

वस्तुतः पूरी जीवनी में प्रेमचंद के लंबे-लंबे उद्धरण दिए गए हैं। अतः जीवनी में प्रेमचंद और अमृतराय दोनों के ही भाषाधिकार का परिचय मिलता है। प्रेमचंद की भाषा भावाविष्ट भाषा है, उनकी तुलना में अमृतराय ने अधिक संयम का परिचय दिया है। मुख्यतः प्रेमचंद को प्रेमचंद के ही शब्दों में चित्रित किया गया है लेकिन जहाँ बीच में रुककर लेखक ने अपनी टिप्पणी की है वहाँ उसके शब्द चयन और वाक्य विन्यास उसकी भाषा की प्रौढ़ता के सूचक हैं। अमृतराय में कम शब्दों में अधिक कहने की सामर्थ्य है। सरसता, रोचकता और प्रवाह के गुण उनकी भाषा में सहज ही समाविष्ट हो गए हैं :

'मुंशी जी इस हमले से सिटपिटा जाने वाले आसामी नहीं है।'

x x x x x

'मुंशी जी ने शेर की तरह दहाड़ते हुए फौरन 'जागरण' में जवाब दिया..'

x x x x x

'किसान की सरलता है तो कहीं उसी किसान का घाघपन भी है। निरे भोंदू नहीं हैं मुंशी जी!'

कलम का सिपाही को प्रशंसनीय कथोपलब्धि मानते हुए शिवप्रसाद सिंह लिखते हैं - **कलम का सिपाही** अमृतराय की प्रशंसनीय कथोपलब्धि मानी जाएगी। यह अद्‌भुत किस्सागोई और षट्‌रस ज़बान किसी को भी एक बार अपनी लपेट में ले लेगी, इसमें तनिक भी संदेह नहीं।' (शिवप्रसाद सिंह : 'एक व्यक्ति : एक युग', संपा. देवीशंकर अवस्थी, विवेक के रंग, पृ.417)

8.7 'कलम का सिपाही' का मूल्यांकन

जीवनी व्यक्ति-जीवन और युग सत्य के समंजन से निःसृत एक अनूठी विधा है और जब यह जीवनी एक साहित्यकार की होती है तब उसे एक ओर आयाम मिल जाता है। उसमें लेखक की रचना-प्रक्रिया भी स्पष्ट होने लगती है। प्रेमचंद की जीवनी **'कलम का सिपाही'** इस दृष्टि से उनके जीवन के सभी पक्षों को प्रस्तुत करने वाला दस्तावेज़ है। शिवप्रसाद सिंह मानते हैं - 'यह जीवनी एक प्रकार से हिंदी के आधुनिक युग के आरंभ का ज्ञानकोश बन गई है। इसके माध्यम से अनेक समस्याएँ - राजनीतिक, सामाजिक, साहित्यिक जो हमारे देश के इतिहास का अंग बन गई हैं, नए सिरे से एक व्यक्ति का संदर्भ बनकर उठी हैं और ये 'प्रेमचंद व्यक्ति' को समझने में सहायक हुई हैं। उनसे हमारे साहित्य पर एक नया प्रकाश पड़ा है।' (शिवप्रसाद सिंह : 'एक व्यक्ति : एक युग', संपा. देवीशंकर अवस्थी, विवेक के रंग, पृ.417)

प्रेमचंद पर तीन जीवनियाँ लिखी गई हैं। उनकी पत्नी शिवरानी देवी ने **'प्रेमचंद : घर में'** शीर्षक से उनके जीवन प्रसंगों का संयोजन किया। श्री मदन गोपाल ने **'कलम का मज़दूर'** लिखकर प्रेमचंद के जीवन और साहित्य पर प्रकाश डाला। कलम का सिपाही इन दोनों जीवनियों से भिन्न है। उसमें रचनात्मक साहित्य जैसी सरसता और प्रवाह है। साथ ही, प्रेमचंद के बहु-आयामी व्यक्तित्व को उनके युग और साहित्य के परिप्रेक्ष्य में रखकर देखा गया है। जीवनी के लेखक के लिए उन शक्तियों की पहचान करना आवश्यक है जो उसके चरित नायक के जीवन को गढ़ती है। इस दृष्टि से अमृतराय द्वारा लिखित **'प्रेमचंद : कलम का सिपाही'** हिंदी जीवनी साहित्य को उनका प्रशंसनीय योगदान है। हिंदी साहित्य में प्रेमचंद एक ऐसा नाम है जिसे किसी परिचय की अपेक्षा नहीं। उनका साहित्य सोद्देश्य साहित्य है।

वस्तुतः पुनर्जागरण के उस दौर में प्रेमचंद के लिए साहित्य एक अस्त्र है - राजनीतिक-सामाजिक परिवर्तन को संभव बनाने का। इसीलिए उनके द्वारा लिए गए प्रत्येक शब्द, प्रत्येक पंक्ति में उनका वैचारिक संघर्ष प्रतिध्वनित होता है। प्रेमचंद ने न केवल अपने साहित्य में तत्कालीन युग यथार्थ की संश्लिष्ट अभिव्यक्ति की है अपितु उस युग यथार्थ को निर्मित करने में एक सक्रिय भूमिका भी निभाई है। अमृतराय ने प्रस्तुत जीवनी में उनके इसी स्वरूप को उभारने का प्रयत्न किया है।

यह जीवनी एक पुत्र द्वारा लिखी गई अपने पिता की जीवनी है। अतः प्रेमचंद के निजी जीवन से उनका घनिष्ठ संबंध है। लेकिन अमृतराय ने प्रेमचंद का व्यक्तित्वांकन केवल उस घर के दायरे में रखकर नहीं किया। हर प्रकार की अतिरेकी दृष्टि से बचते हुए पूर्ण तटस्थता के साथ लेखक ने अपने चरित-नायक को उसके साहित्य और परिवेश के समस्त संदर्भों के बीच एक क्रांतिदर्शी विचारक, संघर्षशील चेतना के अग्रदूत, परिवर्तन कामी शक्तियों के पक्षधर के रूप में चित्रित किया है। यही इस जीवनी की सबसे बड़ी विशेषता है।

8.8 सारांश

जीवनी - व्यक्ति के जीवन और व्यक्तित्व को समग्रतः अभिव्यक्त करने वाली गद्य की महत्वपूर्ण विधा है। जीवनी के केंद्र में चरित नायक का जीवन एवं चरित्र, युग और पृष्ठभूमि सबका विशिष्ट कलात्मक समंजन रहता है। तथ्यपरकता तथा जीवनगत सत्य जीवनी के लिए जितने आवश्यक हैं उतनी ही अनिवार्यता उन अंतःप्रेरणाओं की है जिनसे चरित-नायक का विशिष्ट व्यक्तित्व निर्मित होता है। चरित-नायक के चयन में यह दृष्टि महत्वपूर्ण रहती है कि चरित-नायक कोई विशिष्ट व्यक्ति हो जिसका चरित्र समाज के लिए प्रेरक एवं व्यक्तित्व आकर्षक हो लेकिन आधुनिक युग में यह भावना भी दृढ़ हुई है कि अति-सामान्य जन-साधारण भी जीवनी का चरित-नायक हो सकता है। ऐसे लोगों की जीवनी तत्कालीन समाज व्यवस्था

तथा उसमें निहित मानव मूल्यों की स्थिति को अनावृत्त करने वाली होती है। सामग्री संकलन जीवनी लेखन का एक महत्वपूर्ण चरण है। एक प्रामाणिक जीवनी के लिए जीवनी लेखक विभिन्न स्रोतों - जैसे कि चरितनायक की आत्मकथा, डायरी, पत्र, उसके द्वारा लिखा गया साहित्य, उसकी वक्तृताएँ आदि से सामग्री संकलन करता है। तथ्य संकलन जहाँ जीवनी को प्रामाणिक एवं विश्वसनीय बनाता है, वहीं अनुभूति और कल्पना का प्रयोग चरितनायक के चरित्रांकन में प्राण-प्रतिष्ठा करता है। चरितनायक के भावलोक और विचार-क्षेत्र को साकार करने के लिए जीवनीकार तत्कालीन राजनीतिक-सामाजिक परिवेश के परिप्रेक्ष्य में चरितनायक के व्यक्तित्व को उभारता है। एक सजीव जीवनी के लिए लेखक की दृष्टि का तटस्थ एवं निष्पक्षतापूर्ण होना परमावश्यक है।

जीवनी की परंपरा साहित्य के आदिकाल से ही चली आई है। आदिकालीन वीर काव्य, भक्तिकाल में 'परचई साहित्य' एवं 'वार्ता साहित्य' क्रमशः राजा-महाराजाओं एवं भक्तों के जीवन चरित पर ही आधारित है। उत्तर-मध्यकाल में भी चरित लेखन की परंपरा बनी रही लेकिन यह समस्त साहित्य जीवनी की पूर्व परंपरा के रूप में ही महत्व रखता है अन्यथा इसमें तथ्यपरकता एवं ऐतिहासिकता का सर्वथा अभाव रहा। आधुनिक युग में भारतेंदु, मुंशी देवी प्रसाद, कार्तिक प्रसाद खत्री, काशीनाथ खत्री, महावीर प्रसाद द्विवेदी, बनारसीदास चतुर्वेदी आदि ने जीवनी रचना को अधिक प्रामाणिक एवं सरस बनाया। स्वातंत्र्योत्तर युग में ही जीवनी साहित्य अपने पूर्ण उत्कर्ष पर पहुँचा। चरित नायक के प्रति श्रद्धापरक दृष्टिकोण के स्थान पर रचनाकारों ने तटस्थ दृष्टि से अपने चरित-नायक के गुण-दोषमय चरित्र का सजीव अंकन किया।

अमृतराय द्वारा लिखित जीवनी **प्रेमचंद : कलम का सिपाही** जीवनी साहित्य की अन्यतम उपलब्धि है। प्रेमचंद जैसे युग-प्रवर्तक साहित्य सर्जक वैचारिक भावात्मक विकास को लेखक ने तत्कालीन परिवेश के संदर्भ में ही प्रस्तुत किया है। युग जीवन के साथ-साथ पारिवारिक प्रसंगों, मित्रों को लिखे गए पत्रों आदि के हवाल से अमृतराय ने प्रेमचंद के अंतःसंघर्षों, मानसिक उथल-पुथल, आशाओं-निराशाओं को समग्र अभिव्यक्ति दी है। सामग्री संकलन के लिए लेखक को विशेष प्रयास करने पड़े हैं।

अध्याय 32 प्रस्तुत जीवनी की प्रातिनिधिक झलक प्रस्तुत करने में सक्षम है। इसमें गार्हस्थिक प्रसंगों के साथ-साथ युग के ज्वलंत प्रश्नों जैसे साम्प्रदायिकता, पूँजीवाद आदि पर प्रेमचंद के प्रगतिशील विचारों की झलक मिलती है। साथ ही, साहित्यिक जीवन के विवादों और साहित्य में अर्थ के हस्तक्षेप से जो 'साहित्यिक गुंडापन' पैदा हुआ प्रेमचंद उसका कड़ा विरोध करते दिखाई देते हैं। प्रस्तुत अध्याय प्रेमचंद के युगद्रष्टा, जीवट भरे व्यक्तित्व को प्रस्तुत करने में समर्थ है। प्रतिकूल परिस्थितियों में उनकी संघर्षशील जिजीविषा उन्हें डटे रहकर जूझने को बाध्य करती है।

अमृतराय ने प्रेमचंद की संपादकीय टिप्पणियों, पत्रों तथा सृजनात्मक साहित्य से लंबे-लंबे उद्धरण देते हुए उनके बहु-आयामी व्यक्तित्व को सजीव किया है। बीच-बीच में लेखक की अपनी तटस्थ एवं निष्पक्ष टिप्पणियाँ हैं। इस शैली से जहाँ एक ओर संवेदनात्मक घनत्व आया है वहीं शिल्प की विशिष्टता भी स्थापित हुई है। शिल्प के स्तर पर अमृतराय की शैली प्रौढ़ एवं प्रभावाभिव्यंजक है। उनके चरित्र चित्रण की पद्धति सजीव एवं आकर्षक है। उसमें कथात्मकता की सरसता तथा प्रवाह है।

भाषा पर अमृतराय का अद्वितीय अधिकार है। वे शब्दों के धनी हैं और उनके वाक्य-विन्यास में एक कसावट है। उनमें कम शब्दों में अधिक कहने की सामर्थ्य है।

निष्कर्षतः यह जीवनी हिंदी साहित्य को अमृतराय की एक विशिष्ट देन है।

अभ्यास

1. 'हिंदी जीवनी साहित्य में **कलम का सिपाही** एक महत्वपूर्ण उपलब्धि है।' इस कथन की समीक्षा कीजिए।
2. '**कलम का सिपाही** में व्यक्ति और युग का अनूठा संयोजन हुआ हैं।' इस कथन के आलोक में प्रस्तुत कृति का मूल्यांकन कीजिए।
3. **कलम का सिपाही** की शिल्पगत विशेषताओं का पठित अंश के आधार पर विवेचन कीजिए।

इकाई 9 आत्मकथा : क्या भूलूँ क्या याद करूँ

इकाई की रूपरेखा

9.0 उद्देश्य
9.1 प्रस्तावना
9.2 आत्मकथा के रूप में **क्या भूलूँ क्या याद करूँ**
9.3 **क्या भूलूँ क्या याद करूँ** की अंतर्वस्तु
9.4 **क्या भूलूँ क्या याद करूँ** में लेखक के विचार
9.5 **क्या भूलूँ क्या याद करूँ** का संरचना शिल्प
9.6 **क्या भूलूँ क्या याद करूँ** का महत्व और उपयोगिता
9.7 सारांश

9.0 उद्देश्य

गद्य की महत्वपूर्ण विधा आत्मकथा पर पाठ्यक्रम की इस तेईसवीं इकाई में आप हरिवंश राय बच्चन की चार भागों में स्वतंत्र रूप से प्रकाशित आत्मकथा के प्रथम भाग **क्या भूलूँ क्या याद करूँ** का अध्ययन करेंगे। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप :

- आत्मकथात्मक कृति के रूप में क्या **भूलूँ क्या याद करूँ** को पढ़ने की ज़रूरत और महत्व को समझ पाएँगे,
- **क्या भूलूँ क्या याद करूँ** की अंतर्वस्तु की विशेषताएँ बता पाएँगे,
- **क्या भूलूँ क्या याद करूँ** में व्यक्त लेखक के विचार को समझ पाएँगे, और
- आत्मकथा की परंपरा में **क्या भूलूँ क्या याद करूँ** के महत्व और उपयोगिता को स्पष्ट कर सकेंगे।

9.1 प्रस्तावना

'नाटक और अन्य गद्य विधाएँ' नामक पाठ्यक्रम के पाँचवें खंड की यह अंतिम इकाई है। इससे पहले आप रेखाचित्र, संस्मरण और जीवनी विधाओं का अध्ययन कर चुके हैं। हिंदी गद्य की नवीन विधाओं में आत्मकथा का महत्वपूर्ण स्थान है। पाठ्यक्रम की इस तेईसवीं इकाई में आप हरिवंश राय बच्चन की आत्मकथा **क्या भूलूँ क्या याद करूँ** के एक अंश का अध्ययन करने जा रहे हैं।

हिंदी आत्मकथा के इतिहास में **क्या भूलूँ क्या याद करूँ** का विशेष महत्व है। साहित्य में बच्चन की पहचान 'मधुशाला' के कवि के रूप में अधिक है और इस बात की बार-बार चर्चा होती है कि इसकी रचना की प्रेरणा उन्हें उमर खैय्याम की रूबाइयों के साथ-साथ वास्तविक जीवन की उन घटनाओं से भी मिली थी जिसे उन्होंने भोगा और महसूस किया था। वे घटनाएँ क्या हैं और उनका लेखक के जीवन से क्या संबंध है - इसकी जानकारी इस आत्मकथा के सिवाय किसी अन्य कृति में प्राप्त नहीं हो सकती। **क्या भूलूँ क्या याद करूँ** में बच्चन ने निःसंकोच भाव से अपने जीवन की उन घटनाओं और प्रसंगों का उल्लेख किया है जिनका गहरा संबंध उनके लेखन और व्यक्तित्व के विकास से रहा है। इसमें उनकी जाति, परिवार, शिक्षा, परिवेश और मित्रों की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। इस अध्ययन मे हम देखेंगे कि लेखक किस प्रकार अपनी निजता को सार्वजनिक करता है और चेतन-अचेतन अवस्था में अपने मस्तिष्क के ऊपर पड़ने वाले प्रभावों का तटस्थ होकर आकलन करता है।

आत्मकथा लेखन की अपनी एक विशिष्ट प्रक्रिया होती है। बिना तटस्थता, आत्मालोचन और जीवन की कथा को युगीन संदर्भों से जोड़े - कोई भी आत्मकथा प्रभावशाली नहीं हो सकती है। इनके अतिरिक्त लेखन की विशिष्ट शैली आत्मकथा को पठनीय बनाती है। **क्या भूलूँ क्या याद करूँ** की संरचना पर विचार करते हुए हम इसकी लेखन शैली का आकलन भी करेंगे। यहां हम यह भी देखेंगे कि आत्मकथा की रचना में लेखक ने जातीय, पारिवारिक और सामाजिक संदर्भों का उपयोग किस प्रकार किया है।

किसी भी कृति की रचना में लेखक के विचारों की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। यह एक तरह से लेखक की सामाजिक दृष्टि और रचना के स्थायी होने का प्रमाण भी होती है। **क्या भूलूँ क्या याद करूँ** में लेखक ने व्यक्ति, समाज, धर्म, दर्शन, लेखन आदि से जुड़े अनेक मुद्दों पर गंभीरता से विचार किया है। इस अध्ययन में हम देखेंगे कि किस प्रकार ये विचार आत्मकथा में उन प्रसंगों और घटनाओं को स्थायी महत्व का बना देते हैं, जिसे लेखक महत्वपूर्ण मानता है तथा पाठकों का ध्यान उस और आकर्षित करना चाहता है।

वस्तुतः साहित्य की परंपरा और मनुष्य समाज की जिंदगी में प्रत्येक रचना की अपनी एक अलग महत्ता और उपयोगिता होती है। **क्या भूलूँ क्या याद करूँ** की चर्चा करते हुए हम इस बात पर विचार करेंगे कि आत्मकथा और हिंदी की परंपरा में इस कृति का क्या महत्व साहित्य रहा है।

ये कुछ ऐसे प्रसंग और बिंदु है जिन पर हम इस इकाई में अलग-अलग विचार करेंगे।

9.2 आत्मकथा के रूप में 'क्या भूलूँ क्या याद करूँ'

क्या भूलूँ क्या याद करूँ हिंदी की सर्वाधिक चर्चित आत्मकथाओं में से एक है। कृति के शीर्षक से स्पष्ट पता चलता है कि लेखक के निजी और सार्वजनिक जीवन में ऐसी घटनाएँ घटित हुई होगी, जिनका उल्लेख वह यहां करना चाहता है। पर किनका करें, किनका नहीं - तय नहीं कर पाता है। बावजूद इसके, असमंजस की स्थिति से वह मुक्त होता है और इस कृति में उन घटनाओं, प्रसंगों और स्थितियों का उल्लेख करता है, जिनका गहरा संबंध उसकी प्रारंभिक ज़िंदगी से रहा है और एक समय जिसने उसके जीवन की दशा और दिशा - दोनों को पूरी तरह से बदल दिया था। बच्चन के जिस कवि व्यक्तित्व से आज पूरा हिंदी संसार परिचित है - उसका स्रोत इस आत्मकथात्मक कृति में आसानी से ढूँढ़ा जा सकता है। इसलिए इस आत्मकथात्मक कृति को पढ़ने का अर्थ एक रचना का आस्वादन करना ही नहीं है, बल्कि उन मार्मिक स्थितियों से गुजरना भी है जिसके कारण बच्चन के रचनात्मक व्यक्तित्व का निर्माण और विकास होता है और 'मधुशाला', 'मधुबाला', 'निशा निमंत्रण' जैसी काव्य-कतियाँ रची जाती हैं। **क्या भूलूँ क्या याद करूँ** स्पष्टतः बतलाती है कि इसे पढ़ने का अर्थ लेखक के बचपन से लेकर पहली पत्नी श्यामा की मृत्यु तक के जीवन क्रम को जानना ही नहीं, अपितु उस समय के समाज को समझना भी है, जब भारत में जातिवादी और धार्मिक संस्थाएँ मज़बूत थीं, सामाजिक ज़िंदगी में उनका बोलबाला था और तत्कालीन ब्रिटिश साम्राज्यवाद उनके सहयोग से शासन और दमन के रास्ते पर बढ़ रहा था। इन बातों का संकेत जगह-जगह इस कृति में मिल जाएगा।

वस्तुतः प्रत्येक बड़ी रचना का अपना एक सच होता है। अधिकांशतः इस सत्य का दर्शन रचना की अंतर्वस्तु में निहित होता है। **'क्या भूलूँ क्या याद करूँ'** को पढ़ते हुए बार-बार इस बात का एहसास होता है कि बच्चन अपने जीवन की जिन सच्चाइयों से पाठक समाज को परिचित कराना चाहते हैं, वे उनकी ज़रूर है पर उनका गहरा संबंध तत्कालीन युगीन परिवेश से रहा है तथा वे सच्चाइयाँ ऐसी नहीं हैं कि व्यर्थ का प्रचार करें। नायब साहब, राधा बुआ, बाबा

भोलानाथ, पिता प्रतापनायण, पत्नी श्यामा, मित्र कर्कल चंपा-प्रकाशों - श्रीकृष्ण आदि की ज़िंदगी की सच्चाइयों का गहरा संबंध लेखक के जीवन और युगीन परिवेश से रहा है, पर उनको लेकर वह आत्मालोचन अधिक करता है, प्रचार कम। इतना ही नहीं उनको लेकर उसके अंदर भावुकता नहीं है बल्कि, वह मानता है कि प्रत्येक व्यक्ति के जीवन के कुछ मार्मिक प्रसंग होते हैं, जिन्हें लेकर वे अपनी ज़िंदगी की एक दिशा तय कर लेते हैं। इस आत्मकथा को पढ़ते हुए इसके पात्रों की ज़िंदगी में आए निर्णायक क्षण से 'सच' को समझा जा सकता है। जिस 'संयम के विस्फोट' की चर्चा लेखक बार-बार इस कृति में करता है, वह उसकी ज़िंदगी की एक सच्चाई है जिसे वह पहली पत्नी श्यामा की बीमारी के चलते शारीरिक स्तर पर दूर रहने के कारण प्राप्त करता है। अगर बच्चन ने यह आत्मकथा नहीं लिखी होती तो शायद ही हम उनके जीवन की इस सच्चाई से परिचित हो पाते और 'मधुशाला' में व्यक्त प्रेम और विरह का रहस्य समझ पाते। पहले संस्करण की भूमिका में उन्होंने लिखा भी है कि "मुझे कई वर्षों से लग रहा था कि जब तक मैं अपने अंतर में निरंतर उठती स्मृतियों को चित्रित न कर डालूँगा तब तक मेरा मन शांत नहीं होगा।"

वास्तव में **क्या भूलूँ क्या याद करूँ** को पढ़ने का अर्थ है 'मधुशाला' के कवि हरिवंशराय बच्चन की प्रारंभिक ज़िंदगी को नजदीक से देखना, उसे महसूस करना, समझना और उस भारतीय समय तथा समाज को जानना, जब जातीय और धार्मिक संस्थाओं का विकास जोरों पर था एवं स्वाधीनता आंदोलन गांधीवाद तथा क्रांतिकारी गतिविधियों के बीच से नया मार्ग ढूंढ़ रहा था। यद्यपि इस कृति में इनका व्यापक वर्णन नहीं है और न ही विधा तथा लेखक की जिंदगी को देखते हुए उसकी ज़रूरत भी है, पर जगह-गह अनेक ऐसे संकेत हैं जो इस बात का प्रमाण प्रस्तुत करते हैं।

9.3 'क्या भूलूँ क्या याद करूँ' की अंतर्वस्तु

कृति को महत्वपूर्ण बनाने में विषयवस्तु की विशेष भूमिका होती है। एक तरह से यह रचना में व्यक्त जीवन और लेखक के अनुभव तथा दृष्टि की वास्तविकता एवं व्यापकता का प्रमाण भी प्रस्तुत करती है। आत्मकथा में यह विषयवस्तु लेखक की निजी ज़िंदगी और अनुभव पर आकर केंद्रित हो जाती है, पर उसका गहरा संबंध उसके चरित्र के विकास से संबंधित स्थितियों एवं घटनाओं से होता है। **'क्या भूलूँ क्या याद करूँ'** के प्रारंभ में बच्चन ने प्रसिद्ध फ्रांसीसी लेखक मानतेन की पंक्तियों को उद्धृत करते हुए लिखा है कि "मैं स्वयं अपनी पुस्तक का विषय हूँ, मैं अपने गुण-दोष जग-जीवन के सम्मुख रखने जा रहा हूँ, पर ऐसी स्वाभाविक शैली में जो लोक-शील से मर्यादित हो।"

स्पष्टतः मानतेन की इन पंक्तियों के माध्यम से बच्चन ने अपनी पुस्तक की विषयवस्तु को जाहिर कर दिया है। पर इस प्रथम भाग में वे अपने संपूर्ण जीवन की चर्चा न करके केवल कायस्थ जाति, परिवार की परंपरा, जन्म, शिक्षा और जीवन संघर्ष से लेकर प्रथम पत्नी श्यामा की मृत्यु तक की घटनाओं का चित्रण करते हैं। बाद का जीवन उन्होंने आत्मकथा के अन्य भागों में अभिव्यक्त किया है। पर हमारे लिए यहाँ यह देखना महत्वपूर्ण होगा कि अपने जीवन की इस कथा को लेखक ने रचना की अंतर्वस्तु के रूप में किस प्रयोजन और आकांक्षा के साथ विकसित किया है। उसकी अभिव्यक्ति का स्वर और संदर्भ किस प्रकार का है तथा चेतना और विचार के स्तर पर वह किस तरह पाठकों के सामने अपने आपको रखते हैं।

भारतीय समाज में जाति की भूमिका के नकारात्मक पहलुओं को लेखक ने कई प्रसंगों द्वारा उजागर किया है। इसी में से एक घटना पठित अंश में भी है। कायस्थ विधवा स्त्री जिसे अपने जीवन यापन क लिए विजातीय व्यक्ति से संबंध जोड़ना पड़ा, उसे अपनी बेटी के विवाह पर कायस्थों का बहिष्कार भी झेलना पड़ा। लेकिन बच्चन और उन जैसे प्रगतिशील युवक उस

विवाह में शामिल होते हैं। यह और बात है कि इस कारण खुद लेखक के परिवार को बहिष्कार का सामना करना पड़ता है।

क्या भूलूँ क्या याद करूँ में लेखक ने अपने जन्म और परिवार से जुड़े उन प्रसंगों और घटनाओं का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है जो उसके व्यक्तित्व निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि एक व्यक्ति के विकास और उसके सर्जनात्मक व्यक्तित्व के निर्माण में किस प्रकार परिवार और उसकी परंपराएँ सार्थक भूमिका निभाती है, इसे विवेच्य आत्मकथा को पढ़कर समझा जा सकता है।

वास्तव में प्रत्येक परिवार की कुछ निजी विशेषताएँ और परंपराएँ होती हैं जिनका गहरा असर उनकी आने वाली संतानों पर पड़ता है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि बच्चन के रचनात्मक व्यक्तित्व के निर्माण, विकास और समाजीकरण में उनके परिवार की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। खासकर परिवार के सदस्यों का व्यक्तित्व, जीवन-शैली और धार्मिक मान्यताओं तथा परंपराओं का गहरा असर उनके बालमन पर पड़ा है और इसी अवस्था में उनकी मानसिकता का निर्माण होता है। **क्या भूलूँ क्या याद करूँ** को पढ़ते हुए बच्चन के व्यक्तित्व निर्माण में परिवार की इस भूमिका के महत्व को स्पष्टतः देखा जा सकता है। कई बार तो लगता है कि उनके रचनात्मक व्यक्तित्व के निर्माण में भी समाज और राष्ट्र से अधिक उनके परिवार और उसकी परंपराओं की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। यद्यपि इसमें मित्र भी निर्णायक भूमिका निभाते हैं, पर परिवार उसे व्यवस्थित करता है और उसे आगे बढ़ने की प्रेरणा और संबल भी देता है। बच्चन के जीवन में शिक्षकों और शिक्षा संस्थाओं की भी महत्वपूर्ण भूमिका रही हैं जिनका उल्लेख उन्होंने विस्तार से किया है। पठित अंश में आपने उन शिक्षा संस्थाओं के बारे में पढ़ा है जिसमें अध्यापक के रूप में उन्होंने काम किया था।

हरिवंशराय बच्चन की इस आत्मकथा में संघर्ष का सर्वाधिक महत्वपूर्ण पक्ष है अस्तित्व रक्षा के लिए किया गया प्रयास। यह प्रयास एक तरफ जहाँ युगीन परिवेश को पूरी तल्खी के साथ चित्रित करता है, वहाँ दूसरी तरफ यह भी दिखलाता है कि किस प्रकार सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक और राजनीतिक विसंगतियों से आत्मकथा का नायक टकराता है, उनसे जूझता है और फिर मुक्त होकर आगे बढ़ जाता है। इसमें उसके परिवार की वे सारी घटनाएँ और परंपराएँ महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है जो उसे नैतिक रूप से मज़बूत बनाती हैं और विपरीत परिस्थितियों में सही काम करने की प्रेरणा देती हैं। खासकर पढ़ाई और बाद में पत्नी तथा बीमारी के दौरान किया गया उसका आर्थिक संघर्ष अत्यंत दारुण है। सुबह-शाम ट्यूशन से लेकर वह 'चाँद' पत्रिका में नौकरी जहाँ से महीने भर बाद बिना तनख्वाह दिए बाहर निकाल दिया जाता है। स्कूल अध्यापकी में भी व्यवस्था की बेईमानी का शिकार होता है और पच्चीस रुपये की जगह पैंसठ पर हस्ताक्षर करता है। यह काम देश भक्ति के नाम पर कराया जाता है। तत्कालीन शिक्षा संस्थानों में इस प्रकार के भ्रष्टाचार किस तरह शैक्षणिक माहौल और शिक्षकों को शिक्षण के प्रति उदासीन बनाने में सक्रिय भूमिका निभाते थे, इसका अंदाज़ा इन प्रसंगों से लगाया जा सकता है।

लेखक ने अपने लेखन के आरंभिक प्रयासों का भी मार्मिक विवरण प्रस्तुत किया है। अपनी पहली पुस्तक का प्रकाशन उसके लिए कितना आह्लादकारी था, यह हम पढ़कर महसूस कर सकते हैं। यहाँ बच्चन ने कहानीकार और कवि में से चुनने के प्रसग का भी वर्णन किया है। इस संदर्भ में बच्चन का यह कथन द्रष्टव्य है : 'जीवन की ऐसी आकस्मिक घटनाएँ ही वास्तव में जीवन को दिशा देती हैं, और जिसे हम 'नियति' का गंभीर-सा नाम देते हैं वह शायद बहुत नगण्य-सी लगने वाली घटनाओं से अपने बड़े-बड़े लक्ष्य प्राप्त करती रहती है।' यद्यपि 1933 में सुषमा निकुंज प्रकाशन द्वारा खुद 'मधुशाला' के प्रकाशन के बाद घर की आर्थिक स्थिति में कुछ सुधार होता है, पर उन दिनों के आर्थिक संघर्ष की भयानकता का अंदाजा निम्नलिखित पंक्तियों से लगाया जा सकता है : 'रात को खाना बनाने के बाद पढ़ाने जाता और ग्यारह बजे

रात के करीब लौटता - कीटगंज से मुट्ठीगंज तक की सुनसान सड़कों पर 'खचर , 'खचर' साइकिल चलाता, जाड़ों में ठिठुरता। उन दिनों की अपनी मेहनत-मशक्कत, अपने मन के तनाव, दिमाग़ के खिंचाव की याद करता हूँ तो लगता है कि मैं कोई दैत्य ही रहा हूँगा जो यह सब झेलता-ठेलता हूँगा।"

बच्चन की आत्मकथा में संघर्ष का सर्वाधिक म्हत्वपूर्ण पक्ष है देश की ब्रिटिश साम्राज्यवाद से मुक्ति की आकांक्षा और इसके लिए व्यक्तिगत तथा रचनात्मक स्तर पर किया गया प्रयास। इस कृति में तत्कालीन भारत की जिन राजमीतिक गतिविधियों का संकेत और चित्रण मिलता है उनमें भारतीयों पर अंग्रेज़ों का अत्याचार, गदर में बाबा भोलानाथ के घायल होने की चर्चा, गाँधी और उनके राष्ट्रीय स्वाधीनता आंदोलन, क्रांतिकारियों के साथ सहयोग, प्रथम विश्व-युद्ध का उल्लेख, बाल गंगाधर तिलक की चर्चा आदि प्रमुख है। देश के राजनीतिक परिवेश में हो रहे इन संघर्षों से लेखक किसी-न-किसी रूप में अपने आपको जोड़ता है और मानता है कि इनमें सक्रिय हिस्सेदारी न निभाने के बावजूद उसकी उपस्थिति किसी-न-किसी रूप में महत्वपूर्ण रही है।

गांधीजी की उपस्थिति में स्वरचित गीत "सर जाए तो जाए, पर हिंद आजादी पाए" का हजारों की उपस्थिति में श्यामा कुमारी नेहरू द्वारा लोगों से गँवाना आदि इसी स्वाधीनता आंदोलन के हिस्से हैं। गांधी जी के प्रभाव में आकर स्वाधीनता आंदोलन में अपनी भागीदारी की चर्चा करते हुए आत्मकथाकार ने लिखा है कि "मैं आंदोलन में सक्रिय भाग लेने की स्थिति में न था, जुलूसों में नारे लगाता, सभाओं में शामिल होता। घर में चर्खा-चलाता, जमुना पार गाँवों में जाकर व्याख्यान देता। कुछ रचनात्मक कार्य करने को भी मैंने सोचा- हम खद्दर का प्रचार करेंगे।" इसी प्रकार श्रीकृष्ण और उसके सहयोगियों तथा अन्य क्रांतिकारियों में सुखदेवराज, चंद्रशेखर आजाद, दुर्गा भाभी, प्रकाशवती पाल आदि को लेखक द्वारा अपने घर में आश्रय देना - उसके राजनीतिक संघर्ष का ही एक हिस्सा है। तत्कालीन सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक और राजनीतिक संघर्ष के ये कुछ ऐसे चित्र हैं जिनका मार्मिक चित्रण इस कृति में दिखलाई पड़ता है।

किसी भी मनुष्य के संघर्ष और निर्माण में कुछ लोगों की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। **क्या भूलूँ क्या याद करूँ** में आत्मकथाकार ने परिवार के अलावा अनेक ऐसे लोगों का उल्लेख और वर्णन किया है जो उसके संघर्ष, निर्माण और विकास के साथी और सहयोगी रहे हैं। इन व्यक्तियों में एक तरफ जहाँ उनके मित्र, अध्यापक और रचनाकार साथी रहे हैं, वहीं दूसरी तरफ कुछ ऐसे व्यक्ति भी रहे हैं जिनके नकारात्मक और सकारात्मक व्यवहार के कारण लेखक को अपने जीवन की दिशा तय करने में मदद मिलती है।

यद्यपि श्यामा लेखक की पत्नी है, परंतु इस कृति में वह लेखक के संघर्ष और निर्माण में जिस तरह की भूमिका निभाती है वह कई मायने में किसी सच्चे मित्र से कम नहीं है। लेखक उसे ज्वॉय' कहता है और वह उसे 'सफरिंग'। एक मित्र रूप में उसके योगदान की चर्चा करते हुए वह कहता है कि "सबसे अधिक अपने इच्छाबल से उसने मुझे अपने रास्ते पर न ठहरने दिया, न पीछे फिरने दिया - 'राह पकड़ तू चला चल पा जाएगा मधुशाला।" जिस धैर्य और लगन से श्यामा उसके रचनात्मक व्यक्तित्व के निर्माण में मदद करती है, वह अद्‌भुत है। विपरीत परिस्थितियों में भी वह धैर्य नहीं खोती है और हमेशा लेखक की हिम्मत बढ़ाती है।

क्या भूलूँ क्या याद करूँ में लेखक ने खुलकर भारतीय समाज में स्त्रियों की दशा और दिशा के बारे में अपने भावों और विचारों को अभिव्यक्त किया है। इस कृति में अनेक जगह वह परिवार और समाज के प्रतिबंधों को तोड़ते हुए विषम परिस्थितियों में स्त्रियों की मदद करता है चाहे वह चंपा हो या प्रकाशों यद्यपि इन स्त्रियों के प्रति लेखक के अंदर एक भावुकता-भरा आकर्षण है, पर इससे वह मुक्त भी जल्दी हो जाता है। वह यह भी मानता है कि आर्थिक

स्वतंत्रता, एक हद तक ही स्त्री-समाज को महत्व देता है और पुरुष के दबाव से मुक्त करता है क्योंकि अगर ऐसा नहीं होता तो आज यूरोप में स्त्रियाँ बहुत अच्छी स्थिति में होती। पर यूरोप में भी ऐसा नहीं है। वह कहता है कि "जहाँ आर्थिक स्वतंत्रता संभव हुई है वहाँ, इसमें संदेह नहीं, एक-दूसरे से दबने की भावना दूर हो गई। पर यह केवल बाहरी और नकारात्मक पक्ष है। ... यूरोप में पति-पत्नी विच्छेद के कितने ही मामलों में आर्थिक स्वतंत्रता भी कारण बनी है।" जाहिर है लेखक स्त्रियों की दशा सुधारने के लिए आर्थिक स्वतंत्रता को उतना कारगर नहीं मानता है। तो फिर उपाय क्या है? "आदर्श प्रेम!" लेखक कहता है। यद्यपि उसके इस आदर्श प्रेम का जो स्वरूप ओर आधार है, वह अपने आप में बहुत स्पष्ट नहीं है। फिर भी वह कहता है, "नर-नारी का वह आकर्षण जो प्रेम का रूप लेता है एक-दूसरे के किसी अभाव की पूर्ति करता है। दोनों को ही अपने-अपने अहं को किसी-न-किसी रूप में पोषित करने और किसी-न-किसी रूप में मिटाने की आवश्यकता होती है। जो दंपत्ति कभी एक-दूसरे के ऊपर उठकर, कभी एक दूसरे के नीचे झुककर इस आवश्यकता की पूर्ति करते रहते हैं, वे अपने संतुलित संबंध का रहस्य जान लेते हैं।" जाहिर है एक दूसरे की भावनाओं का आदर करके ही स्त्री और पुरुष सार्थक जिंदगी जी सकते हैं। इसका सबसे सरल माध्यम है 'प्रेम', जिसकी वकालत यह कृति बार-बार करती है। और यह 'प्रेम' मित्रता से ही प्राप्त हो सकता है। इसलिए बच्चन बार-बार इस कृति में स्त्री के साथ एक मित्र की तरह व्यवहार करने पर बल देते हैं। बुजुर्ग और विधवा स्त्रियों का सम्मान करते हैं।

9.4 'क्या भूलूँ क्या याद करूँ' में लेखक के विचार

रचना अथवा जीवन में विचार की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। कई बार यह रचना अथवा जीवन के प्रति हमारी समझ का विकास ही नहीं करता है, बल्कि उसे निर्धारित भी करने लगते हैं। किसी कृति के प्रासंगिक और कालजयी होने में यह विचार मुख्य भूमिका निभाते हैं। कृति में व्यक्त विचार से ही हमें पता चलता है कि व्यक्ति और समाज के बारे में लेखक की समझ क्या है? सामाजिक जीवन में धर्म और दर्शन की भूमिका को लेकर वह क्या सोचता है? समय-समय पर समाज, राजनीति और देश की आर्थिक समस्याओं पर हो रहे राष्ट्र-व्यापी चिंतन से वह अपने आपको किस रूप में जोड़ता है और उनके प्रति किस प्रकार का नज़रिया अपनाता है? **क्या भूलूँ क्या याद करूँ** में हरिवंश राय बच्चन ने जगह-जगह व्यक्ति, समाज, धर्म, दर्शन, राजनीति, रचना और लेखन के संबंध में अपने विचारों को व्यक्त किया है।

क्या भूलूँ क्या याद करूँ में आत्मकथाकार ने व्यक्ति और तत्कालीन भारतीय समाज तथा राजनीति एव उनकी विकास की प्रक्रिया को लेकर अनेक टिप्पणियाँ की है जो उपर्युक्त संदर्भ में उसके दृष्टिकोण को स्पष्ट करती है। खासकर सामाजिक विकास की प्रक्रिया और विभिन्न तरह के समाजों के आपसी संबंध तथा उसमें व्यक्ति की भूमिका को लेकर व्यक्त किए गए उसके विचार भारतीय समाज के हाशिये पर जिंदगी व्यतीत कर रहे लोगों से हमारा परिचय कराते हैं। उदाहरण के लिए समाज में सेवा के कार्य से जुड़े नाई, बारी, कहार आदि को 'परजा' (प्रजा) कहने को भारतीय समाज की सामंती मानसिकता और व्यवस्था से जोड़ते हुए वह लिखता है कि "सामंती समाज बहुत से छोटे-छोटे सामंतों से निर्मित होता है, यहाँ तक कि हर संपन्न परिवार एक प्रकार का राजपरिवार हो जाता है और उसके ऊपर पलने वाले लोग उसकी प्रजा बने रहते हैं, और उसकी विपन्नता में भी उससे चिपके रहते हैं, उससे कुछ प्राप्त करने की आशा करते रहते हैं।"

गरीबों की यह नियति है कि वे अपनी जिंदगी के लिए संपन्न वर्गों पर निर्भर रहे। भारतीय समाज में यह स्थिति इसलिए देखने को मिलती है कि औपनिवेशिक मानसिकता के गुलाम रहने के कारण अभी हमारा सामंती ढाँचा पूरी तरह से टूट नहीं पाया था, थोड़ा बदलाव जरूर आया। समाज में इस बदलाव के निर्माण और विकास की भी अनेक अवस्थाएँ रही हैं। इसमें

प्रत्येक जाति, समुदाय और धर्म ने कुछ विशिष्ट परंपराएँ-बनायीं, जिसे मानना बाद के समाज के लिए अनिवार्य होता गया।

इसी प्रकार लेखक ने भारतीय समाज में जाति-प्रथा और छुआ-छूत के कारण होने वाले दुष्परिणामों के बारे में अनेक जगह अपनी राय प्रकट की है तथा उसे तोड़ने का प्रयास भी। पर ऐसे विचार और प्रसंग इस कृति में कम है क्योंकि कृति का अधिकांश हिस्सा लेखक ने अपने व्यक्तिगत और रचनात्मक संघर्ष को लेकर विकसित किया है। बावजूद इन सबके, लेखक ने खुलकर इस कृति में स्त्री-पुरुष के संबंध, स्त्रियों का जीवन और उनका चरित्र, मनुष्य की वेदना और उसका अहं, मुहल्ले की सामाजिक संरचना, तत्कालीन राजनीतिक परिवेश आदि पर अपने विचारों को प्रकट किया है। इसी प्रकार मानवीय संबंध के विकास में "वेदना" और "अहं" की भूमिका की चर्चा करते हुए वह लिखता है कि "वेदना के बिना मनुष्य का अहं नहीं टूटता और अहं के टूटे बिना एक मनुष्य से दूसरे मनुष्य के हृदय तक पहुँच नहीं होती, सेतु नहीं बनता।" (पृ. 192) जाहिर है व्यक्ति और समाज के संबंध में लेखक के ये विचार मानवीय अधिक हैं। वह विचार और दर्शन की अपेक्षा व्यक्ति और समाज के संबंधों के विकास में मानवीय मूल्यों को अधिक महत्व देता है तथा यही उसके विचार को अर्थवत्ता प्रदान करते हैं।

यद्यपि **क्या भूलूँ क्या याद करूँ** एक ऐसे साहित्यकार की आत्मकथा है जो लंबे समय तक परिवार की समस्याओं से जूझता रहता है। इसीलिए इसमें उस तरह की राजनीतिक चेतना नहीं है जैसा कि गांधी जी या अन्य लेखकों की आत्मकथाओं में है। फिर भी तत्कालीन राजनीतिक परिवेश पर लेखक टिप्पणी करता है, राजनीतिज्ञों के बारे में अपनी राय जाहिर करता है और स्वदेशी तथा गांधी के अन्य आंदोलनों का समर्थन करता है। पर उसके राजनीतिक विचारों में भावुकता की मात्रा थोड़ी अधिक है तथा कविता की तरह राजनीतिक स्थितियों पर विचार करता है, उदाहरण के लिए गांधी जी की डांडी यात्रा के समय की राजनीतिक स्थिति पर टिप्पणी करते हुए वह लिखता है :

"मैरी एम.ए. प्रीवियस की परीक्षा से पहले ही गांधी जी की डांडी यात्रा आरंभ हो गई थी और उनके प्रति पग से देश में राष्ट्रीय जागरण और जोश जोर मारने लगा। बेमन से मैंने परीक्षा दे दी, पास भी हो गया। पर जुलाई में जब युनिवर्सिटी खुली तो मैंने पढ़ाई छोड़ दी कुछ पारिवारिक चिंताओं और कुछ राजनीतिक हलचलों के कारण मेरा मन पढ़ने की तरफ से उचट गया था। मैं आंदोलन में सक्रिय भाग लेने की स्थिति में न था, जुलूसों में नारे लगाता, सभाओं में शामिल होता। घर में चर्खा चलाता, जमुना पार गाँवों में जाकर व्याख्यान देता।" इस अंश से राष्ट्रीय आंदोलन के प्रति बच्चन के दृष्टिकोण को आसानी से समझा जा सकता है। देश भक्ति के गीत लिखना, खद्दर बेचना, क्रांतिवीरों को अपने घर में आश्रय देना और आई.सी.एस. की परीक्षा में बैठने की बजाए एम.ए. करना उन पर राष्ट्रीय विचारों के प्रभाव का ही परिणाम था।

धर्म और दर्शन संबधी विचार

जीवन में धर्म और दर्शन की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। खासकर भारतीय जीवन को निर्धारित करने में धर्म और दर्शन ने केंद्रीय भूमिका निभाई है। **क्या भूलूँ क्या याद करूँ** में लेखक ने मुख्यतः हिंदू धर्म की सामाजिक व्यवस्था से जुड़े अनेक पक्षों पर विचार किया है और इसी क्रम में जन्म, मृत्यु, आत्महत्या आदि दार्शनिक विषयों पर खुलकर अपनी राय प्रकट की है।

लेखक ने हिंदू समाज में जाति-व्यवस्था, छुआ-छूत दीक्षा, शिखा-केश आदि की परंपरा को धर्म से जोड़ते हुए खुलकर इनका विरोध किया है। वह मानता है कि जाति व्यवस्था और छुआ-छूत का सबसे बड़ा कारण हिंदू धर्म और उसकी वर्णव्यवस्था है जो मठ एवं मंदिरों के कारण समाज में व्याप्त रही है।

क्या भूलूँ क्या याद करूँ में जन्म, मृत्यु, आत्महत्या आदि जैसे मुद्दों पर लेखक ने एक दार्शनिक की तरह विचार किया है। यद्यपि 'आत्मा' को लेकर उठे प्रश्न का उत्तर पाने में वह अपने आपको असफल मानता है पर इस सत्य को स्वीकार करता है कि किसी की मृत्यु से दुनिया नहीं बदल जाती है बल्कि वह यथावत् चलती रहती है : "पर दुनिया, दुनिया है। दुनिया के लिए कोई अनिवार्य नहीं। इधर लाश उठती है, उधर दुनिया के काम यथापूर्व होने लगते हैं।" यह सच भी है। क्योंकि मरने के बाद आत्मा की परिणति कहाँ और किस रूप में होती है, इसका सही उत्तर आज तक हमारे पास नहीं है। लेकिन जीवित शरीर का सच सबके सामने होता है। लेखक कहता है, "शरीर रहने तक मनुष्य को क्या-क्या सहना पड़ता है। शरीर छूटा कि सारे दुःख-दर्द, चिंताएँ-व्यथाएँ, शोक-संताप विलुप्त!" पर क्या आत्महत्या इन कष्टों से सहज मुक्ति का उपाय है? लेखक मानता है नहीं! क्योंकि आत्महत्या के बारे में "... जो सोचता है, वह मेरी दृष्टि में निरात्मा है।" निरात्मा यानी कि जिसके अंदर सोचने, समझने और महसूस करने की ताकत खत्म हो गयी हो! जो जीवन की चुनौतियों से भाग रहा हो! और ऐसा मनुष्य पौरुषवान नहीं हो सकता है।

वस्तुतः धर्म और दर्शन से जुड़े विभिन्न मुद्दों पर लेखक के अंदर उठे इन विचारों का गहरा संबंध उसकी अपनी जिंदगी से रहा है। इसलिए कई जगह उसके विचार वैयक्तिक लगते हैं। पर, महत्वपूर्ण बात यह है कि इन वैचारिक प्रश्नों से वह जूझता है, भागता नहीं!

रचना और रचनाकार संबंधी विचार

क्या भूलूँ क्या याद करूँ एक साहित्यिक की आत्मकथा है। इसलिए इस कृति में बच्चन के विचारों की सबसे अधिक प्रखरता वहाँ दिखलाई पड़ती है जब वह रचना और लेखक से जुड़े प्रश्नों पर विचार करता है। यद्यपि इन विचारों का भी गहरा संबंध उसके अपने लेखन और अनुभव से अधिक है और कहीं-कहीं नितांत व्यक्तिगत भी। पर लेखक की मानवीय मूल्यों के प्रति प्रतिबद्धता उसके विचारों को ग्राह्य बना देती है। उदाहरण के लिए वह अपने कवि बनने के कारण की चर्चा करते हुए लिखता है कि "संयम का कहीं-न-कहीं विस्फोट होता है। यह मैं बड़ी सच्चाई के साथ कहता हूँ कि उसका अधिकतम विस्फोट निश्चय ही मेरे काव्य रूप में हुआ।" जाहिर है 'मधुशाला' के सृजन में अपने जिस 'संयम के विस्फोट' की चर्चा लेखक करता है, वह उसकी पत्नी श्यामा को लेकर है। पर सृजन में संयम एक हद तक भूमिका निभाता है। लेकिन इसके विकास की प्रक्रिया अत्यंत जटिल होती है। शायद इसीलिए लेखक मानता है कि "शब्द-कविता का, वास्तव में बहुत-से माध्यमों में से केवल एक माध्यम है।" और बच्चन इसके समर्थन में किसी अंग्रेजी पंक्ति का अनुवाद प्रस्तुत कर देते हैं : "कविता लिखने का उतना विषय नहीं, जितना जीने का और कविता जीने, जीने का सबसे दुःसाध्य रूप है। कबीर भी इसे शीश काटना और फिर उस पर पाँव धरने की प्रक्रिया से जोड़ते हैं जिसकी चर्चा करते हुए लेखक 'अहं' को कवि का सबसे बड़ा शत्रु घोषित करते हुए कहता है कि यह कवि की चेतना को नष्ट कर देता है। बिना इसे त्याजे लेखक बनना संभव नहीं है। क्योंकि "अहं को काटने के बाद जो चेतना शीश को उठाती है, उस पर पाँव धरती है, उसी का नाम कवि है।" और कवि करता क्या है? लेखक लिखता है कि "...कवि को हर कविता लिखते समय यह दुर्धर्ष चमत्कार करना होता है या यों कहे कि जब भी सच्चे अर्थों में कविता बनती है, कवि इसी प्रक्रिया से गुजरता है।"

स्पष्टतः लेखक की ये पंक्तियाँ सिर्फ सृजन की प्रक्रिया की तरफ संकेत नहीं करती है बल्कि यह भी बतलाती है कि एक कवि अर्थात् रचनाकार का जन्म कैसे होता है? जिन जटिल प्रक्रियाओं से गुजरकर कोई रचना किसी विधा का रूप धारण करती है उसका अपना एक अलग समाजशास्त्र होता है। यह समाजशास्त्र कहीं बाहर निर्मित नहीं होता है बल्कि उसका सृजन व्यक्ति की अंतर्चेतना में होता हैं। 'प्रवास की डायरी' (1979) में बच्चन ने कविता की चर्चा करते हुए लिखा है कि "कविता, गहन भावों-विचारों की या इससे अच्छा होगा यह कहन कि गहन क्षणों की सहज वाणी है या अगम अनुभूतियों की सुगम अभिव्यक्ति।" दूसरे शब्दों में

वे रचना को लेखक द्वारा 'अपनी अनुभूति को स्वाभाविक ढंग से' रखने की कला मानते हैं। इसलिए कि 'कला का लक्ष्य है कि जो व्यक्तिगत है, सीमित है, आत्मयोगी है, उसे सर्वमत, सार्वभौम और सार्वभोगी बना दिया जाए। (नीड़ का निर्माण फिर, संस्करण : 1980, पृ. 66)

वास्तव में हरिवंश राय बच्चन काव्य या अन्य कला को लेखक अथवा कलाकार द्वारा अपनी अनुभूतियों को समय और समाज के साथ जोड़कर सार्वजनिक रूप से प्रकट करने की चेतना मानते हैं। मुक्तिबोध इसे थोड़ा अधिक यथार्थवादी बनाते हुए उसी रचना को वास्तविक मानते हैं जो 'जीवन की चेतना से परिपूर्ण' होती है तथा जिसमें 'अपने प्रति और अपने युग के प्रति अधिक उत्तरदायित्व' की भावना होती है। अर्थात् 'अपने अंतःकरण में स्थित जीवनानुभवों को उनके संपूर्ण बाह्य संदर्भों के साथ उपस्थिति करना।' (संदर्भ : मुक्तिबोध रचनावली, भाग : पाँच, संस्करण : 1985, पृष्ठ क्रमश : 24, 199)

वस्तुतः सृजन और उसकी प्रक्रिया को बच्चन एक जटिल प्रक्रिया मानते हैं। क्योंकि इनका सत्य, वस्तुगत सत्य से कहीं अधिक सजीव होता है।' इसलिए वे स्पष्टतः कहते हैं कि 'जब मैं अपनी अनुभूतियों में जीता हूँ - कला के माध्यम से अनुभूतियों को जीना, शायद जीने से अधिक घनत्व से, तीव्रता से, गहराई से जीना ;' - तब मैं सारे संसार के लिए मर जाता हूँ, और मैं चाहता हूँ कि कोई कुछ भी ऐसा न करे जिससे मैं संसार में जीने के प्रति सचेत हो जाऊँ, जब तक कि मेरी ही समाधि न टूटे।' स्पष्टतः यहाँ बच्चन अनुभूतियों को प्रस्तुत करने के लिए दार्शनिक बेकन के जिस हालावादी स्थिति की ओर संकेत करता है, वह यह मानकर चलती है कि अनुभूति के साथ बिना गहन संबंध और स्थितियों के साथ तादात्म्य के रचना का उद्‌भव हो ही नहीं सकता है। यह कृतिकार पर निर्भर है कि वह रचना की व्यापकता के लिए किस हद तक अपने को कुछ समय के लिए बाह्य संसार से अलग कर लेता है।

अनुभूति, रचना-प्रक्रिया और रचनाकार के अतिरिक्त **'क्या भूलूँ क्या याद करूँ'** में बच्चन ने, कला के अन्य रूपों, कल्पना और यथार्थ, जीवन और रचना में तर्क और भावुकता का द्वन्द्व कवि का मार्ग, जनता की प्रशंसा, साहित्य में राजनीति, कविता और जीवन का संघर्ष आदि जैसे विभिन्न रचनात्मक मुद्दों और प्रश्नों पर खुलकर अपने विचार प्रकट किये हैं तथा जगह-जगह उनकी मार्मिक व्याख्या की है। ये व्याख्या और विचार - लेखक की इस कृति को महत्वपूर्ण बनाते हैं।

9.5 'क्या भूलूँ क्या याद करूँ' का संरचना शिल्प

आत्मकथा की रचना विषयवस्तु के स्तर पर अन्य साहित्यिक विधाओं से भिन्न होती हैं इसलिए रचनाकार एक सीमा के बाद रचना के स्वरूप को निर्मित करने के लिए स्वतंत्र होता है। **क्या भूलूँ क्या याद करूँ** की रचना में हरिवंश राय बच्चन ने इसके स्वरूप की निर्माण में अनेक प्रक्रियाएँ अपनाई हैं चाहे वह रचना में जातीय, पारिवारिक और सामाजिक संदर्भों के उपयोग की बात हो अथवा कथा के अंदर अवांतर कथाओं की प्ररचना का, आत्मकथा की रचना के निर्धारित मापदंडों को अपनाने की बात हो या लेखन शैली में विविधतापूर्ण प्रयोग का। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि इस आत्मकथा की रचना में वे कोई निश्चित पद्धति अपनाकर नहीं चले हैं बल्कि कथानक के हिसाब से रचना का स्वरूप रचा है।

वास्तव में किसी भी कृति का स्वरूप रचना के बाहर के सामाजिक यथार्थ और भीतर के यथार्थ के अंतर्संबंध से निर्धारित होता है। **क्या भूलूँ क्या याद करूँ** में लेखक स्वयं रचना का विषय है और उसने अपने जीवन की वास्तविकता और आकांक्षा को रचना की अंतर्वस्तु के रूप में चित्रित किया है। एक तरह से रचना के बाहर और भीतर का यथार्थ स्वयं उसका जीवन है। इसलिए इस कृति का स्वरूप उसके जीवन और परिवार की परंपरा से गहरे रूप में प्रभावित है।

क्या भूलूँ क्य याद करूँ की मुख्य कथा है लेखक की बचपन से लेकर पहली पत्नी श्यामा की मृत्यु तक की ज़िंदगी, जिसका चित्रण उसने वर्णनात्मक शैली में किया है। कथा-संरचना के स्तर पर इस आत्मकथा को मुख्यतः तीन भागों में बांटा जा सकता है - आरंभ, मध्य और अंत। आत्मकथा के आरंभ में लेखक ने कायस्थ जाति के उद्भव और विकास के साथ ही उसकी कमज़ोरियों और विशेषताओं का वर्णन किया है। कथा को रोचक बनाने क लिए उसने बीच-बीच में प्राचीन भारतीय ग्रंथ और लोक में प्रचलित अनेक ऐसी कथाओं का उल्लेख किया है जो इस जाति के लोगों की विशेषताओं की ओर संकेत करते हैं। मध्य में आत्मकथाकार ने जन्म, परिवार की पंरपरा और उसकी स्थिति तथा शिक्षा एवं समाजीकरण में भूमिका निभाने वाले मुख्य व्यक्तियों की चर्चा है। आत्मकथा के अंत में लेखक ने युवावस्था की जिंदगी, प्रेम-प्रसंग और कठिन जीवन संघर्ष की चर्चा की है जिसमें कर्कल-चंपा, श्रीकृष्ण सूरी-प्रकाशों और श्याम से विवाह तथा उसकी बीमारी एवं मृत्यु का मार्मिक चित्रण किया है। कथा के इन तीनों भागों को रोचक और मार्मिक बनाने के लिए आत्मकथाकार ने बीच-बीच में छोटी-छोटी कथाओं की रचना की हैं, काव्य-पंक्तियों को उद्धृत किया है और यथार्थ जीवन के अनेक ऐसे प्रसंगों और व्यक्तियों के जीवन से जुड़ी घटनाओं का वर्णन किया है जो कृति को पठनीय बनाते हैं।

वास्तव में हरिवंशराय बच्चन की इस आत्मकथा की सबसे बड़ी विशेषता है कथा की एकरूपता और प्रस्तुत करने की अद्भुत शैली। इसमें उनकी जाति, परिवार, मित्र, शिक्षक, साहित्यकार आदि अनेक लोगों की कथाएँ हैं पर इन्हें पढ़ते हुए कहीं भी इस बात का अहसास नहीं होता कि पाठक अलग-अलग जीवन और प्रसंग की कथा पढ़ रहा है। इनकी आपसी एकता और विकास की प्रक्रिया में एक तार्किकता है और यह तार्किकता कथा की संरचना को प्रभावशाली बनाती है। इसीलिए बच्चन जब बीच में कोई नयी कथा शुरू करते हैं तब उसके लिए कोई भूमिका नहीं बाँधते है। जीवन से कोई भी छोटी-सी बात उठाते हैं और कहानी आगे बढ़ने लगती है।

आत्मकथा में वस्तुगत तथ्य के उपयोग का एक विशिष्ट अर्थ होता है। सतर्क रचनाकार सोच-समझकर इनका उपयोग करता है। उसे इस बात का अंदाज़ होता है कि जाति, परिवार और समाज के कौन-से संदर्भ उसकी कृति के स्वरूप को व्यापक बनाने में मदद कर सकते हैं और कौन-से अनावश्यक विस्तार। 'क्या भूलूँ क्या याद करूँ' में बच्चन ने इन संदर्भों का उपयोग बहुत ही सोच-समझकर किया है और इससे उनकी कृति के स्वरूप को व्यापक बनाने में मदद मिली है। यही कारण है कि उनकी यह आत्मकथा महत्वपूर्ण बन पड़ी है।

गद्य क अन्य विधाओं में लेखक दूसरों की जिंदगी, जीवन-संघर्ष, उपलब्धियों आदि के बारे में लिखता है। इसलिए उन विधाओं की रचना प्रक्रिया के तत्व और उनके स्वरूप निश्चित होते हैं चाहे वह नाटक हो या कहानी, उपन्यास हो अथवा जीवनी। परंतु आत्मकथा में लेखक अपनी जिंदगी की कहानी खुद लिखता है। इसलिए इसकी रचना-प्रक्रिया के तत्व अन्य विधाओं के समान होते हुए भी अपनी प्रस्तुति में भिन्न होते हैं। कथानक, चरित्र, भाषा, देशकाल, कथोपकथन आदि जैसे प्रचलित रचना-तत्व इसमें भी होते हैं पर आत्मकथा में इनकी प्रस्तुति एक निश्चित संदर्भ में होती है। उदाहरण के लिए हम देशकाल को ले सकते हैं। गद्य की अन्य विधा में देशकाल के चित्रण का जो अर्थ होगा, वही आत्मकथा में नहीं हो सकता है। आत्मकथा में लेखक उन्हीं घटनाओं और स्थितियों का वर्णन करता है जिनका गहरा संबंध उसकी जिंदगी से होता है। इसलिए आत्मकथा का सीधा अर्थ 'अपनी कहानी' माना जाता है, जिसमें लेखक आपबीती को समकालीन जीवन और संसार से जोड़कर चित्रित करता है। क्या भूलूँ क्या याद करूँ में हरिवंशराय बच्चन ने यही किया है। उन्होंने अपनी जिंदगी की कहानी तत्कालीन सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक परिस्थितियों के साथ जोड़कर लिखी है। इसी प्रकार, आत्मकथा की रचना में लेखक गद्य की अन्य विधाओं के प्रचलित तत्व के साथ ही कुछ खास बातों पर ध्यान देता है जैसे - तटस्थता, आत्मालोचन, युगीन परिवेश के साथ

उसका संबंध आदि। ये, आत्मकथा के कुछ खास तत्व हैं। इनके बिना आत्मकथा की रचना संभव नहीं है।

सबसे पहले, तटस्थता। तटस्थता आत्मकथा का सर्वाधिक महत्वपूर्ण तत्व है। **क्या भूलूँ क्या याद करूँ** में हरिवंश राय बच्चन ने तटस्थ होकर अपनी जिंदगी की कहानी लिखी है। हरिवंश राय बच्चन की यह आत्मकथा मुख्यतः इलाहाबाद की स्मृतियों पर आधारित है जिसमें लेखक ने अपने जीवन की अच्छी-बुरी सभी प्रकार की घटनाओं का वर्णन किया है। लेखक ने आत्मकथा का यह भाग 1963 से 1969 के बीच लिखा है, जब उसकी उम्र छप्पन वर्ष के आसपास होगी। इसलिए यह संभव है कि लेखक की स्मृति में बहुत सारी घटनाएँ नहीं रही होगी अथवा होगी भी तो वह उन्हें एक दूरी से स्मरण करता है। पर, जहाँ भी उसकी स्मृति स्पष्ट नहीं है उसकी चर्चा करके छोड़ देता है अथवा जब विस्तार से उन पर बात करता है, तब उन घटनाओं और स्थितियों के प्रति आत्मालोचन की प्रक्रिया अपनाता है। यह आत्मालोचन ही है जो **क्या भूलूँ क्या याद करूँ** में लेखक को अनावश्यक विस्तार और आत्म-मुग्धता से बचाता है। वह भावुकता के साथ स्थितियों का चित्रण जरूर करता है और इस क्रम में आवेश तथा उत्साह में बिताए गए क्षण एवं संपर्क में आए लोगों की सीमा से बाहर जाकर मदद करता है। पर बाद में जब उसे अपनी गलती का अहसास होता है तब अपने इस स्वभाव की आलोचना भी करता है। उसके आत्मलोचन की यह निमर्म प्रक्रिया ही है कि चंपा, श्रीकृष्ण सूरी, प्रकाशों आदि के साथ बिताए गए अपने भावुकतापूर्ण समय का निष्पक्ष मूलयांकन करता है और गलतियों को स्वीकार करता है।

आत्मालोचन की यह सतत संवेदनशील और निमर्म प्रक्रिया बच्चन की इस आत्मकथा में अनेक जगह दिखलाई पड़ती है जो लेखक की बात को प्रामाणिक ही नहीं, प्राणवान और स्थायी मूल्य का बना देती है।

युगीन सत्य के साथ लेखक के संबंध का चित्रण आत्मकथा के अत्यंत महत्वपूर्ण तत्वों में से एक है। **क्या भूलूँ क्या याद करूँ** में हरिवंश राय बच्चन ने अपन जीवन के जिस काल-खंड का चित्रण किया है, वह 1936 तक आते-आते समाप्त हो जाता है। यह काल भारतीय इतिहास में सुधार तथा स्वाधीनता आंदोलन का माना जाता है। 1857 के गदर के बाद एक तरफ भारतीय समाज जहाँ अनमेल विवाह, विधवा जीवन, छूत-अछूत आदि के खिलाफ राष्ट्रीय-व्यापी सुधार के दौर से गुज़र रहा था, वहीं दूसरी तरफ ब्रिटिशकालीन भारतीय राजनीति में क्रांतिकारी गतिविधियाँ और गांधी के अछूताद्धार से लेकर राष्ट्रीय मुक्ति के लिए किए जा रहे आंदोलनों के काल के रूप में जाना जाता है। इसी प्रकार, साहित्य में समाज और राष्ट्र से जुड़ने की गंभीर चेतना इस काल की रचनाओं में दिखलाई पड़ती है। इस दृष्टि से बच्चन की यह आत्मकथा अत्यंत महत्वपूर्ण है।

वास्तव में आत्मकथा लेखन एक जटिल प्रक्रिया है। इसीलिए **क्या भूलूँ क्या याद करूँ** की रचना करते-करते लेखक कई जगह ठहर जाता है। खासकर उन प्रसंगों में जिनका गहरा संबंध उसकी निजी जिंदगी से रहा है। कारण, वह तय नहीं कर पाता है कि किस हद तक जीवन की सच्चाइयों को सार्वजनिक करे और किस हद तक नहीं। क्योंकि कई बार निजी जिंदगी की बहुत सारी बातें ऐसी होती हैं, जिसे लेखक सार्वजनिक हित को ध्यान में रखते हुए प्रकट नहीं कर पाता है, सिर्फ संकेत करके छोड़ देता है। यह एक हद तक ठीक भी है। इससे कृति की गरिमा बनी रहती है। चंपा और प्रकाशो से अपने संबंधों की बातें बच्चन एक सीमा तक ही प्रकट करते हैं और शेष बातें संकेत करके छोड़ देते हैं। इसी प्रकार आत्मालोचन की प्रक्रिया की भी एक सीमा होती है। उसमें भावुकता की जगह विचार का स्थान अधिक होता है। यद्यपि कई जगह **क्या भूलूँ क्या याद करूँ** में लेखक आत्मालोचन की प्रक्रिया में अत्यंत भावुक हो उठता है, चाहे वह श्यामा पर पूरा ध्यान न दे पाने की बात हो या पं. रामचरण शुक्ल द्वारा अपने पिता की आर्थिक मदद करने का प्रसंग। पर, शीघ्र ही वह संभल जाता है और इसे

जीवन का एक सच मानकर आगे बढ़ जाता है। यही कारण है कि रचना में आए ये सारे प्रसंग बच्चन की इस आत्मकथा और उसके स्वरूप को व्यापक बनाते हैं।

9.6 'क्या भूलूँ क्या याद करूँ' का महत्व और उपयोगिता

क्या भूलूँ क्या याद करूँ का प्रथम संस्करण 1969 में निकला था और तब से अब तक इसके कई संस्करण निकल चुके हैं। उसके पूर्व तथा बाद में हिंदी में अनेक आत्मकथाएँ प्रकाशित हुईं, जिन्होंने हिदीं भाषी समाज को अपनी ओर आकर्षित किया। जैसे - बाबू श्याम सुंदर दास कृत हिंदी की पहली आत्मकथा 'मेरी आत्मकहानी' (1941), राहुल सांकृत्यायन कृत 'मेरी जीवन यात्रा' (1946), पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी कृत 'मेरी अपनी कथा (1958), सेठ गोविंददास कृत 'आत्मनिरीक्षण' (1958), पाण्डेय बेचन शर्मा उग्र कृत 'अपनी खबर' (1960), आचार्य चतुरसेन शास्त्री कृत 'मेरी आत्मकहानी' (1963) आदि। हिंदी में इन आत्मकथाओं की अलग-अलग महत्ता और उपयोगिता है। उदारहण के लिए इनमें बाबू श्यामसुंदर दास की 'मेरी आत्मकहानी' जहाँ बनारस और उसमें भी नागरी प्रचारिणी सभा के जीवन से जुड़ी सच्चाइयों से हमारा परिचय कराती है, वहां पाण्डेय बेचन शर्मा उग्र की 'अपनी खबर' यह बतलाती है कि अपने जीवन की सच्चाइयों को किस प्रकार प्रकट किया जाता है। पर बच्चन की आत्मकथा इस मायने में अलग है। यह एक तरफ जहाँ आत्मकथा की उस संस्कृति से हमारा परिचय कराती है जिसकी जरूरत कहानी और उपन्यास जैसी विधाओं में भी कथाकार महसूस नहीं करते, वहीं दूसरी तरफ उनके काव्य-साहित्य के मूल्यांकन के लिए अनेक ऐसे स्रोतों की जानकारी देती है जिनके विषय में हिंदी साहित्य अब तक अनभिज्ञ था। उदाहरण के लिए बच्चन अपनी कविताओं को जिस 'संयम के विस्फोट' से जोड़ते हैं, उसे बिना '**क्या भूलूँ क्या याद करूँ**' को पढ़े समझा नहीं जा सकता है।

हरिवंश राय बच्चन की इस आत्मकथा की सबसे बड़ी विशेषता है अपने जीवन के अनेक रूपों की संदर्भ सहित व्याख्या, जो कि अन्य आत्मकथाओं में कम ही उपलब्ध होती है। बीच-बीच में वे अपने लेखन, सृजन-प्रक्रिया, प्रकाशन, साहित्यिक विकास, गोष्ठियों-सम्मेलनों आदि की चर्चा करते हैं और इन प्रसंगों से अपने आपको जोड़ते हुए तत्कालीन साहित्यिक परिवेश का चित्रण करते हैं। सामान्य शब्दों में, **क्या भूलूँ क्या याद करूँ** का कथ्य लेखक का रचनात्मक विकास नहीं, बल्कि उनके रचनात्मक व्यक्तित्व का विकास दिखलाता है जिसे वह जाति, वंश, परंपरा और परिवार के कठिन जीवन-संघर्ष के साथ जोड़कर प्रस्तुत करता है। इस क्रम में वह ऐसे अनेक प्रसंगों और घटनाओं का उल्लेख करता है जिनका गहरा संबंध उसके व्यक्तिगत जीवन से रहा है। चाहे वह चंपा से प्रेम का प्रसंग हो अथवा श्यामा से संयमपूर्ण व्यवहार का। बिना किसी संकोच के वह अपने जीवन के इस 'सच' को प्रकट करता है।

वास्तव में हरिवंशराय बच्चन की आत्मकथा का यह पहला भाग उनकी पहली पत्नी श्यामा की मृत्यु तक की जिंदगी को संपूर्णता में उपस्थित करता है चाहे वह परिवार हो या युगीन परिवेश, परंपरा हो अथवा समाज। क्या बाबा, क्या राधा बुआ, क्या कर्कल, क्या चंपा, क्या प्रकाशो और क्या श्रीकृष्ण सूरी - श्यामा के साथ ही उसकी जिंदगी में आए ये सारे लोग लोक के जीवन और उसकी सोच को विस्तार देते हैं और समय तथा समाज के साथ जोड़ते हुए फ्रांसीसी लेखक मानतेन के शब्दो में उसकी निजी जिंदगी की विशिष्टता को हमारे सामने संपूर्णता में उपस्थित कर देते हैं। आत्मकथाकार न तो अपन जीवन के दोषों को छुपाता है और न ही गुणों को। अपने सरल, सहज और साधारण जीवन-स्वरूप को वह अत्यंत स्वाभाविक शैली में प्रस्तुत करता है। शायद यही कारण है कि साहित्य की अन्य विधाओं की तरह इस कृति में कहीं भी उस तरह के उतार-चढ़ाव अथवा क्लाइमैक्स के दर्शन नहीं होते हैं जैसा कि अन्यत्र होता है। बस है तो सिर्फ लेखक का सच्चा और संवेदनशील जीवन - जिसमें कुछ सुख है तो बहुत सारे दुःख भी। वह न तो किसी को त्यागता है और न ही किसी के प्रति अतिशय आग्रह दिखलाता है। सब कुछ समान रूप और गति से इस आत्मकथा में दर्ज हुआ है। भाषा में वर्णनात्मकता

और पात्र तथा परिवेश के अनुकूल शब्दों का चयन एवं प्रयोग इस कृति को महत्वपूर्ण बनाते हैं। एक सर्जनात्मक व्यक्तित्व के विकास और मार्मिक गद्य का उत्कृष्ट नमूना है। **क्या भूलूँ क्या याद करूँ**, जिसे बार-बार पढ़ना अच्छा लगता है।

9.7 सारांश

हरिवंशराय बच्चन की **क्या भूलूँ क्या याद करूँ** पर केंद्रित इस इकाई में उनकी आत्मकथा के पहले भाग पर विचार किया गया है जिसमें लेखक के जन्म से लेकर पहली पत्नी श्यामा की मृत्यु तक का मार्मिक वर्णन है। यह सही है कि आत्मकथाकार का अपना एक समाज और अपनी एक संस्कृति होती है। बिना उससे टकराये, आत्मकथा की रचना संभव नहीं है। और वह संस्कृति है अपने जीवन की सच्चाइयों का यथार्थ चित्रण। लेखक, आत्मकथा लेखन के बहाने समाज और संस्कृति के इस 'सच' से टकराता है। बच्चन भी उस आत्मकथा में बार-बार अपने जीवन की सच्चाइयों से टकराते हैं। इस इकाई को पढ़कर आप उनके जीवन के इस सच' और इससे टकराने की प्रक्रिया को समझ सकते हैं।

यह सही है कि लेखक के जीवन में बहुत सारी बातें ऐसी होती है जिसे वह कहानी, कविता, उपन्यास, नाटक, निबंध जैसी प्रचलित विधाओं में व्यक्त नहीं कर पाता है। खासकर जीवन की वैसी सच्चाइयाँ जो समाज और लेखन की मर्यादाओं से अनुशासित होती हैं। बच्चन अपने जीवन के जिस सच को प्रकट करना चाहते हैं, उसके लिए उपर्युक्त विधा आत्मकथा ही है। कारण, आत्मकथा की संरचना ऐसी होती है कि लेखक उसमें एक सीमा तक छूट ले सकता है। चाहे वह जाति का प्रसंग हो अथवा समाज का। व्यक्ति हो अथवा परिवार का। वह इसमें कथा कहने की भिन्न-भिन्न शैलियों का प्रयोग कर सकता है। इस इकाई को पढ़कर आप देखेंगे कि बच्चन लेखन के स्तर पर रचना की अनेक शैलियों का प्रयोग करते हैं और आत्मकथा को रोचक, पठनीय तथा प्राणवान बनाते हैं।

आत्मकथा में न ही कोई विषयवस्तु निर्धारित हेती है और न ही अंतर्वस्तु। पर लेखक इस बात का ध्यान रखता है कि जो भी प्रसंग अथवा घटनाएँ चित्रित हो, उससे उसके जीवन का सीधा जुड़ाव हो। **क्या भूलूँ क्या याद करूँ** में बच्चन ब्रिटिशकालीन भारतीय जीवन के ऐसे अनेक प्रसंगों और घटनाओं का उल्लेख करते हैं जिनका गहरा संबंध तत्कालीन समाज से है। पर, उन्हें वे अपने जीवन से जोड़कर देखते हैं। आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक और साहित्यिक परिवेश किस स्तर पर एक लेखक को प्रभावित करते हैं, और उनका चित्रणा आत्मकथात्मक कृति में वह किस प्रकार करता है, इस इकाई को पढ़कर देखा जा सकता है।

विचार तथा थोड़ा और स्पष्ट करें तो दृष्टिकोण का रचनाकार के जीवन में महत्वपूर्ण स्थान होता है। पर बड़ा रचनाकार अपनी दृष्टि को रचना पर आरोपित नहीं करता है बल्कि घटनाओं और प्रसंगों के माध्यम से अपने विचारों को स्पष्ट कर देता है। **क्या भूलूँ क्या याद करूँ** में बच्चन सामाजिक रूढ़ियों, मान्यताओं, समस्याओं आदि के खिलाफ और रचना तथा रचनाकार के बारे में जगह-जगह अपनी राय व्यक्त करते हैं। इस इकाई को पढ़कर आप देखेंगे कि बच्चन अपने भावों और विचारों को किसी घटना अथवा प्रसंग के साथ जोड़कर प्रस्तुत करते हैं - सीधे-सीधे आरोपित नहीं। उसका औचित्य बतलाते हैं और मानवीय मूल्यों के आधार पर उन्हें मानने और समझने की वकालत करते हैं।

निष्कर्षतः हरिवंशराय बच्चन की आत्मकथा का यह पहला भाग एक लेखक के लेखकीय व्यक्तित्व के बनन की प्रक्रिया से हमें परिचित करता है। इस क्रम में उसके सकारात्मक और नकारात्मक पहलुओं पर टिप्पणी करता है तथा यह बतलाता है कि लेखन के लिए जितनी ज़रूरत सामाजिक प्रतिबद्धता की होती है, उतनी निजी जिंदगी में ईमानदारी की भी। बिना

अपनी निजी जिंदगी में ईमानदार हुए कोई भी लेखक अपने समाज के 'संपूर्ण सच' को प्रकट करने का दावा नहीं कर सकता। **क्या भूलूँ क्या याद करूँ** के माध्यम से लेखक ने इस सच को प्रकट करने का साहस पाठक सामज के सामने किया है और यही इस आत्मकथा की सबसे बड़ी विशेषता है।

अभ्यास

1. आत्मकथा की विशेषताओं के संदर्भ में **क्या भूलूँ क्या याद करूँ** का मूल्यांकन कीजिए।
2. **क्या भूलूँ क्या याद करूँ** में लेखकीय दृष्टिकोण का विवेचनात्मक उल्लेख कीजिए।
3. उक्त आत्मकथा की संरचनात्मक विशेषताओं पर प्रकाश डालिए।

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त
विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

MAHI-111
निबंध और अन्य गद्य विधाएँ

खंड

3

गद्य साहित्य की अन्य विधाएँ-III

इकाई 24
यात्रा वृतांत : किन्नर देश की ओर

इकाई 25
रिपोर्ताज़ : अदम्य जीवन

इकाई 26
साक्षात्कार : ऑक्टेवियो पॉज़

पाठ्यक्रम विशेषज्ञ समिति

प्रो. ओम अवस्थी
गुरू नानक देव
विश्वविद्यालय, अमृतसर
प्रो. गोपाल राय
नई दिल्ली
प्रो. नामवर सिंह
नई दिल्ली
प्रो. नित्यानंद तिवारी
दिल्ली विश्वविद्यालय,
दिल्ली
प्रो. निर्मला जैन
गुड़गाँव, हरियाणा
प्रो. प्रेम शंकर
सागर विश्वविद्यालय
सागर
प्रो. मुजीब रिज़वी
नई दिल्ली
प्रो. मैनेजर पाण्डेय
जवाहरलाल नेहरु विश्वविद्यालय
नई दिल्ली
प्रो. रामस्वरूप चतुर्वेदी
इलाहाबाद
प्रो. लल्लन राय
शिमला
प्रो. शिवकुमार मिश्र
वल्लभ विद्यानगर,
गुजरात
स्व. शिव प्रसाद सिंह
प्रो. सूरजभान सिंह
नई दिल्ली

संकाय सदस्य
प्रो. वी.रा. जगन्नाथन
कार्यक्रम संयोजक
डॉ. जवरीमल्ल पारख
डॉ. रीता रानी पालीवाल
डॉ. सत्यकाम
डॉ. राकेश वत्स
डॉ. शत्रुघ्न कुमार
डॉ. नीलम फारूकी
श्रीमती स्मिता चतुर्वेदी
डॉ. विमल खांडेकर

पाठ्यक्रम निर्माण

मूल लेखक	इकाई संख्या	संशोधन	पाठ्यक्रम संपादक
डॉ. कर्ण सिंह चौहान दिल्ली विश्वविद्यालय	24	जवरीमल्ल पारख (इकाई 24)	प्रो. निर्मला जैन
डॉ. रेखा सेठी दिल्ली विश्वविद्यालय	25		**पाठ्यक्रम संयोजक** डॉ. जवरीमल्ल पारख डॉ. नीलम फारूकी
डॉ. हरिमोहन शर्मा दिल्ली विश्वविद्यालय	26		**खंड संपादन** डॉ0 जवरीमल्ल पारख

निर्माण सहयोग

मुद्रण	कैमरा रेड्डी कॉपी	आवरण
श्री कुलवंत सिंह अनुभाग अधिकारी (प्रकाशन)	श्री नरेश कुमार	शंख सामंता

मार्च, 2003 (पुनर्मुद्रित)

© इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, 2000

ISBN-81-7605-881-5

सर्वाधिकार सुरक्षित। इस कार्य का कोई भी अंश इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय की लिखित अनुमति के बिना किसी भी रूप में मिमियोग्राफ (मुद्रण) द्वारा या अन्यथा पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

खंड 3 का परिचय

गद्य साहित्य की अन्य विधाएँ-III नामक इस खंड में आप तीन गद्य विधाओं के बारे में अध्ययन करने जा रहे हैं। 'नाटक और अन्य गद्य विधाएँ' नामक इस पाठ्यक्रम में अब तक आप निबंध, रेखाचित्र, संस्मरण, जीवनी, आत्मकथा विधाओं का अध्ययन कर चुके हैं। इस खंड में आप यात्रावृतांत, रिपोर्ताज और साक्षात्कार विधाओं से संबंधित इकाइयों का अध्ययन करेंगे। ये तीनों विधाएँ पत्रकारिता से संबंधित हैं लेकिन अपने रचनात्मक रूप में ये साहित्यिक विधाओं के रूप में भी परिगणित होती हैं। इकाई 24 का संबंध यात्रावृतांत से है जिसमें पाठ के रूप में आपने किन्नर देश की ओर' नामक यात्रा वृतांत पढ़ा है। इस यात्रा वृतांत के लेखक हैं : महापंडित राहुल सांकृत्यायन। राहुल जी ने देश-विदेश की बहुत-सी यात्राएँ की और उन पर अत्यंत महतवपूर्ण पुस्तकें लिखीं। कई दृष्टियों से उनके यात्रा वृतांतों का महत्व है। वे ज्ञानकोश कहे जा सकते हैं। जिस प्रदेश की वे यात्रा करते हैं, उसके इतिहास, भूगोल, राजनीति, संस्कृति और समाज सभी का गहरा परिचय देते हैं। इस यात्रा वृतांत में भी आप इन विशेषताओं को देख सकते हैं जिनको उजागर करने की कोशिश इस इकाई में की गई है।

इकाई 25 का संबंध रिपोतार्ज विधा से है। यात्रा वृतांत की तरह रिपोर्ताज विधा का उदय भी पत्रकारिता के विकास के साथ हुआ है। इस इकाई में हिंदी के प्रसिद्ध कथाकार रांगेय राघव द्वारा लिखा गया रिपोर्ताज 'अदम्य जीवन' पर विचार किया गया है। 1942-43 में बंगाल में जो भयानक दुर्भिक्ष पड़ा था और जिसमें लाखों नर-नारी मारे गए थे, इस रिपोर्ताज में उसी का अत्यंत कारुणिक चित्र है। बंगाल के दुर्भिक्ष पर उन्होंने कई रिपोर्ताज लिखे थे जो 'तूफानों के बीच' नामक पुस्तक के रूप में प्रकाशित हुए थे। रिपोर्ताज विधा की विशिष्टता को ध्यान में रखते हुए इस रिपोर्ताज का विवेचन इकाई में किया गया है।

इकाई 26 का संबंध साक्षात्कार विधा से है। इसके अंतर्गत आपने श्रीकांत वर्मा द्वारा मेक्सिको के विश्व प्रसिद्ध स्पेनी भाषा के कवि ऑक्टेवियो पॉज़ का साक्षात्कार पढ़ा है। इस इकाई में उसी साक्षात्कार का विवेचन किया गया है। उक्त तीनों इकाइयों के अध्ययन से आपको पाठ्यक्रम में निर्धारित पाठों को समझने में ही मदद नहीं मिलेगी वरन् इन विधाओं का स्वरूप भी स्पष्ट होगा।

इकाई 10 यात्रा वृत्तांत : किन्नर देश की ओर

इकाई की रूपरेखा

10.0 उद्देश्य
10.1 प्रस्तावना
10.2 हिंदी में यात्रा-वृत्तांत की परंपरा और राहुल सांकृत्यायन
10.3 किन्नर देश की ओर की सामान्य विशेषताएँ
10.4 यात्रा वृत्तांत की भाषा-शैली
10.5 सारांश

10.0 उद्देश्य

एम.ए. हिंदी के बीज पाठ्यक्रम-4 के खंड-6 से संबंधित इस इकाई में यात्रा-वृत्तांत से संबंधित पाठ **किन्नर देश की ओर** का विश्लेषण और मूल्यांकन प्रस्तुत किया गया है। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप :

- गद्य विधा के रूप मे यात्रा-वृत्तांत के वास्तविक अर्थ, संदर्भ, विभिन्न रूपाकारों और प्रयोजन को जान सकेंगे।
- राहुल सांकृत्यायन के यात्रा-वृत्तांत किन्नर देश की ओर के पाठ्य अंश की विषयवस्तु का विश्लेषण कर सकेंगे।
- उक्त यात्रा वृतांत की भाषागत और शिल्पगत विशेषताओं का परिचय प्राप्त करेंगे।
- उक्त यात्रा वृतांत के महत्व और विशिष्टता को जान सकेंगे।

10.1 प्रस्तावना

नाटक और अन्य गद्य अन्य विधाएँ' नामक इस पाठ्यक्रम के अंतर्गत आधुनिक काल में उभर कर सामने आई अनेक नई साहित्यिक विधाओं के अध्ययन से यह स्पष्ट होगा कि हिंदी में आधुनिक नवजागरण के साथ ही न केवल गद्य का प्रभाव बढ़ा बल्कि अनेकानेक नई गद्य-विधाओं के रूप भी सामने आए।

ऐसा नहीं है कि हमारी परंपरा में यात्रा की अवधारणा और उसके वर्णन नहीं थे। यात्रा, यात्रा की अनिवार्यता, यात्रा के प्रयोजन और काव्य ग्रंथों में समाहित यात्रा-वृत्तांतों का विपुल भंडार साहित्य-इतिहास में उपलब्ध है। किंतु आधुनिक अर्थों में एक विशिष्ट विधा के रूप में यात्रा-वृत्तांतों का लेखन और प्रकाशन नई शुरुआत थी। गद्य की अनेक नई विधाओं की तरह इसका श्रेय भी पश्चिमी साहित्य को जाता है।

पश्चिमी साहित्य के प्रभाव को स्वीकार करने के बाद भी यह कहना उचित नहीं होगा कि ये विधाएँ अपने चरित्र में मात्र अनुकरणधर्मी हैं। हमारे यात्रा-वृत्तांत अपनी परंपरा,देश, समाज और शिल्प की निजी विशेषताएँ लिये हैं। इस अर्थ में इसका अध्ययन पश्चिमी साहित्य से अलग और मौलिक रूप में किया जाता है। विधा के निरंतर विकास के साथ उसके संबंध में हमारी दृष्टि और रचना-शिल्प का भी निरंतर विकास होता गया है।

हिंदी में यात्रा वृत्तांत एक अलग विधा के रूप में एकदम नई होने के कारण उसमें लिखे साहित्य का वैसा विपुल भंडार नहीं है जैसा हमारी काव्य और नाटक जैसी परंपरित सुपरिचित

विधाओं में है। नई विधाओं में भी उपन्यास, कहानी की तरह उसमें केवल अनुभव और कल्पन के बल पर लिखने का वैसा सुभीता नहीं है। यात्रा-वृत्तांत लिखने की कई पूर्व शर्तें हैं ज उसके लेखन को विरल बनाती हैं। उनमें प्राथमिक और महत्वपूर्ण शर्त तो यही है कि इसव लिए लेखक का वास्तविक यात्रा पर निकलना ज़रूरी है। यह यात्रा भी केवल पर्यटक की स विहंगम दृष्टि वाली नहीं बल्कि हर स्थल, मानव-संपर्क, रास्ते, देशकाल भिन्नता और विविधत में गहरे प्रवेश करने वाली दृष्टि से संपन्न और अपने समस्त अनुभव-ज्ञान से उसे संपुष्ट करः वाली हो। यह संभव है कि लेखक के लिए कोई यात्रा बड़ी ही रोमांचकारी और अनुभवजन्य रही हो, लेकिन जब तक पाठक को भी पूरी तरह शामिल करने की क्षमता उस वृत्तांत में नहीं होगी, तब तक वह गूंगे का गुड़ ही बनी रहेगी। इसलिए यात्रा-वृत्तांत में अपने अनुभव औ रोमांच को पाठक तक उसी उत्कटता में पहुँचाने के लिए अतिरिक्त शैलीगत विशेषताओं की आवश्यकता है।

इन और ऐसी अन्य पूर्वशर्तों के कारण यात्रा-वृत्तांत विधा को साधना एक कठिन कार्य है।

प्रस्तुत इकाई में इन सब बातों पर विचार-विमर्श के साथ ही यात्रा-वृत्तांत लेखन में राहुल सांकृत्यायन के महत्वपूर्ण योगदान और उनके वैशिष्ट्य की चर्चा की जाएगी। इसी संदर्भ में उनके यात्रा-वृत्तांत **किन्नर देश की ओर** का विश्लेषण किया जाएगा।

10.2 हिंदी में यात्रा-वृत्तांत की परंपरा और राहुल सांकृत्यायन

हिंदी में यात्रा-वृत्तांतों का प्रारंभ अन्य आधुनिक गद्य-विधाओं की तरह भारतेंदु युग से ही हुआ किंतु उससे पूर्व भी कुछ यात्रा-वृत्तांतों के उल्लेख मिलते हैं। ये सभी हस्तलिखित रूप में प्राप्त हैं। भारतेंदु काल में लिखे अधिकांश यात्रा-वृत्तांत उस समय की पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए हैं। स्वयं भारतेंदु के पाँच यात्रा संबंधी निबंध हैं - सरयू पार की यात्रा, मेहदावल की यात्रा, लखनऊ की यात्रा, हरिद्वार की यात्रा और वैद्यनाथ की यात्रा। बालकृष्ण भट्ट ने 'हिंदी प्रदीप' पत्रिका में 'कतिकी नाहन' तथा 'गया यात्रा' का वर्णन किया है।

प्रकाशित पुस्तकाकार रूप में सबसे पहला हरदेवी की 'लंदन यात्रा' पुस्तक मिलती है जो सन् 1883 ई. में ओरिएंटल प्रेस, लाहौर से प्रकाशित हुई। इसके पश्चात् भगवानदास वर्मा की 'लंदन का यात्री' (1884), पं. दामोदर शास्त्री की 'मेरी पूर्वादिग्यात्रा' (1885), तोताराम वर्मा की 'केदारनाथा यात्रा' (1890) आदि प्रसिद्ध हैं। इस युग का सबसे महत्वपूर्ण यात्रा-वृत्तांत श्री देवीप्रसाद खत्री का 'रामेश्वर यात्रा' है जिसमें साहित्यिक शैली में खत्री जी ने प्रयाग, चित्रकूट, द्वारका, रामेश्वर समेत अपनी बारह यात्राओं का वर्णन किया है। सन् 1900 ई. के बाद अनेक पत्र-पत्रिकाओं में यात्रा-संबंधी विवरण लगातार प्रकाशित हुए। इनमें महावीर प्रसाद द्विवेदी द्वारा संपादित सरस्वती' पत्रिका का विशेष योगदान है क्योंकि वे विषय की विविधता के लिए यात्रा-वृत्तांतों के प्रकाशन को बढ़ावा देते थे। इस समय के यात्रा-वृत्तांत लेखकों में स्वयं महावीर प्रसाद द्विवेदी के अलावा श्रीधर पाठक, लक्ष्मीशंकर मिश्र, हरिस्वरूप शर्मा शास्त्री, ठाकुर गदाधर सिंह, रमाशंकर व्यास, स्वामी सत्यदेव परिव्राजक आदि के नाम प्रमुख हैं।

परवर्ती काल में यात्रा वृतांतों के लेखन में तेज़ी से विकास हुआ। अब यात्रा वृतांत विवरण की सीमा को लांघकर रचनात्मक अनुभव को विशिष्ट शैली और भाषिक सौंदर्य से युक्त होकर लिखे जाने लगे। ऐसे यात्रा वृतांत लेखकों में अज्ञेय, निर्मल वर्मा, यशपाल, शानी, मंगलेश डबराल आदि का उल्लेखनीय स्थान हैं।

इस प्रकार हिंदी में यात्रा-वृत्तांतों की एक अच्छी-खासी समृद्ध परंपरा बन गई जिसमें नए-पुराने सभी लेखकों ने अपना योगदान किया है। ये सभी यात्रा-वृत्तांत प्रयोजन, विषय, शैली की दृष्टि से वैविध्यपूर्ण हैं।

महापंडित की उपाधि से विख्यात, हिंदी की सभी विधाओं में महत्वपूर्ण योगदान करने वाले राहुल सांकृत्यायन का हिंदी यात्रा-वृत्तांत लेखन के क्षेत्र में भी सर्वोपरि योगदान रहा है। देश-विदेश की भाषा, संस्कृति, साहित्य और मानव-समाज की वास्तविकता के प्रति अदम्य और अटूट जिज्ञासा ने उन्हें एक सतत यात्री बना दिया। इसी जिज्ञासा ने उन्हें जीवन के अंतिम समय तक शारीरिक व्याधियों और यात्रा की कठिनाइयों के रहते हुए भी यात्री बनाए रखा। मृत्यु शैय्या पर पड़े होने के समय भी उनकी भावा यात्राओं की योजना तैयार पड़ी थी। मानव-जीवन में यात्रा के सर्वोपरि महत्व को प्रतिपादित करते हुए वे उर्दू का निम्नलिखित शेर अक्सर कहते थे :

'सैर कर दुनिया की गाफिल ज़िंदगानी फिर कहाँ,
ज़िंदगानी गर रही तो नौजवानी फिर कहाँ।

यात्रा करते हुए नौजवानी की यह लालसा उनके वर्णन के बीच अक्सर फूट पड़ती है। **किन्नर देश की ओर** यात्रा-वृत्तांत में एक तरूण युवक से बात करते हुए अचानक यह पुराना विचार प्रेस सा उठता है - 'इन्हीं की भांति निर्द्वन्द्व हो गदहा, खच्चर और तंबू लिए एक देश से दूसरे देश में घूमूं। काश, मैं बीस बरस का हो जाता।.... किंतु क्या पचपन साल से बीस साल के होने की औषधि दुनिया में प्राप्त हुई है?'

इससे समझा जा सकता है कि राहुल जी में घुमक्कड़ी के प्रति कैसा आकर्षण था। यही नहीं, घुमक्कड़ी से प्राप्त हुए अपने अनुभव और ज्ञान को दूसरों तक पहुंचाने के लिए उन्होंने अनेक यात्रा ग्रंथों की रचना ही नहीं की बल्कि यात्रा के प्रति लोगों में आकर्षण पैदा करने और उसके गुर सिखाने के लिए 'घुमक्कड शास्त्र' पुस्तक ही लिख दी। इसमें यात्रा की उपादेयता, तैयारी प्रक्रिया, ध्यान योग्य बातें यानी कि यात्रा का पूरा सिद्धांत और व्यवहार शास्त्र है। इसके अतिरिक्त जो यात्रा साहित्य उन्होंने लिखा, वह इस प्रकार है - 'तिब्बत में सवा बरस' (1933), 'मेरी यूरोप' यात्रा' (1935), 'मेरी तिब्बत यात्रा' (1937), 'किन्नर देश में' (1948), 'राहुल यात्रावली' (1949), 'रूस में पच्चीस मास' (1952), 'हिमालय परिचय' (1953) तथा 'गढ़वाल परिचय (1955)।

आपके पाठ्यक्रम में **किन्नर देश की ओर** नाम से यात्रा के जिस वृतांत को पाठ के रूप में दिया गया है, वह उनकी 'किन्नर देश में' यात्रा-वृत्तांत पुस्तक से लिया गया है। किन्नर देश से अभिप्राय प्राचीन किन्नर जाति से आबाद उस पर्वत प्रदेश से है जो तिब्बत-लद्दाख-सीमा से मिला हुआ है। पहले यह क्षेत्र पंजाब के अधीन था लेकिन आज हिमाचल प्रदेश के अंतर्गत आता है।

10.3 'किन्नर देश की ओर' की सामान्य विशेषताएँ

नई गद्य-विधा होने के कारण यात्रा-वृत्तांत ने अपनी समकालीन अन्य नई गद्य-विधाओं से काफी कुछ लिया है। जिन विधाओं की अनेक विशेषताओं को विशेष रूप से उसने आत्मगत किया है उनमें प्रमुख रूप से आत्मकथा, जीवनी, कथा-कहानी, संस्मरण और डायरी हैं। यात्रा-वृत्तांत के बीच में जब किसी प्राकृतिक सौंदर्य का मानवीय भावाकुलता से लेखक विशेष अभिभूत होता है तो वर्णन काव्यात्मक रूप भी धारण कर लेता है। इस अर्थ में वह काव्य के तत्वों के करीब हो जाता है। यात्रा में आने वाली व्यावहारिक कठिनाइयों और यात्रा के दौरान रहने-सहने, खाने-पीने के आर्थिक व्यय का हिसाब-किताब लगाने में वह जो तथ्यात्मक आंकड़े प्रस्तुत करता है, वहां उसके भीतर का अर्थशास्त्री मुखर हो उठता है। यात्रा में पड़ने वाली स्थितियों, घटनाओं, भाषा-भेद, संस्कृति भेद पर लगातार टिप्पणियाँ करते चलने के कारण वह एक साथ दार्शनिक, भाषाविद्, संस्कृतिविज्ञ सब कुछ हो जाता है। इसलिए यात्रा-वृत्तांत के

व्यापक परिप्रेक्ष्य को देखते हुए उसकी संपूर्ण विशेषताओं पर विचार करना संभव नहीं। यह उसकी उन्हीं विशेषताओं की चर्चा की जाएगी जो किन्नर देश की ओर को समझने में सहायक हैं।

किन्नर देश की ओर राहुल सांकृत्यायन के यात्रा-वृत्तांत 'किन्नर देश में' का प्रारंभिक अंश है जिसमें लेखक अपने गंतव्य तक पहुँचने के क्रम में की गई यात्रा का विवरण प्रस्तुत कर रहे है। यात्रा-वृत्तांत का एक अंश होने के बाद भी इसमें उनकी यात्रा-पुस्तक की समस्त विशेषताएँ मौजूद हैं। बल्कि यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि यात्रा-वृत्तांत के इस अंश में उनके वृत्तांतों की सभी प्रमुख विशषताएँ समाहित हैं।

यात्रियोचित अदम्य साहस

किसी भी यात्रा में साहस की आवश्यकता होती है और यदि यात्रा ऐसे स्थलों से की गई हो जहां दुर्गम पहाड़ों की चढ़ाई-उतराई हो, परिवहन के सुकर माध्यमों का अभाव हो, जनाकीर्ण होने के कारण रास्ते में ठहरने और भोजन का समुचित प्रबंध न हो तो ऐसी यात्रा में अतिरिक्त साहस की अपेक्षा होती है। यह दुर्गम यात्रा घोड़े, खच्चर और पैदल ही से तय की गई है। ऐसे स्थान पर घोड़े-खच्चर का मिलना भी कोई आसान बात नहीं। मिल भी गए तो पूरा रास्ता सही-सलामत पार कर पाएँगे, इसका कोई भरोसा नहीं। वैसी स्थिति में यात्रा कितनी कष्टसाध्य हो सकती है उसका कुछ अनुमान अनेक स्थानों पर परेशानियों से जूझ रहे लेखक की टिप्पणियों से सहज ही हो जाता है। जैसे :

'10 मील के रास्ते में उतराई या समतल पथ पर तो कुछ नहीं मालूम हुआ, किंतु अंतिम चार मील कड़ी चढ़ाई के थे। धूप भी तेज थी, ऊपर से डायबेटिस वाले आदमी का तालू वैसे ही सदा सूखा रहता है। मत पूछिए, अंतिम चार मीलों में मेरी क्या गत बना दी।.... कष्ट असह्य था, किंतु हिम्मत छोड़ने की बात न थी, जानता ही था, बिना सराहन पहुँचे शरण नहीं।'

55 की आयु में डायाबिटिज की बीमारी से जर्जर शरीर लेकिन हिम्मत ऐसी कि लेखक की अदम्य इच्छा है कि वह बोरिया-बिस्तर ले हमेशा के लिए घुमंतू जातियों के साथ हो ले। यह साहस ही उनकी यात्राओं को अविस्मरणीय बनाता है और पाठक के मन में लेखक के प्रति सम्मान और श्रद्धा जगाता है।

हृदय की मुक्तावस्था की मादकता

यात्रा मनुष्य को मन-बुद्धि से उन्मुक्त करती है जिसमें उसके संस्कार और सामाजिक प्रतिबंध तिरोहित होने लगते हैं। यूरोप की तरह हमारा समाज अभी इतना वर्जनामुक्त और सहज नहीं हुआ है कि सौंदर्य और सुरा की बात निर्व्याज कर सके। लेकिन यह यात्रा में उपलब्ध उन्मुक्तता ही है कि लेखक इस संबंध में निस्संकोच अपने विचार प्रस्तुत करता जाता है। 'किन्नर देश में' द्राक्षा (अंगूर) की मदिरा की किस्म और चलन का पूरा समर्थन करते हुए लेखक न पी पाने की अपनी असमर्थता पर अफसोस के स्वर में कहता है :

'यदि मार्ग का अच्छा प्रबंध और खाने-रहने के अच्छे स्थान बन जाएँ, तो भाग्यवानों को वहाँ 'शिबू' उदुंबरवर्णा किन्नरी सुरा सुलभ रहेगी। सिर्फ रुप्यामों की आवश्यकता है, साकी हजारों सुराही लिए यहाँ तैयार मिलेंगे। शंपेन और बरांडी को मात करने वाली किन्नरी सुरा यहाँ मौजूद हैं। मैं उसके घर में पहुँच गया हूँ, किंतु अभाग्य के लिए क्या किया जाए, पानी में 'मीन प्यासी' कहना चाहिए। इस जन्म में तो ब्रह्मा ने सुरा चखना नहीं लिखा और अगले जन्म पर विश्वास नहीं।'

ऐसी उन्मुक्त वर्जनाहीन टिप्पणियाँ वृत्तांत में बिखरी पड़ी हैं। यह कह सकना एक यात्री के लिए ही संभव है, सामान्यतया समाज इन्हें समाज-विरोधी ही करार देगा। यही नहीं, स्त्रियों के

सौंदर्य पर भी एक दो स्थानों पर इसी मुक्त भाव से राय प्रकट की गई हैं। मन की यह छंदमुक्तता अच्छे यात्रा-वृत्तांतों का गुण है। इस यात्रा-वृत्तांत में इसके दर्शन पग-पग पर होते हैं।

वैचारिक आग्रहों की सटीक अभिव्यक्ति

प्रत्येक लेखक के कुछ-न-कुछ वैचारिक आग्रह और दुराग्रह होते हैं। अक्सर साहित्यिक विधाओं में उनकी प्रत्यक्ष या परोक्ष अभिव्यक्ति को आपत्तिजनक माना जाता रहा है। लेकिन यात्रावृत्तांत ऐसी विधा है जिसमें वस्तुस्थिति पर सटीक टिप्पणी के कारण ये वैचारिक आग्रह एक आवश्यक हस्तक्षेप का रूप लेकर आते हैं। अपने विचारों को लेखक इस रूप में प्रकट करता है जैसे वह एक यात्री होने के कारण सहज भाव से टिप्पणी कर रहा हो। पाठक को यह वस्तुस्थिति के बयान का हिस्सा ही लगता है और असंगत नहीं मालुम होता।

हिंदी पाठक जानते हैं कि राहुल सांकृत्यायन विचारों से मार्क्सवादी लेखक हैं और उन्होंने सैद्धांतिक पुस्तकें लिखकर ही उनको प्रकट नहीं किया, अपने उपन्यासों, दर्शन-ग्रंथों, इतिहास ग्रंथों में भी उन्हें छिपाया नहीं है। लेकिन उनके विचारों का पाठक के साथ पूर्ण तादात्म्य देखना हो तो वह उनके यात्रा-वृत्तांतों में ही मिलेगा। इस वृत्तांत अंश में लेखक प्रारंभ से अंत तक ऐसी टिप्पणियाँ करता चलता है जो घटनाओं के प्रसंग में होते हुए भी आग्रहों में वैचारिक हैं। कुछेक उदाहरण लें तो सराहन नाम के इतिहास पर पंडित प्रवर मूर्खजपाटानंद के पोंगावाद पर टिप्पणी, भीमकाली के मठ में रामचंद्र जी के खजाने का प्रसंग, सरकारी बंगलों को यात्री निवासों में बदल देने की सिफारिश, ब्राह्मणों और देवताओं पर कटाक्ष, किन्नौर के अन्य लोगों की दशा पर सहृदय टिप्पणियाँ आदि। यही नहीं, अतीत में राजाओं के व्यवहार, अंग्रेज़ी साम्राज्यवाद की मार और वर्तमान में सरकारी तंत्र की जड़ता और संवेदनाहीनता में भी ये वैचारिक आग्रह स्पष्ट दिखाई पड़ते हैं।

1) 'किंतु सौभाग्य से सरकारी कायदे-कानून जैसे निष्ठुर होते हैं, वैसे उसके यह साधारण सेवक नहीं है। समझ में नहीं आता, दस पाँच दिन छोड़कर इन बहुधन-सम्पादित बंगलों को साल भर बंद रखने से सरकार ने क्या लाभ समझा है? सरकारी अफसरों को पहले स्थान मिले ठीक, आज्ञापत्र पाने वालों को भी पहिले स्थान दिया जाये, किंतु खाली बंगले को साधारण यात्री के लिए क्यों नहीं खोल दिया जाये?'

2) 'मैं जानता था राजा के विराज होने पर न जाने कितने घोड़े और साईस ही बेमालिक नहीं हुए हैं, बल्कि भीमकाली के प्रताप से जीने वाले सारे रावी गाँव के ब्राह्मणों में भी कुहराम मचा हुआ है, सरकार ने देवी के अस्सी हजार खर्च को घटाकर पन्द्रह हजार से कम कर दिया है। ब्राह्मण-देवता जरूर घर पर निराहार पुरश्चरण करते होंगे। उनके लिए इससे अच्छा तो फिरंगियों का राज्य था। अच्छा देवताओ, कोई पर्वा नहीं, तुम्हारे पास कपड़े में लिपटी वह सतयुग की पोथी है। सुनते हैं उसमें सोना नहीं पारस बनाने की विधि लिखी है।'

गहन ऐतिहासिक और भाषा बोध

एक सामान्य यात्री जहाँ स्थानों को दृश्य-वस्तु मानकर उनका आकलन करता है वहीं राहुल जैसा यात्री उसके ऐतिहासिक और भाषागत संदर्भ में जाता है। इस तरह यह वर्तमान रूप एक विशेष अर्थबोध से आलोकित हो उठता है। इसके लिए महापंडित राहुल सांकृत्यायन जैसी तैयारी भला और किस लेखक में होगी। उनके लिए तो हर स्थल का इतिहास, भाषा-मूल हाथ का मैल है जिसका कदम-कदम पर वे उपयोग करते हैं और अपने संदर्भों से पाठक को आश्चर्यचकित कर देते हैं। यात्रा में पड़े एक मामूली से गांव सराहन के संबंध में उनका यह विवरण देखने से बात स्पष्ट हो जाएगी :

'सराहन का सतयुग का इतिहास भी ढूंढ़ने पर मिल सकता है। द्वापर के अंत में जब श्रीकृष्णचंद्र आनंदकंठ द्वारिका में वास कर रहे थे, तो इसका नाम शोणितपुर था। यही प्रचंड-भुजदंड वाणासुर की राजधानी थी।.... प्राचीन नाम शोणितपुर और वर्तमान नाम सराहन के महत्व के बारे में इससे बढ़कर और क्या कहा जा सकता है? और प्रमाण चाहिए, तो वह स्वयं सराहन नाम में दिया है जो शोणितपुर से ही बिगड़कर बना है।'

लेकिन गाँव के नाम को ऐसे पौराणिक संदर्भों से जोड़ने की प्रवृत्ति के प्रति राहुल जी सजग हैं। इसलिए इस मनगढंत इतिहास की पोलपट्टी भी वे साथ-साथ खोलते जाते हैं :

'किस भाषा तत्व या व्याकरण के अनुसार, यहाँ के पंडित मूर्खजपाटानंद से पूछ लीजिए, जो यहां से थोड़ी सी नीचे के रावी गाँव में सतयुग की पोथी लेकर बैठे हुए हैं। इस पोथी को न इनकी हजार पीढ़ी पढ़ सकी हैं और न वह खुद। बल्कि वह पोथी तह पर तह कपड़ों से लिपटी सारे कलियुग में भी न खुली और यदि रामजी की इच्छा होगी, तो आग-वाग लगने पर कोयला बनकर ही खुलेगी।'

राहुल के यात्रा-वृत्तांतों की यह अपनी विशेषता है कि वे अपनी यात्राओं में दृश्य और अनुभवगम्य के वर्णन के साथ मानव-ज्ञान के समस्त स्रोतों से प्राप्त शोधों का उपयोग करते चलते हैं। इस नए ज्ञान-आलोक में स्थलों और जातियों का एकदम नया रूप पाठक को उपलब्ध होता है। इस प्रकार वे अपनी यात्रा में दृश्यमान से अनुभव और सामग्री ग्रहण ही नहीं करते बल्कि उसे साथ-साथ एक नया विशिष्ट अर्थ देते चलते हैं।

'पास के कटे खेत में अपनी रावटी डाले ग्यारह खम्पा पड़े थे। खम् तिब्बत में चीन की सीमा पर एक प्रदेश है। शायद इनके पूर्वज़ों में कुछ किसी समय खम् से खानाबदोशी करने इधर आए हों, किंतु अब यह न भाषा ही मे खम् के हैं, न वेशभूषा ही में। शायद इसीलिए इन्हें सिर्फ खम्पा (खम्बाला) न कहकर ग्यगर (भारत)-खम्पा कहते हैं।'

10.4 यात्रा-वृतांत की भाषा-शैली

यात्रा वृतांत जितना अपने कथ्य में नवीन होता है, उतना ही अपने रूप विधान में भी। वैसे तो प्रत्येक विधा दूसरी साहित्यिक विधाओं से कुछ-न-कुछ लेती ही है। लेकिन फिर भी वह उसे अपने अंतर्गत आत्मसात कर लेती है। लेकिन यात्रा वृतांत इतर विधा के तत्वों का उपयोग अत्यंत प्रत्यक्ष और मुखर रूप में करती है। इसीलिए उसका आधार तो यात्रा है लेकिन उसके अभिव्यक्ति के तमाम साधन दूसरी विधाओं के श्रेष्ठ गुणों से निर्मित होते हैं। उसका इस रूप में अध्ययन अत्यंत दिलचस्प और मनोरंजक है। यात्रा वृतांत की शैलीगत विशिष्टता में औपन्यासिक कथा तत्व, अतीत की यादें और वर्तमान का आख्यान और ज्ञान कोश का विवरण सभी कुछ पाया जा सकता है। राहुल सांकृत्यायन के यात्रा वृतांतों में तो ये विशेषताएँ खासतौर पर देखी जा सकती हैं।

राहुल के अन्य यात्रा-वृतातों की तरह यहां भी वर्तमान के वर्णन की शैली अपनाई गई है। उसे पढ़ते हुए यह लगता है कि हम भी उनके साथ-साथ यात्रा कर रहे हैं। क्योंकि यह वर्णन पहाड़ी यात्रा का है इसलिए उसमें शैली का प्रवाह भी पहाड़ी नदी जैसा ही है। वह थोड़े समय के लिए समतल पर मंद्र गति से चलती अवश्य है जब लेखक किसी घटना पर ठहरकर टिप्पणी करता है। लेकिन जैसे नदी मैदान की ओर पहाड़ से द्रुत गति से बहती है उनका वर्णन भी बड़ी तेजी से बढ़ता है। अनेक बार तो वह एक-दो वाक्यों में ही मीलों का सफर तय कर जाते हैं लेखक को यह अच्छी तरह मालूम है कि कहां ठहकर इत्मीनान से बात करनी है और कहां तेज़ी से मौन रहकर गुज़र जाना है।

बंगला बंद था। कोई मेला हो और पहाड़ी जवान वहाँ से अनुपस्थित हो, यह क्या कोई होनी बात है? मालूम हुआ - चौकीदार साहेब वहाँ गए हुए हैं, आज रात को शायद ही लौटें। मेला तो होता है किसी बड़े शक्तिशाली देवता का ही। किंतु उसमें डटकर शराब पीना, नाचना-गाना सबसे आवश्यक चीज़ है। आस-पास की सारी तरूण-सौंदर्य-राशि जहाँ राशिभूत होती है, फिर वहां नहीं यही बैकुन्ठा' मानने वाले क्यों पिछड़ेंगे।'

यही कारण है कि उसके पास अनावश्यक विवरणों के लिए समय नहीं है। थोड़े से समय में लंबी यात्रा पूरी करनी है और गंतव्य तक पहुंचना है। उदाहरण के लिए रामपुर से गौरा तक की नौ मील की यात्रा केवल दो वाक्यों में पूरी कर ली गई। इस तरह यह वृत्तांत अनावश्यक पुनरावृत्तियों से बचता हुआ यात्रा की गति के साथ ही अग्रसर होता जाता है।

इस वृत्तांत में यात्रा-वृत्तांतों में अपनाई जाने वाली प्रायः सभी शैलियों का उपयोग लेखक ने किया है। जहां उसे रूककर कोई कथा कहनी होती है, वहां लेखक कथा-तत्वों का प्रयोग करता है। उदाहरण क लिए वृत्तांत के प्रारंभ में ही रियासत की रानी मित्र की विधवा बहिन के यहां आतिथ्य ग्रहण करने की कथा, फिर सराहन की कथा आदि। जहां किसी प्रसंग को दीप्त करने क लिए संस्मरण का सहारा लेना पड़ता है, वहां लेखक अपने पूर्व के अनुभवों में जाता है। एक दो स्थानों पर उसे डायरी का रूप देने क लिए तिथि, सन, समय और वातावरण का परिचय भी दि गया है। 'मिति 18 मई, दिन मंगल, ईसवी साके 1948 का बाह्म मूहूर्त आया।'

यह कहने की अलग से आवश्यकता नहीं है कि राहुल यात्रा के पूरे पथ का वर्णन चित्रात्मक शैली में करते हैं।

अब चढ़ाई थी। धूप सीधे बायें से पड़ रही थी जिससे आड़ करने के लिए वृक्षों की छाया नहीं थी, पहाड़ वनस्पति विहीन न था। चढ़ाई नरम इसीलिए मालूम हो रही थी कि हम दूसरे की पीठ पर थे। चढ़ाई दो मील रही होगी या ज्यादा, उसे पूरा करने के बाद हम अवश्य देवदारूओं के सुंदर वन में थे। सारे रास्ते का वह सुंदरतम भाग था। सारा पर्वतगात्र तुंग सरल सदा हरित देवताओं से ढँका था। बीच-बीच में कुछ गाँव भी मिले। एक सड़क से नीचे पास ही था जिसमें मंदिर था।'

किन्नर देश की ओर की भाषागत विशेषता पर भी यहाँ संक्षिप्त चर्चा करना उपयुक्त होगा। महापंडित राहुल सांकृत्यायन केवल रचनाकार ही न थे, प्राचीन भारतीय भाषाओं, साहित्य और दर्शन के भी विद्वान थे। यही कारण है कि उनकी भाषा पर इसका प्रभाव साफ तौर पर देखा जा सकता है। उनकी भाषा में एक तरह की बोलचाल की रवानगी है, लेकिन बीच-बीच में ऐसे शब्द और पद आ जाते हैं जो आम पाठक के लिए दुरुह साबित हो सकते हैं। उदाहरण के लेए, 'कादम्बरी में वर्णित इंद्रायुध' का उल्लेख, या 'किन्नर देश की स्वयं प्रसूता उदुंबरवर्णा द्राक्षी मदिरा'। वैसे उन्हें किसी प्रकार के शब्दो से परहेज नहीं है। हर तरह के शब्दों का वे यथा स्थान उपयोग करते हैं।

यात्रा-वृत्तांतों की सभी सामान्य कथ्यगत और शैलीगत विशेषताओं से संपन्न होते हुए भी राहुल जी के वृत्तांतों की कुछ सीमाओं का उल्लेख आवश्यक है। संभव है एक पेशेवर यात्री की दृष्टि से ये सामान्य बातें हों लेकिन पाठक की दृष्टि से ये बातें यात्रा की प्रेरणा को आहत करने वाली और वृत्तांत के प्रभाव को आतंककारी बना देने वाली हैं।

उनकी सबसे बड़ी खामी तो यही है कि उनका यात्रा-वृत्तांत इतनी अधिक सामग्री को समाहित किए रहता है कि उसके कारण यात्रा का भौतिक पक्ष अत्यंत प्रधान हो उठता है और उसका साहित्यिक और कला-पक्ष गौण हो जाता है। संभव है ऐसा उनकी अनगिनत यात्राओं की व्यस्तताओं के बीच साहित्यिक सजाव-संवार के लिए समयाभाव से हुआ हो। किंतु पाठक

यात्रा-वृत्तात के साहित्यिक पक्ष का रसास्वादन करने की अपेक्षा रखते हुए अनवरत विस्तार के बीहड़ में खो जाता है।

आपने भी इस वृत्तांत को पढ़ते हुए यह अनुभव किया होगा कि लेखक के पास अनुभव और ज्ञान का विशाल भंडार है जिसका वह मुक्त उपयोग वृत्तांत के दौरान करता चलता है। पाठक को उस सबको साथ-साथ आत्मसात करते जाने में कठिनाई होती है। इसलिए इसका प्रभाव उस पर आनंददायक न रहकर आतंक के रूप में पड़ता है। यात्रा-वृत्तांत जैसी मनोरंजक विधा के लिए यह कोई वरेण्य बात नहीं कि वह पाठक के मन-बुद्धि पर अतिरिक्त बोझ डाले।

इसके बावजूद प्रस्तुत यात्रा-वृत्तांत पठनीय है और पाठक के अनुभव-ज्ञान को समृद्ध करता है।

10.5 सारांश

किन्नर देश की ओर यात्रा-वृत्तांत का विश्लेषण मूल्यांकन करने पर जो बातें स्पष्ट होती हैं, वे इस प्रकार हैं :

आधुनिक हिंदी में यात्रा वृतांतों का प्रारंभ भारतेंदु काल में हुआ। तबसे लगातार यात्रा वृतांत का विकास होता गया और उसकी एक अच्छी खासी परंपरा बन गई। इसमें राहुल सांकृत्यायन का योगदान अत्यंत महत्वपूर्ण है।

यात्रा-वृत्तांत में लेखक राहुल सांकृत्यायन की छवि एक ऐसे आदर्श यात्री के रूप में उभरती है जिसमें यात्रा की तमाम बाधाओं का सामना करने का अदम्य साहस है और अनंत जिज्ञासा है। यात्रा के दौरान अपनी टिप्पणियों में वे अत्यंत उन्मुक्त और उदारचित व्यक्ति के रूप में सामने आते हैं। उनके वैचारिक आग्रह घटनाओं और परिस्थितियों में हस्तक्षेप के क्रम में अत्यंत सहज और सटीक बनकर प्रकट होते हैं। उनके वृत्तांत में इतिहास, वर्तमान, भाषा-बोध की चेतना दिखाई पड़ती है।

राहुल जी ने यात्रा-वृत्तांत के लिए अपनाई जाने वाली सभी शैलियों का प्रयोग किया है। औपन्यासिक कथा तत्व, अतीत का संस्मरणात्मक बयान, डायरी शैली और चित्रात्मकता प्रमुख हैं। राहुल जी की भाषा में विद्वता और रचनात्मकता दोनों के दर्शन होते हैं।

यात्रा-वृत्तांत की कुछ सीमाएं भी पाठक के पक्ष से सामने आती हैं जिनमें घटनाओं का आधिक्य, ज्ञान के उपयोग का बाहुल्य और साहित्यिक पक्ष का गौण हो जाना है।

अभ्यास

1. राहुल सांकृत्यायन के यात्रावृतांत **किन्नर देश की ओर** की विशेषताओं का विवेचन कीजिए।
2. **किन्नर देश की ओर** की शैली और भाषागत विशेषताओं का सोदाहरण उल्लेख कीजिए।
3. यात्रा वृतांत की विशिष्टता बताते हुए इस साहित्यिक विधा में राहुलजी के योगदान का महत्व उजागर कीजिए।

इकाई 11 रिपोर्ताज़ : अदम्य जीवन

इकाई की रूपरेखा

11.0 उद्देश्य
11.1 प्रस्तावना
11.2 विधा के रूप में रिपोर्ताज
11.3 रिपोर्ताज की परंपरा
11.4 तूफानों के बीच : एक विहंगम दृष्टि
11.5 अदम्य जीवन : मूल संवेदना
11.6 अदम्य जीवन : शिल्पगत विशेषताएँ
11.7 अदम्य जीवन : मूल्यांकन
11.8 सारांश

11.0 उद्देश्य

एम.ए. हिंदी के बीज पाठ्यक्रम-4 'नाटक और अन्य गद्य विधाएँ' के छठे और अंतिम खंड की यह दूसरी इकाई है। पाठ्यक्रम की यह पच्चीसवीं इकाई हैं। इस इकाई में हिंदी के सुप्रसिद्ध कथाकार स्व. रांगेय राघव द्वारा लिखित रिपोर्ताज अदम्य जीवन पर विचार किया गया है।

रिपोर्ताज यद्यपि पत्रकारिता से संबंधित विधा है लेकिन इसका एक रचनात्मक विधा के रूप में भी प्रयोग होता रहा है। इकाई में आप रिपोर्ताज की विशिष्टताओं की जानकारी प्राप्त करेंगे।

हिंदी में रिपोर्ताज की विधा के आरंभ और विकास की जानकारी प्राप्त करके आप रांगेय राघव द्वारा लिखे गए रिपोर्ताजों की पृष्ठभूमि और विशेषताओं को समझ सकेंगे।

रांगेय राघव के रिपोर्ताज अदम्य जीवन की सामान्य विशेषताओं को समझना भी आवश्यक है, जिनकी चर्चा इकाई में की गई है और उसके बाद अदम्य जीवन की संवेदनागत और वस्तुगत तथा शिल्पगत विशेषताओं का विवेचन किया गया है। इस प्रकार इकाई के अध्ययन से आपको रिपोर्ताज विधा और पठित रिपोर्ताज को समझने में मदद मिलेगी।

11.1 प्रस्तावना

प्रस्तुत इकाई एम.ए. (हिंदी) पाठ्यक्रम-4 के छठे खंड की दूसरी इकाई है। इस इकाई से पूर्व आप राहुल सांकृत्यायन द्वारा लिखित यात्रा वृतांत किन्नर देश की ओर से संबंधित इकाई का अध्ययन कर चुके हैं। इस इकाई का संबंध रांगेय राघव के रिपोर्ताज अदम्य जीवन से है। इकाई के आरंभ में रिपोर्ताज विधा पर विचार किया गया है। रिपोर्ताज के स्वरूप निर्धारण में किन-किन तत्वों की क्या भूमिका रहती है और आलोचकों ने उनका मूल्यांकन किस रूप में किया है। इकाई में रिपोर्ताज की परंपरा का विकास भी दर्शाया गया है। इकाई के अगले भाग में रांगेय राघव की रिपोर्ताज पुस्तक 'तूफानों के बीच' पर विचार किया गया है। अदम्य जीवन इसी संग्रह में संकलित है। अतः पूरी कृति के संदर्भ में लेखक की रचना दृष्टि और उसके उद्देश्य आदि पर विचार किया गया है जो अदम्य जीवन के मूल्यांकन में हमारे लिए सहायक है। अगले भाग में अदम्य जीवन के संवदेनात्मक पक्ष पर विचार किया गया है। अदम्य जीवन में चित्रित यथार्थ, युगीन समस्याएँ तथा मानव की संघर्षशील जिजीविषा में लेखक की अटूट आस्था को रिपोर्ताज से उद्धृत विभिन्न पंक्तियों के माध्यम से स्पष्ट किया गया है।

अदम्य जीवन की शिल्पगत विशेषताओं पर भी इकाई में विचार किया गया है। शिल्प की दृष्टि से इस रिपोर्ताज में क्या विशिष्ट है। परिवेश एवं भाषा का कैसा अनूठा प्रयोग यहाँ हुआ है। अदम्य जीवन में शिल्प के इसी वैशिष्ट्य को रेखांकित किया गया है। इस इकाई के अध्ययन से आपको उक्त रिपोर्ताज को समझने में मदद मिलेगी।

11.2 विधा के रूप में रिपोर्ताज

हिंदी साहित्य का आधुनिक काल गद्य के विकास का काल है। इस युग में न केवल पारंपरिक गद्य विधाओं, जैसे कि - उपन्यास, कहानी, नाटक आदि का विकास हुआ बल्कि कुछ नवीन विधाओं का भी जन्म हुआ जिनमें जीवनी, आत्मकथा, रिपोर्ताज, यात्रा-वृत्तांत आदि प्रमुख हैं। जीवन और साहित्य के गहरे संबंधों से निःसृत रिपोर्ताज आधुनिक जीवन और साहित्य की एक महत्वपूर्ण विधा है। एक ओर इसका लेखक वैज्ञानिक युग की तीव्रगामी वास्तविकता के साक्षात्कार से आधुनिक व्यक्ति की जिज्ञासा वृत्ति को शांत करता है। दूसरी ओर जब वह मनुष्य और उसके दर्द से रिश्ता जोड़ता है तो सतही वास्तविकता और तथ्यपरकता का स्थान गहन अनुभूति ले लेती है। इसी अनुभूति के सहारे रचनाकार मानव मूल्यों और संबंधों की गहरी पड़ताल करता है। घटनात्मकता और अनुभूति के इसी समंजन से विकसित साहित्य रूप है - रिपोर्ताज।

रिपोर्ताज अंग्रेज़ी शब्द रिपोर्ट का समानार्थी फ्रांसीसी शब्द है जो इसी रूप में हिंदी में भी ग्रहण किया गया। 'रिपोर्ट' होने के नाते घटना का यथातथ्य वर्णन रिपोर्ताज का प्रमुख लक्षण है लेकिन जैसा कि समीक्षकों ने बल दिया और 'हिंदी साहित्य कोश' में इसे परिभाषित करते हुए लिखा गया :

'रिपोर्ट के कलात्मक और साहित्यिक रूप को ही रिपोर्ताज कहते हैं।'

तात्पर्य यह है कि रिपोर्ताज ऐसी 'रिपोर्ट' है जिसमें साहित्यिकता एवं कलात्मकता का समावेश हो। अब सवाल यह है कि ऐसे कौन से तत्व हैं जो एक रिपोर्ट को, घटना के वर्णन को श्रेष्ठ, कलात्मक, साहित्य रूप बनाते हैं? अधिकांश साहित्यकारों का मानना है कि रिपोर्ताज में भावना का आवेग होता है, वह आवेग जो मनुष्य के संघर्ष को देखकर जन्म लेता है।

अतः रिपोर्ताज के केंद्र में जो घटना या तथ्य रहता है उसका संबंध मनुष्य और उसके संघर्ष से होता है।

'रिपोर्ताज का स्वरूप' घटनापरक होते हुए भी सृजनात्मक एवं साहित्यिक है। घटना के यथातथ्य विवरण पर बल देते हुए भी यहां 'तथ्य' को तरशता और आकार देता है मानव सत्य रिपोर्ताज में घटना का सतही रूप नहीं रहता, जो घट रहा है मात्र उतना ही सच नहीं है घटना यहां एक 'संकुल प्रक्रिया' है (विश्वम्भरनाथ उपाध्याय, जलते और उबलते प्रश्न, 233) युग संघर्ष, युग चेतना, मनुष्य और उसका समाज, ह्रास-विकास की तमाम शक्तियाँ उसके भीतर सन्निहित रहती है।

रिपोर्ताज में जहाँ मानवीय संवेदनाएँ और मानवीय सरोकार इतने महत्वपूर्ण हैं वहीं लेखक के दृष्टिकोण का भी महत्वपूर्ण योगदान है। साहित्यकार अपने रचना कर्म का निर्वाह सजग युग द्रष्टा और युग स्रष्टा होकर करता है। घटना की सतह के भीतर देख पाने की रचनाकार की दृष्टि जितनी गहन होगी, उतनी ही उसकी रचना अधिक विश्वसनीय और प्रामाणिक होगी वस्तुतः रिपोर्ताज में लेखक का दृष्टिकोण ही वस्तुगत सत्य को प्रभावी रूप प्रदान करता है बाबू गुलाबराय ने इसे ही 'लेखक का उत्साह' कहा है। रिपोर्ताज के विषय में वे लिखते हैं :

रिपोर्ट की भाँति यह घटना या घटनाओं का वर्णन तो अवश्य होता है किंतु उसमें लेखक के हृदय का निजी उत्साह रहता है जो वस्तुगत सत्य पर बिना किसी प्रकार का आवरण डाले उसको प्रभावमय बना देता है।' (काव्य के रूप)

यहाँ इस बात पर ध्यान देना आवश्यक है कि लेखक का दृष्टिकोण इतना हावी नहीं होना चाहिए कि वह मूल कथ्य को ही आच्छादित कर ले। 'लेखक के उत्साह' की व्याख्या करते हुए समीक्षकों ने उसे लेखक की पक्षधरता का पर्याय माना है। डॉ. विश्वम्भरनाथ उपाध्याय के शब्दों में :

... परिप्रेक्ष्य के प्रति पक्षधरता अथवा प्रतिबद्धता के बिना रिपोर्ताज में लेखक का उत्साह व्यक्त नहीं हो सकता।' (जलते उबलते प्रश्न)

डॉ. रामविलास शर्मा भी मानते हैं कि 'कल्पना के सहारे रिपोर्ताज नहीं लिखा जा सकता ... रिपोर्ताज लिखने के लिए जनता से सच्चा प्रेम होना चाहिए।' (कथा विवेचना और गद्य शिल्प)

इस प्रकार रिपोर्ताज में लेखक अपने विचारों, भावों एवं अनुभूतियों के स्पर्श से घटना के वर्णन को प्रभविष्णुता प्रदान करता है।

रिपोर्ताज का संबंध वर्तमान से होता है। इसलिए कुछ समीक्षक तात्कालिकता को रिपोर्ताज का आवश्यक तत्व मानते हैं। पत्रकारिता से जुड़े होने के कारण रिपोर्ताज किसी भी घटना की तात्कालिक रिपोर्ट होती है या फिर किसी भी घटना पर लेखक की तीव्र भावात्मक प्रतिक्रिया। इसी संदर्भ में कहा जाता है कि रिपोर्ताज यथार्थ पर अवस्थित विधा है और यही तत्व उसे जीवंतता प्रदान करता है लेकिन इसका वर्तमान, भूत और भविष्य से कटा हुआ नहीं होता। डॉ. विश्वम्भरनाथ उपाध्याय के शब्दों में :

उसका संबंध सिर्फ वर्तमान से होता है किंतु उसका लेखक वर्तमान के उस बिंदु पर होता है, जिसमें भूतकालीन मूल्य और भावनाएँ रहती हैं और भविष्य के प्रति उत्कट लालसा भी।' (जलते और उबलते प्रश्न)

इस प्रकार, रिपोर्ताज एक संश्लिष्ट विधा है जिसमें जीवन और इतिहास के अनेक धरातल किसी एक घटना, एक समय बिंदु पर केंद्रित होकर उसे उद्भासित करते हैं।

रिपोर्ताज के लेखक का उद्देश्य अपने वर्ण्य विषय को एक सजीव अनुभव के रूप में प्रस्तुत करना होता है। परिणामतः रिपोर्ताज का प्रस्तुतीकरण भी उसके लेखक से अतिरिक्त रचना सामर्थ्य की अपेक्षा रखता है। रिपोर्ताज में आँखों देखी घटना का वर्णन होता है लेकिन कभी-कभी जब कानों सुनी घटना पर रिपोर्ताज लिखा जाता है तब यह भी जरूरी होता है कि लेखक को घटना के इतिहास और परिवेश का प्रत्यक्ष अनुभव हो जिसके बल पर वह मनसा साक्षात्कार कर घटना को शब्द चित्र के रूप में सजीव कर दे। ... परिवेश के प्रति भी उसमें एक गहरा रागात्मक लगाव होता है। प्रामाणिकता के लिए वह स्थिति विशेष को उसकी स्थानगत व कालगत विशिष्टताओं के साथ उभारता है। उसका परिवेश चित्रण एक सहज आंतरिकता से संपन्न होता है। पूरे परिवेश को लेखक रचना के भीतर इस रूप में अनुस्यूत करता है कि रिपोर्ताज में रोचकता व सरसता के गुण स्वतः ही आ जाते हैं।

किसी भी रचना को सजीव बनाने में जीवत भाषा की सक्रिय भूमिका रहती है। रिपोर्ताज घटनाओं का शब्द चित्र है। अतः उसकी भाषा सजीव, मर्मस्पर्शी एव संवेदना जागृत करने वाली होती है। शब्दों की विशिष्ट गति व वेग घटना का पूर्ण बिम्ब प्रस्तुत कर देते हैं। रिपोर्ताज की भाषा अपनी प्रवाह पूर्णता में घटना के अतीत को अनावृत करती, वर्तमान का साक्षात्कार

कराती और भविष्य की ओर संकेत करते हुए अनेक भंगिमाएँ धारण करती है तथा रचना की प्राणशक्ति बनकर पूरे अनुभव को सजीव एवं प्रत्यक्ष कर देती है।

सारतः कहा जा सकता है कि रिपोर्ताज आधुनिक हिंदी गद्य की एक नवीन विधा है। इसके केंद्र में 'घटना' का वह स्वरूप रहता है जो व्यापक मानवीय सत्य से जुड़कर चिरस्थायी साहित्य रूप में बदल जाता है। 'तथ्य' को 'सत्य' में परिवर्तित करने में लेखक के दृष्टिकोण का विशेष महत्व है। लेखक का दृष्टिकोण अतिवाद से परे लेखक की पक्षधरता का परिचायक है। वर्तमान पर केंद्रित होते हुए भी रिपोर्ताज घटना के इतिहास और उसके भविष्य-निर्देशों से जुड़ा रहता है। अपनी विशिष्ट रचना सामर्थ्य के बल पर रिपोर्ताज का लेखक अपने वर्णन और विवरणों में ऐसी प्रभाव क्षमता उत्पन्न करता है कि पूरी घटना एक जीवंत अनुभव में परिवर्तित हो जाती है।

11.3 रिपोर्ताज की परंपरा

विधा के रूप में 'रिपोर्ताज' का विकास द्वितीय विश्वयुद्ध से संबद्ध है। द्वितीय विश्वयुद्ध के समय साहित्यकारों ने युद्धक्षेत्रों से महायुद्ध की विभीषिका का ऐसा जीवंत वर्णन प्रस्तुत किया कि पूर्व प्रचलित 'रिपोर्ट' की विधागत सीमाओं को तोड़कर 'रिपोर्ताज' नामक साहित्यिक विधा का जन्म हुआ। इन लेखकों ने एक ओर, मनुष्य की मानवीयता को झकझोरा तो दूसरी ओर राष्ट्रीय भावना से ओत-प्रोत अपने देश के साहसी योद्धाओं के पराक्रम एवं बलिदान का आँखों देखा वर्णन प्रस्तुत किया।

हिंदी में रिपोर्ताज की परंपरा का प्रारंभ दिसम्बर 1938 में 'रूपाभ' में प्रकाशित शिवदान सिंह चौहान की रचना 'लक्ष्मीपुरा' से माना जाता है। कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर' का नाम भी उल्लेखनीय है। वे बहुत पहले से रिपोर्ताज लिख रहे थे जिनका संकलन 1953 में 'क्षण बोले कण मुस्काए' नाम से प्रकाशित हुआ। वस्तुतः इस विधा का महत्व समझकर उसके विकास का मार्ग प्रशस्त करने का श्रेय श्री शिवदानसिंह चौहान को ही है। 'हंस' पत्रिका के तत्कालीन संपादक के रूप में उन्होंने 'अपना देश' नामक स्थायी स्तंभ प्रारंभ किया जिसमें प्रतिमास एक रिपोर्ताज प्रकाशित होता था। शिवदान सिंह चौहान द्वारा रचित रिपोर्ताज 'मौत के खिलाफ़ जिंदगी की लड़ाई' - इस स्तंभ की पहली कड़ी के रूप में प्रकाशित हुआ है। 'हंस' पत्रिका में ही 'समाचार और विचार' नाम से एक और स्तंभ निकलता था, इसमें प्रस्तुत सामग्री भी रिपोर्ताज की ही होती थी।

1944 में ही 'विशाल भारत' में रांगेय राघव ने बंगाल के अकाल पर **अदम्य जीवन शीर्षक** से स्थायी महत्व के रिपोर्ताज लिखे जो बाद में 'तूफानों की बीच' नाम से संकलित किए गए। इस युग में प्रकाशचन्द्र गुप्त तथा अमृतराय आदि लेखक भी इस विधा में सक्रिय योगदान दे रहे थे लेकिन इस क्षेत्र में रांगेय राघव की अद्वितीयता तथा 'तूफानों के बीच' के ऐतिहासिक महत्व को स्वीकार करते हुए अमृतराय ने लिखा :

'जहाँ तक मैं जानता हूँ रांगेय राघव के उन्हीं रिपोर्ताजों से हिंदी में रिपोर्ताज लिखने का चलन शुरू हुआ। मैंने और दूसरों ने रिपोर्ताज लिखे, लेकिन जो बात रांगेय राघव के लिखने में थी वह किसी को नसीब न हुई।' (रांगेय राघव का रचना संसार)

स्वातंत्र्योत्तर युग में इस विधा की ओर और भी लेखकों का रूझान हुआ। रामकुमार वर्मा कृत 'यूरोप के स्केच' में संस्मरण, रेखाचित्र और रिपोर्ताज के मिले जुले तत्व दिखाई पड़ते हैं। लक्ष्मीचंद्र जैन के रिपोर्ताज संग्रहों - 'कांगज की किश्तियाँ' तथा 'नये रंग नये ढंग' में दृष्टि की सूक्ष्मता तथा गहरे अध्ययन की पृष्ठभूमि दिखाई पड़ती है। स्वातंत्र्योत्तर भारत की स्थितियों पर अमृतराय ने 'हंस' में जो रिपोर्ताज लिखे वे सब 'लाल धरती' शीर्षक से संकलित हुए।

युद्ध की पृष्ठभूमि पर बहुत से रिपोर्ताज लिखे गए। 1966 में भारत-पाकिस्तान युद्ध की आधारभूमि पर शिवसागर मिश्र ने 'लड़ेंगे हजार साल' शीर्षक से रिपोर्ताज लिखे। धर्मयुग पत्रिका में 1972 में धर्मवीर भारती के रिपोर्ताज 'ब्रह्मपुत्र की मोर्चाबंदी' और 'दानव की वृत्ति' नाम से आए, जो बाद में 'युद्ध क्षेत्रे मुक्त क्षेत्रे' शीर्षक से प्रकाशित हुए।

फणीश्वरनाथ रेणु के निबंध संग्रह 'श्रुत अश्रुत पूर्व' में 'एकलव्य के नोट्स' तथा 'नेपाल मेरीसानोआमा' नामक रिपोर्ताज संग्रहीत है। रेणु के अन्य प्रमुख रिपोर्ताज संग्रह हैं - 'ऋणजल धनजल', 'नेपाली क्रांतिकथा'। रेणु के रिपोर्ताजों में भावना की दुनिया का एक नया संदर्भ है, जिसमें अनेक क्रांतिकथाएँ उभर कर आई हैं।

स्वातंत्र्योत्तर भारत के गाँवों के दुःख दर्द की अभिव्यक्ति है विवेकीराय के रिपोर्ताज : 'जुलुस रुका है'। मणि मधुकर के रिपोर्ताज संग्रह 'पिछला पहाड़' तथा 'सूखे सरोवर का भूगोल' रेगिस्तान के जीवन से संबद्ध हैं। इनमें मरुभूमि के जीवन संघर्षों को लेखक ने मानवीय सहानुभूति के साथ उभारा है। अज्ञेय के संग्रह 'देश की मिट्टी बुलाती है' में भी कुछ श्रेष्ठ रिपोर्ताज संकलित हैं जिनमं 'जापानी युद्धबंदियों के साथ' का स्थायी महत्व है।

इस प्रकार रिपोर्ताज विधा को विकसित करने में विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं तथा साहित्यकारों का अत्यंत महत्वपूर्ण योगदान है। इन्हीं के सतत प्रयासों से रिपोर्ताज अपने वैशिष्ट्य को स्थापित करते हुए, एक साहित्य विधा के रूप में अपनी अलग पहचान बना सका है।

11.4 तूफानों के बीच : एक विहंगम दृष्टि

हिंदी रिपोर्ताज साहित्य में रांगेय राघव की रचना 'तूफानों के बीच' का स्थायी महत्व है। रिपोर्ताज विधा की दृष्टि से हिंदी में यह पहला सशक्त प्रयास है। आलोचकों ने भी इसके मौलिक व अविस्मरणीय योगदान को स्वीकार किया है। द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान 1942 में भयंकर अकाल पड़ा। बंगाल की शस्य श्यामला भूमि - भूख, रोग और मृत्यु के संत्रास से कराह उठी लेकिन यह अकाल प्राकृतिक विपदा भर नहीं था, साम्राज्यवादी ताकतों की शोषणपरक नीतियों का परिणाम था। 'तूफानों के बीच' की भूमिका में रांगेय राघव लिखते हैं :

"बंगाल का अकाल मानवता के इतिहास का बहुत बड़ा कलंक है। शायद क्लियापैट्रा भी धन के वैभव और साम्राज्य की लिप्सा में अपने गुलामों को इतना भीषण दुःख नहीं दे सकी जितना आज एक साम्राज्य और अपने ही देश के पूंजीवाद ने बंगाल के करोडों आदमी, औरतों और बच्चों को भूखा मार कर दिया है।" (रांगेय राघव ग्रंथावली, भाग-8)

बंगाल के इस भीषण अकाल से लड़ने के लिए अपना कर्त्तव्य समझकर डॉ. कुंटे के नेतृत्व में एक मेडिकल जत्था आगरा से बंगाल गया। डॉ. रांगेय राघव एक लेखक के रूप में इस जत्थे के साथ गए। वहां लेखक ने जो कुछ देखा उसी का मार्मिक विवरण है - 'तूफानों के बीच'।

रांगेय राघव जनचेतना के सजग रचनाकार हैं। मनुष्य और उसका मनुष्यत्व उनके चिंतन के केंद्र में है। मानवीय मूल्यों के पक्षधर लेखक के रूप में मनुष्य की सार्थकता उसके समाज-संवेद्य होने में ही मानते हैं। इसी विचारधारा को प्रमाणित करने वाली कृति है 'तूफानों के बीच।' बंगाल का अकाल लेखक के लिए मात्र घटना और आंकड़ों तक सीमित नहीं था। उसने उन लोगों के साथ उस विभीषिका के संत्रास और पीड़ा को झेला था। वह द्रष्टा भी था और भोक्ता भी। उनकी पीड़ा का अनुभव करते हुए उसने लिखा - "उनके चेहरों पर जैसे दुख की खुली किताब थी जो भी इंसानियत का थोड़ा बहुत मादा रखता है वह आसानी से पढ़ सकता है उसको।" रांगेय राघव में निश्चय ही वह 'इंसानियत' थी। 'तूफानों के बीच' के रचनाकार में

वह अनुभूति है जो भूख की पीड़ा का अनुभव कर सकती है। उनमें वह वेदना है जो जीवन को देखने की एक नई दृष्टि देती है। उनमें वह विवेक है जो भूख, रोग और मृत्यु के बीच ऐसा शब्द चित्र खींचता है जो करूणा एवं यथार्थ का जीवत दस्तावेज़ बन गया है।

'तूफानों के बीच' अकाल के उस यथार्थ का रूप प्रस्तुत करता है जहाँ मनुष्य के जीवन का एकमात्र लक्ष्य मुट्ठी-भर अनाज है। उसके समक्ष सब कुछ असंगत हो जाता है - रागात्मक संबंध, नैतिक मान्यताएँ, मानवीय मूल्य। अस्तित्व का संकट सबसे बड़ा संकट दिखाई पड़ता है। विपत्ति और निराशा के घने कुहरे से घिरकर भी मनुष्य का साहस अपराजेय है। वह संघर्ष करता है क्योंकि मानवता जीवित रहना चाहती है।

रांगेय राघव बंगाल के अकाल को भारतीय स्वाधीनता से जोड़कर देखते हैं। उनके अनुसार :
'बंगाल की भुखमरी तब तक समाप्त नहीं होगी जब तक हमारा देश आजाद नहीं हो जाएगा और मेरा विश्वास है कि इस भूख के विरुद्ध लड़कर जनता ने अपनी महान शक्ति का परिचय दिया है, जिससे हमें एक नया साहस भरकर हुंकार उठना चाहिए।'

लेखक ने पराधीनता और जनशक्ति को अपने युग की दो बड़ी सच्चाइयों के रूप में पहचाना है। लेखक का आक्रोश अंग्रेज़ी शासन और उसके संरक्षण में पल्लवित होते पूंजीपतियो के विरुद्ध है जिन्होंने व्यापक जनहित की उपेक्षा करते हुए चोर-बाज़ारी और मुनाफाखोरी को प्रश्रय दिया। बंगाल का व्यापक नर-संहार अंग्रेज़ी-शासन और ऐसे ही व्यापारियों की दुरभिसंधि का परिणाम था लेकिन क्रांति को चिरजीवी रखने के आकांक्षी जनमानस ने हार नहीं मानी। यदि एक ओर वे नर-पिशाच थे जो मनुष्य को मरते देखकर भी चुप थे। रुपये की खन-खन में जो अपनी सारी सभ्यता और सारा मनुष्यत्व भूलकर राक्षसी आंख तरेरा करते थे तो दूसरी ओर ऐसे लोगों की संख्या भी कम न थी जो मनुष्य को मरने देना नहीं चाहते थे। एक विज्ञ लेखक की भांति रांगेय राघव संपूर्ण परिप्रेक्ष्य को परत-दर-परत उघाड़ते चलते हैं। उनकी गहरी अंतर्दृष्टि इतिहास, परंपरा, समाज, व्यक्ति और मानवता सबको एकसूत्र में पिरोकर इस दुर्भिक्ष की विभीषिका के विरुद्ध मानवीय सामर्थ्य को शब्दबद्ध करती है। उनके एक-एक शब्द में लेखक की सच्चाई और ईमानदारी झलकती है। जनता की अपराजेय शक्ति में उनकी अटूट निष्ठ एक नया विश्वास उत्पन्न करती है।

कुल मिलाकर 'तूफानों के बीच' रांगेय राघव का एक सफल एवं सार्थक प्रयास है जिसमें लेखक ने अकाल की विभीषिका को शब्दबद्ध किया है। अंग्रेज़ों और पूंजीपतियों के गठजोड़ को उसके लिए उत्तरदायी माना है। अकाल के परिणामस्वरूप विभिन्न समस्याओं से जूझते मनुष्य की संघर्षशील जिजीविषा से साक्षात्कार किया है।

11.5 अदम्य जीवन : मूल संवेदना

'तूफानों के बीच' में संकलित रिपोर्ताज **अदम्य जीवन** शिद्धिरगंज नामक गाँव पर केंद्रित है शिद्धिरगंज के माध्यम से यह बंगाल के दारुण यथार्थ का साक्षात्कार है।

रांगेय राघव की मानवतावादी जीवन-दृष्टि से अनुप्राणित **अदम्य जीवन**, 'तूफानों के बीच' क प्रतिनिधि रिपोर्ताज कहा जा सकता है। यह कृति की मूल संवेदना का वाहक रिपोर्ताज है बंगाल का अकाल, अकाल के कारण तथा अकाल जन्य स्थितियों का मार्मिक चित्रांकन - यहं अपनी समग्रता में उपस्थित है। भूख, रोग और मृत्यु का साम्राज्य और उनसे जूझता मनुष्य स्थितियों की प्रतिकूलता के बावजूद मनुष्य की संघर्षमय चेतना ही सत्य है। लेखक उसी क गुणगान व अभिनंदन करता है।

अदम्य जीवन में चित्रित यथार्थ भयावह है। 'मृत्यु' इस यथार्थ का सबसे बड़ा सच है। गाँव की सीमा शुरू होने से पूर्व कब्रें शुरू हो जाती हैं :

'फोड़ों की तरह वे कबें जगह-जगह सूजी हुई सी दिखाई दे रही थीं।'

एक-एक कब्र में दो-दो, तीन-तीन लाशें एक साथ दफनाई गई। हर घर में मौत हुई थी। तीस-चालीस लोग प्रतिदिन मृत्यु की भेंट चढ़ जाते। आंकड़े भयावह थे। रहम्त के घर में पच्चीस आदमी थे और उनमें से बीस मर गए थे, आदू मियाँ के घर में उन्नीस आदमी थे और सब मर गए थे, एक मां के छः बच्चे अनाज और दवा के अभाव में उसकी आँखों के सामने चल बसे, अब्दुर्रहमान के घर में सोलह आदमी थे और उनकी मृत्यु की त्रासदी झेलने को वह अकेला बचा था। इस पर भी, किसी का रोना-कराहना शेष नहीं बचा। जीवन के अभावों से जूझते आँखों की नमी सूख गई है। लेखक से उन्हें बस यही अपेक्षा है कि वह एक-एक कब्र से बात करे और जुलाहों के चूहों की तरह मरने की व्यथा-कथा सारे संसार को सुनाये।

रांगेय राघव जैसे रचनाकार के लिए भी यह स्थिति मात्र घटना के विवरण तक ही सीमित नहीं रही है वरन् उनकी मानवीय चेतना मनुष्य को मृत्यु के सत्रांस से इस तरह संघर्ष करता देख अत्यंत विफल हो गई :

....आँखों के सामने एक बारगी उनमें सोए कंकाल तड़प उठे और नाच उठे यातना से व्याकुल, भूख से तड़प-तड़पकर मरते हुए प्राणियों के चित्र।'

एक तरफ मृत्यु का यह आतंकपूर्ण रूप है तो दूसरी और बीमारियों की भीषण यंत्रणा ने अकाल की स्थिति को और भी दुस्सह बना दिया। मलेरिया, चेचक और चर्म रोग जैसी बीमारियों से जूझने के उनके पास कोई साधन नहीं है। सहायता के नाम पर एक सरकारी दवाखाना अवश्य था, न तो कोई दवाइयाँ थीं, न मरीजों की खास तवज्जह और इस पर भी शासकीय मत की पुष्टि करता असिस्टेंट डाक्टर 75 फ़ीसदी आदमियों की हालत सुधारने का दावा करता है। जबकि रोग से ज़र्जर प्रतीक्षारत रोगी, उनकी बुझी आँखें, उभरी पसलियाँ और भयानक चर्म-रोग एक अलग कहानी कहते हैं। स्वयंसेवी संस्थाओं द्वारा भेजी गई सहायता भी अत्यंत अपर्याप्त थी। डॉ. कूंटे के नेतृत्व में गया एक मेडिकल जत्था और फ्रेंण्ड्स एम्बुलेंस यूनिट द्वारा चलाया जा रहा एक लंगरखाना जहाँ सौ बच्चों में मात्र साढ़े सात सेर खिचड़ी बंटती थी।

सब ओर, अभाव और अभावजन्य भ्रष्टाचार का बोलबाला है। चावल किसी भी दाम नहीं मिलता। हर चीज़ पर मुनाफाखोरी और चोरबाज़ारी हो रही है। अधिकांश लोग एक वक्त खाकर ही जीवित रह रहे हैं। तीन-साढ़े तीन सौ लोग गाँव छोड़कर भाग गए। आम आदमी के लिए स्थिति और भी भयंकर हो जाती है। व्यवस्था पर से उसका विश्वास उठ गया - 'गाँव-कमेटी के, यूनियन-बोर्ड के मेम्बर सब चोर हैं, चोर! कोई हमारी परवाह करता है? रिश्तेदारों को कारड देते हैं, अपनों को देते हैं, हमारी क्या पूछ...?'

बंगाल के इस भयानक अकाल ने जनमानस को झकझोर कर रख दिया। संकट की घड़ी में मनुष्य के भीतर छिपे पिशाच उजागर हुए। व्यक्ति के स्वार्थ और 'निज', 'पर' की परिभाषाओं ने मानवता के अंतःसूत्र को एक झटके में तोड़ डाला। एक होकर व्यक्ति बड़ी से बड़ी ताकत से लड़ सकता है लेकिन एकता का अभाव उसे यूं मरने के लिए छोड़ देता है। आत्मविश्लेषण के क्षणों में बंगाल के निवासियों ने भी यह अनुभव किया कि अकालजन्य स्थितियों में मानव की ऐसी दुर्दशा का बहुत बड़ा कारण एकता का न होना ही है - 'हममें एका नहीं है, वर्ना क्या मजाल कि वह अपनी मनमानी करें।'

व्यक्ति का संकुचित स्वार्थ उसे अपने-अपने घेरे में बांधे रहा और पेट की आग ने समस्त मूल्यों और नैतिकताओं को खोखला कर दिया। भूख की भीषणता के आगे समस्त रागात्मक संबंध

सूख जाते हैं। मानवीय भावनाए कठोर हो जाता है। कब्रो के ढेर मे एक बच्चा केवल अपने बाप की कब्र पहचानता है यह बहुत बड़ी बात है। नहीं तो सब कब्रों पर पैर रख खड़े हो जाते, कितनी लाशें बिना कफ़न के दफनाई गई। जहां जीवित के सम्मान की रक्षा के साधन पर्याप्त न थे वहाँ मृत लाशों का सम्मान कोई कैसे रखता। ऐसे समाज में औरत की अस्मत की उसके अस्तित्व से अधिक मूल्यवत्ता नहीं थी। सब लड़ रहे थे किसी तरह अपना जीवन बचाने को, ऐसे में नैतिकता के मानदंडों का ठहर पाना कठिन हो गया। शिद्धिरगंज की औरतों को यदि अपनी इज्जत बेचने पर उतारू होना पड़ा तो इसमें कितनी बुराई थी नहीं कहा जा सकता। 'कुछ कहते हैं कि जैसे इतने मरे, वे भी मर जातीं, तो हर्ज ही क्या था? पर मैं सोचता हूँ, मर जाना क्या सहज है? कोई क्या अपने आप मर जाना चाहता है?' यथार्थ के इस भयानक सच से लेखक सीधे साक्षात्कार करता है। इस आमनवीय यथार्थ की नग्नता को वह किसी आदर्श मूल्य की आड़ से ढंकना नहीं चाहते, बल्कि समस्त सामाजिक विसंगत मूल्यों के यथार्थ चित्रण द्वारा मानवीय संवेदना को झकझोर कर नवीन आर्थिक, सामाजिक मूल्य चिंतन की दिशा संधान के लिए प्रेरित करते हैं।

इस अकाल को मानव निर्मित ठहराते हुए लेखक उस व्यवस्था पर प्रश्न-चिह्न लगाता है जो साधनों को कुछ हाथों में केंद्रित करके व्यापक जन समुदाय को इस भीषण संघर्ष की ओर ढकेल देती है। जहाँ वस्तु व्यक्ति के लिए न होकर पैसे क लिए हो जाती है। बंगाल के इस अकाल में भी पूंजीपति पैसे से सब कुछ नापता रहा और मनुष्य की भूख और नग्नता ने उसे सर्वनाश के कगार पर ला खड़ा किया - '...मनुष्य को नंगा रखकर मनुष्य ने अपने मुनाफों के लिए बेशुमार कपड़ा तालों में बंद कर रखा , जहाँ वस्तु मनुष्य के लिए न होकर पैसे के लिए थी। कितना बड़ा व्यंग्य और विद्रूप था यह कि आज कपड़ा बनाने वाले स्वयं नंगे थे।'

अदम्य जीवन केवल इस स्थिति का ब्यौरा भर नहीं है। जनता के प्रति लेखक की सच्ची सहानुभूति, संवेदनशील दृष्टि और व्यापक जनसमुदाय के प्रति उसकी पक्षधरता इस रिपोर्ताज को सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक व्यवस्था के विरूद्ध एक सक्रिय हस्तक्षेप का रूप देती है। व्यक्ति के संकुचित स्वार्थ पर टिकी इस व्यवस्था के विरूद्ध लेखक उस स्वार्थ की परिकल्पना करता है जो सबका स्वार्थ हो, जिसमें सबका सुख और सबका हित निहित हो। चारों और व्याप्त अकाल के संत्रास से पीड़ित मनुष्य की वेदना में रांगेय राघव को एक नई जीवन-दृष्टि प्राप्त हुई है। भूख, रोग और मृत्यु के बावजूद भी लेखक का विश्वास है कि बंगाल मर नहीं सकता - 'जहाँ भूख और बीमारियों से लड़कर भी मनुष्य के बालकों में क्रांति को चिरजीवी रखने का अपराजित साहस है, वह राष्ट्र कभी नहीं मर सकेगा।'

मानव की मानवीयता में लेखक की आस्था अटूट है। दुःख और अत्याचार के भीतर लेखक ने मनुष्यता की अजस्र धारा को संचरित होते देखा है। भूख के विरूद्ध लड़ती जनता की शक्ति और साहस का अनुभव किया है। विपरीत परिस्थितियों में यदि कुछ सच है तो केवल बंगाल के बच्चों की अदम्य जिजीविषा, जिसे देखकर लेखक मानों घोषणा करता है :

'युग-युग तक संसार को याद रखना पड़ेगा कि एक दिन मनुष्य के स्वार्थ और असाम्य के कारण, गुलामी और साम्राज्यवादी शासन के कारण, बंगाल जैसी शस्य श्यामला भूमि में मनुष्य को भूख से दम तोड़ना पड़ा था? और लोगों ने उसे पूरी शक्ति से इसलिए झेला था कि मानवता जीवित रहना चाहती थी। उसे कोई मिटा नहीं सकता।'

निष्कर्षतः **अदम्य जीवन** युग की उन समस्याओं की अभिव्यक्ति है जो प्रत्यक्षतः अकाल का परिणाम देखती है लेकिन वस्तुतः वह अंग्रेज़ों के साम्राज्यवादी शासन, पूंजीवाद और व्यक्ति के स्वार्थ का परिणाम है। यहाँ जीवन का वह रूप है जिसमे जिंदगी को 'सही-गलत' के सरलीकृत कटघरों में रखकर नहीं देखा जा सकता। भूख और मृत्यु की भीषण यंत्रणा के सम्मुख मानव मूल्यों व नैतिक धारणाओं की पहचान धुंधला जाती है। लेखक का आक्रोश उस

व्यवस्था के प्रति है जो मनुष्य को इस अंध गह्वर की ओर ढकेल रही है और उसकी पक्षधरता मनुष्य के उस रूप के साथ है जहाँ मानवता के जयघोष के लिए मानव संतान क्रांति के चिरजीवी होने का आकांक्षी है।

11.6 अदम्य जीवन : शिल्पगत विशेषताएँ

रिपोर्ताज में लेखक जिस उत्साह से अपने युग-सत्य का साक्षात्कार करता है उससे प्रायः उसका कथ्य शिल्प की अपेक्षा प्रधान रहता है किंतु यह भी सच है कि घटना के जीवंत स्रोतों से पूरी ईमानदारी और साहस से जुड़ने के कारण उसके शिल्प में भी गुणवत्ता और ताज़गी आ जाती है। जिस प्रकार रिपोर्ताज का कथ्य बहुमुखी होता है उसी प्रकार इसके शिल्प में भी अभिव्यक्ति की उन्मुक्तता रहती है। कहीं इसकी शैली वर्णनात्मक होती है, कहीं विवरणात्मक कहीं पत्र या डायरी की। रिपोर्ताज का लेखक, रेखाचित्र, संस्मरण, यात्रा-वृतांत आदि अन्य गद्य विधाओं के तत्वों का भी प्रयोग करता है। कथ्य, चरित्र, संवाद आदि सभी तत्व रिपोर्ताज के रचनात्मक गठन में महत्वपूर्ण उपकरण बनकर आते हैं। **अदम्य जीवन** इन सभी शिल्पगत विशेषताओं को आत्मसात कर लिखा गया एक प्रौढ़ रिपोर्ताज है। इसका शिल्प भी इसके कथ्य की ही भांति महत्वपूर्ण है। वस्तुतः इसमें कथ्य और शिल्प की प्रौढ़ता के कारण ही उद्देश्य एवं प्रभाव की एकरूपता परिलक्षित होती है।

अदम्य जीवन में रांगेय राघव ने परिवेश का अत्यंत सृजनात्मक प्रयोग किया है। पूरी रचना में परिवेश प्राणदायक स्पंदन की तरह व्याप्त है। कहीं प्रकृति के माध्यम से तो कहीं व्यक्ति और परिस्थिति के परस्पर संघात से उभरते सजीव चित्रों में बंगाल का इतिहास और परंपरा मानों जीवित हो उठे हैं। रिपोर्ताज का प्रारंभ बंगाल की एक सुंदर सुबह के वर्णन से होता है :

हम पगडंडियों में बढ़ते जा रहे थे। सूर्य आकाश में चढ़ने लगा था। ... आकाश में बादल तैर रहे थे, जिन्हे देखकर खेतों से एक सोंधी-सी उसांस उमंग उठती थी। दूर हरियाली की हहर तेज चलती हवा की तरंगों पर गूंज-सी उठती थी। हरी-भरी पृथ्वी पर कभी-कभी बादलों के छा जाने से कहीं धूप और कहीं छाया, बरबस हृदय को अपनी ओर आकर्षित कर लेती थीं।'

बंगाल की शस्य श्यामला मनोहारी भूमि और मनुष्य के शोषण का प्रतीक वह भयंकर अकाल मानो प्रकृति भी मनुष्य के दर्द की भागीदार बन गई हो - 'वर्षों से ताड़ का वह पेड़ इसी तरह खड़ा है और वर्षों से उसके हिलते पत्तों ने बादलों की मर्मर सुनी है किंतु आज उसकी छाया में मनुष्य विक्षुब्ध हैं।'

रिपोर्ताज विधा के अनुरूप यहाँ कोई कथा नहीं है लेकिन घटनाएँ है और उन घटनाओं को संगठित करन वाले तत्व के रूप में परिवेश की अपनी विशिष्ट भूमिका है। बंगाल की धरती, प्रकृति, मनुष्य और उसकी संघर्षशील जिजीविषा रिपोर्ताज के एक-एक शब्द में दिखाई पड़ते हैं।

चित्रात्मक भाषा का प्रयोग इस रिपोर्ताज की सबसे बड़ी शक्ति है। रिपोर्ताज के लिए कहा जाता है कि उसमें क्रिया का सौंदर्य होता है। उसकी भाषा में त्वरा होती है। वस्तुतः लेखक का उद्देश्य ही उसकी भाषा में इन गुणों की सृष्टि करना है। यहाँ भी रांगेय राघव भूख, रोग और मृत्यु से जूझते बंगाल के लोगों की व्यथा-कथा सुनाकर साम्राज्यवादी शासन और पूंजीपतियों की दुरभिसंधि को उद्घाटित करना चाहते हैं। उनके हृदय का आवेग और पीड़ा रिपोर्ताज के प्रत्येक शब्द में बोलती सुनाई पड़ती है। यहाँ भाषा का सायास प्रयोग नहीं है। सामान्य जनजीवन की भाषा का प्रयोग करते हुए भी लेखक ने उसे अपूर्व अर्थ क्षमता प्रदान की है।

'खेतों में कब्रें चुपचाप उदास-सी सोई पड़ी थी, जिन्हें चिथड़ों में लिपटा एक बुड्ढा एक पेड़ की छाया में बैठा विरक्त भाव से देख रहा था। एक टूटी-सी दीवार में तीन आले अब भी खड़े थे, मगर घर नहीं थे। आठों घर विध्वस्त पड़े थे। उनके सामने बराबर-बराबर में तीस कब्रें पड़ी थीं और एक नवयुवक, जो देखने में बूढ़ा लगता था, उनकी ओर देख-देखकर मुस्करा रहा था। वे सब एक दिन जुलाहों के घर थे, पर अकाल के ताने और बीमारियों के बाने ने सहसा उनके जीवन-व्यापार का अंत कर दिया था।'

कहीं-कहीं लेखक ने ऐसी उपमाओं का प्रयोग किया है जो उस त्रासदी को साकार करने में सक्षम है। जेसे यहां - 'अकाल के ताने और बीमारियों के बाने ने' या फिर 'जुलाहे चूहों की तरह मर रहे हैं' आदि। लेखक का कल्पना विधान जीवन के कटुतम यथार्थ को अभिव्यक्त करने के लिए ऐसे सादृश्य उपस्थित करता है जो पाठक को झकझोर देने के साथ ही भाषा को ऊर्जा प्रदान करते हैं - 'सामने भट्टी में से धुआं निकलकर ऊपर घुमड़ रहा था। आज सारा बंगाल महानाश की आग पर लटका भुन रहा है और चारों और से राक्षस मानों उसे चबा जाना चाहते हैं।'

अलग-अलग स्थलों पर भाषा भिन्न-भिन्न रूप धारण करती है। कहीं उसमें इतना आवेग है तो कहीं एक निमर्म तटस्थता। व्यवस्था के विद्रूप को उद्घाटित करने में तल्खी और व्यंग्य इस भाषा के महत्वपूर्ण उपकरण हैं। लेखक की आंतरिक बेचैनी पूरे रिपोर्ताज में गत्यात्मकता व नाटकीयता का विशिष्ट समंजन करती है। लेखक के पास कहने को बहुत कुछ है। उसके आस-पास दर्द से भरे अनेक चेहरे हैं जिन्हें वह अपनी रचना में साक्षात् कर देना चाहता है। यह बेचैनी उसके कथ्य को गति देती है। सतह के भीतर की विसंगति को उद्घाटित करने के लिए लेखक ने नाटकीय शैली का प्रयोग किया है :

'एक औरत जो पास में खड़ी थी, कहने लगी, तुम डॉक्टर हो? पहले क्यों नहीं आए? जाने कितने जानें बच जातीं।..'

उस समय उस औरत की बात की अनसुनी करके खैराती अस्पताल का एसिस्टेंट डाक्टर मुझसे कह रहा था - हमने 75 फ़ीसदी आदमियों की हालत सुधार दी है...। .. एक ओर हमारे शासक बोल रहे थे, दूसरी ओर वही बात जनता कह रही थी। सामने अनेक जर्जर रोगी खड़े प्रतीक्षा कर रहे थे बुझी हुई आँखें, उभरी हुई पसलियाँ और वही भयानक चर्म-रोग।'

घटना के ब्यौरों के बीच में लेखक ने जीते जागते पात्र खड़े कर दिए हैं और उनकी वेदना की अभिव्यक्ति होती है - छोटे-छोटे वाक्यों और अधूरे छूटे संवादों में।

'अब यही दो-चार घर रहे गए हैं, और कुछ दिन बाद शायद ...।'

x x x x

'वह सामने एक भद्रलोक का घर था। उसे भी टीन बेच देनी पड़ी, क्योंकि .....'

x x x x

'मैं अब यहीं लंगर खाने में काम करती हूँ, किसी तरह पेट भर जाता है। भीख नहीं मांगी जाती, बाबू....।'

ये अधूरे संवाद अधूरे होकर भी सार्थक हैं। पूरी कार्य-कारण श्रृंखला को अनावृत करने में इनका योगदान है। ये रचना को अधिक प्रामाणिक एवं विश्वसनीय बनाते हैं।

कुल मिलाकर, इस रिपोर्ताज की भाषा अर्थ गांभीर्य से युक्त, अनेक अर्थ स्तरों को उद्घाटित करने वाली प्राणवान और जीवंत भाषा है। जीवन के यथार्थ से तराशी गई इस भाषा के शब्दों में धार है। वाक्य गठन, शब्द-चयन एवं शैली विन्यास सभी दृष्टियों से **अदम्य जीवन** में

रिपोर्ताज का शिल्प अपने पूर्ण उत्कर्ष पर दिखाई देता है। विशेषतः उन स्थलों का अक्षुण्ण महत्व है जहाँ लेखक मनुष्य के साहस और मानवता में अपनी आस्था प्रकट करता है। उसके ओजपूर्ण उद्‌गारों में उसकी आत्मा बोलती है।

इस प्रकार, अपने कथ्य के प्रस्तुतीकरण में रांगेय राघव की प्रौढ़ रचनाशीलता के दर्शन होते हैं। रिपोर्ताज के शिल्प को सप्राण बनाने के लिए उन्होंने परिवेश का विशेष उपयोग किया है। प्रकृति के अनेक बिंब मनुष्य की पीड़ा के साक्षी बनकर आए हैं। शब्द, चयन एवं वाक्य गठन की दृष्टि से उनकी भाषा में उनके विचारों को वहन करने की अपूर्व क्षमता है। जन-जीवन से जुड़ी भाषा को लेखक का सादृश्य विधान नई ऊर्जा व गति देता है।

11.7 अदम्य जीवन : मूल्यांकन

विधा के विकास की दृष्टि से यह युग रिपोर्ताज के विकास का दौर है। कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर, शिवदान सिंह चौहान से लेकर रांगेय राघव, प्रकाशचंद्र गुप्त, अमृतराय, फणीश्वरनाथ रेणु, निर्मल वर्मा, धर्मवीर भारती आदि साहित्यकारों ने इस विधा के विकास में अपना अमूल्य योगदान किया है। विषयवस्तु की विविधता तथा प्रस्तुतीकरण में व्यक्तित्व की निजता के समावेश ने प्रत्येक रिपोर्ताज को विशिष्ट बना दिया है। सबका अपना-अपना रंग है। इसलिए सबको एक धरातल पर स्थित कर तुलनात्मक दृष्टि से उनका अध्ययन न तो संभव है,न ही वांछनीय। जहाँ तक रांगेय राघव के रिपोर्ताजों का प्रश्न है तो उनमें अवश्य ही समानता दिखाई पड़ती है। अधिकांश रिपोर्ताज बंगाल के अकाल पर लिखे गए हैं। एक रिपोर्ताज ग्वालियर मिल में मज़दूरों पर गोली चलाने की घटना को लेकर भी है। 'यह ग्वालियर है' शीर्षक से यह रिपोर्ताज ग्रंथावली के आठवें भाग में संकलित है। रांगेय राघव के रिपोर्ताज की विशिष्टता यह है कि उन सभी में लेखक की मानवतावादी दृष्टि एवं साम्यवादी चेतना के दर्शन होते हैं। उनके रिपोर्ताजों पर टिप्पणी करते हुए डॉ. मधुरेश ने लिखा है - 'चाहे बांगल के अकाल से संबंधित रिपोर्ताज हो या ग्वालियर में मज़दूरों पर हुए गोलीकाण्ड से, रांगेय राघव सब कहीं जनता की साम्राज्य-विरोधी चेतना, स्वाधीनता संग्राम में हिस्सेदारी के उत्साह और सांप्रदायिक सद्‌भाव को रेखांकित करते चलते हैं।'

रांगेय राघव अपराजेय सामर्थ्य के रचनाकार हैं। समीक्षकों ने यद्यपि उन्हें प्रगतिशील चेतना का लेखक कहा है तथापि वे सच्चे अर्थों में मानववादी विचारधारा के रचनाकार हैं। इसी भावना से अनुप्राणित होकर उन्होंने अपने रिपोर्ताजों में व्यक्तिगत, सामाजिक, राष्ट्रीय एवं वैश्विक स्तर की समस्याओं का निरूपण किया है। उनकी जीवन दृष्टि युगीन स्थितियों का प्रतिफलन है। उनके रिपोर्ताज युगीन समस्याओं की संश्लिष्ट अभिव्यक्ति हैं।

'तूफानों के बीच' में लेखक की यही जीवन दृष्टि उद्‌घाटित हुई है। मनुष्य को बाँटने वाली धन-लिप्सा की निरंतर चौड़ी होती खाई और परिणामस्वरूप व्यापक नरसंहार - इन सबके बीच लेखक बार-बार स्वयं से प्रश्न करता है - 'कौन-सा है वह उद्देश्य, लक्ष्य या धर्म, जिसके पीछे हम लड़े? कौन-सी है वह नैतिकता जो हमें आज भी परस्पर लड़ने की आज्ञा दे सकती है।... क्यों नहीं समझता मनुष्य अपना स्वार्थ जो सबका स्वार्थ हो?'

अदम्य जीवन में लेखक की यह विचारधारा शब्दशः प्रस्फुटित हुई है। लेखक ने अकाल के प्रश्न पर गहराई से विचार किया है और उसके विभिन्न आयामों - कारण और परिणामों की जीवंत प्रस्तुति की है। 'तूफानों के बीच' में संकलित अन्य रिपोर्ताजों में इन स्थितियों-परिस्थितियों के विश्लेषण के अतिरिक्त एक अन्य दिशा का भी संधान किया है - मानव मूल्यों तथा संबंधों की पड़ताल। लेखक ने इससे पूर्व एक दुनिया देखी थी जिसमें मानवीय मूल्य थे, प्रेम था और तृप्ति थी परंतु बंगाल के इस अकाल में जीवन के वास्तविक रूप को देखकर उसे उन मूल्यों के एक नए रूप का बोध हुआ। उसने प्रेम का सही अर्थ समझा। इस विभीषिका ने उसके प्रेम को मुक्त

किया, 'स्व' से 'सर्व' की ओर उन्मुख किया और उसने प्रेम की सार्थकता को पा लिया - 'चालीस करोड़ को आज़ाद होना पड़ेगा और फिर हमारा-तुम्हारा प्रेम गुलामों का न होकर स्वतंत्र मानव-मानवी का होगा।'

इस प्रकार इस कृति में एक ओर अकाल के प्रश्न पर विचार किया गया है तो दूसरी ओर करूणा एवं बंधुत्व जैसे जीवन मूल्यों की जीवंत प्रस्तुति की गई है। एक ओर अंधविश्वास, एकता का अभाव, शोषकों के अत्याचार और संकुचित स्वार्थ जैसी पतनोन्मुख करने वाली कुरीतियों का रूपांकन है तो दूसरी ओर कृति के भीतर अनुस्यूत मानववादी एव प्रगतिशील विचारधारा उनके दृष्टिकोण की गहराई की परिचायक है। कहा जा सकता है कि रिपोर्ताज हिंदी साहित्य को रांगेय राघव के प्रशंसनीय योगदान का प्रामाणिक दस्तावेज़ है।

11.8 सारांश

इस इकाई में आपने अदम्य जीवन शीर्षक रांगेय राघव के रिपोर्ताज के बारे में अध्ययन किया। विधा के रूप में रिपोर्ताज आधुनिक युग की देन है। द्वितीय विश्वयुद्ध के आस-पास इसका उदय एवं विकास हुआ है। रिपोर्ताज एक तथ्यपरक विधा है, जिसके केंद्र में किसी न किसी महत्वपूर्ण घटना का सजीव वर्णन रहता है। यहाँ घटना का संश्लिष्ट रूप होता है जिसमें तथ्य को परिभाषित करता और आकार देता है मानवीय सत्य। इस रूप में, युग सत्य, युग संघर्ष, मनुष्य और उसका समाज, उत्थान-पतन की प्रेरक शक्तियाँ सभी उस घटना के भीतर सन्निहित रहते हैं। रिपोर्ताज में लेखक के दृष्टिकोण की पूर्ति करता है 'लेखक का उत्साह' जिसे आलोचकों ने लेखक की पक्षधरता का पर्याय माना है।

रिपार्ताज तात्कालिक प्रतिक्रिया होते हुए भी कालातीत है। इसका वर्तमान भूत और भविष्य से जुड़ा रहता है। लेखक का दृष्टिकोण ही रिपोर्ताज को चिरस्थायी बनाता है लेकिन वह इतना हावी नहीं होना चाहिए कि भूल कथ्य को ही ढंक ले। रिपोर्ताज में लेखक के दृष्टिकोण की पूर्ति करता है 'लेखक का उत्साह' जिसे आलोचकों ने लेखक की पक्षधरता का पर्याय माना है।

रिपोर्ताज विधा के अंतर्गत शिल्पगत संयम, परिवेश की प्राणवत्ता तथा सजीव भाषा का प्रयोग किसी भी घटना को जीवंत अनुभव में परिवर्तित कर देते हैं। हिंदी साहित्य में रिपोर्ताज का प्रारंभ 1938 में प्रकाशित शिवदानसिंह चौहान की रचना 'लक्ष्मीपुरा' से माना जाता है। रिपोर्ताज के प्रारंभिक हस्ताक्षरों में कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर का नाम भी उल्लेखनीय है। रिपोर्ताज विधा के विकास में 'हंस' पत्रिका का महत्वपूर्ण योगदान है। स्वातंत्र्यपूर्व रिपोर्ताज लेखकों में कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर, शिवदान सिंह चौहान, रांगेय राघव, प्रकाशचन्द्र गुप्त, आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

स्वातंत्र्योत्तर युग में अमृतराय, रामकुमार वर्मा, लक्ष्मीचंद्र जैन, शिवसागर मिश्र, धर्मवीर भारती, फणीश्वरनाथ रेणु, विवेकीराय, मणिमधुकर आदि का सक्रिय योगदान रहा है। जो भी हो अब तक का समय रिपोर्ताज के लिए विकास का दौर है। अभी इस क्षेत्र में बहुत-सी संभावनाएँ बाकी हैं।

रिपार्ताज की परंपरा में 'तूफानों के बीच' एक मील स्तंभ के समान है। संवेदना एवं शिल्प दोनों दृष्टियों से यह रांगेय राघव का सशक्त प्रयास है। 'तूफानों के बीच' 1942 के बंगाल के अकाल का मार्मिक चित्रण है। अकाल की विभीषिका, उसके कारण और अकालजनित समस्याओं का वर्णन करते हुए लेखक ने साम्राज्यवाद ओर पूंजीवाद की दुरभिसंधि का पर्दाफाश किया है। 'तूफानों के बीच' को चिरस्थायी एव अविस्मरणीय कृति बनाने में लेखक की

मानवतावादी दृष्टि का विशेष योगदान है। अकाल के संकट में लेखक साधारण जन की पीड़ा का द्रष्टा भी है और भोक्ता भी।

अदम्य जीवन 'तूफानों के बीच' की मूल संवेदना का वाहक रिपोर्ताज है जिसमें लेखक ने मृत्यु, भूख और महामारी से जूझते व्यक्ति की दारुण दशा का चित्रण किया है। संकट की घड़ी में नैतिक मान्यताओं के स्खलन की ओर भी संकेत किया गया है। चोर-बाजारी-मुनाफ़ाखोरी के रूप में व्यक्ति का संकुचित स्वार्थ किस तरह सब कुछ निगलने को तत्पर था, इसी की जीवंत प्रस्तुति है - **अदम्य जीवन।**

मनुष्य की मनुष्यता में लेखक की आस्था अटूट है। इसीलिए लेखक घोषणा करता है कि बंगाल कभी मर नहीं सकता।' परिस्थितियों की प्रतिकूलता में बंगाल के नन्हें बालकों का क्रांति में विश्वास लेखक की मान्यता को पुष्ट करता है।

शिल्प की दृष्टि से, **अदम्य जीवन** में लेखक ने परिवेश का रचनात्मक प्रयोग किया है। चित्रमय भाषा, छोटे-छोटे संवाद, विशिष्ट वाक्य-विन्यास ये सब इस रिपोर्ताज के रचनात्मक गठन के विविध उपकरण हैं। अपने कथ्य एव शिल्प दोनों दृष्टियों से **अदम्य जीवन** हिंदी साहित्य का एक प्रौढ़ रिपोर्ताज है। इसमें अभिव्यक्त लेखक की जीवन-दृष्टि इसे एक अविस्मरणीय रचना बनाती है।

अभ्यास

1. रिपोर्ताज की विशेषताओं के संदर्भ में **अदम्य जीवन** की समीक्षा कीजिए।
2. **अदम्य जीवन** की शिल्पगत विशेषताओं का विवेचन कीजिए।
3. **अदम्य जीवन** की विषयवस्तु के प्रति लेखकीय दृष्टिकोण का सोदाहरण विश्लेषण कीजिए।

इकाई 12 साक्षात्कार : ऑक्टेवियो पॉज़

इकाई की रूपरेखा

12.0 उद्देश्य
12.1 प्रस्तावना
12.2 साक्षात्कार विधा का वैशिष्ट्य
12.3 साक्षात्कारदाता-पात्र के चयन का औचित्य
12.4 साक्षात्कार में उठे प्रश्नों का विवेचन
12.5 साक्षात्कार की लेखन-शैली
12.6 सारांश

12.0 उद्देश्य

यह एम.ए. हिंदी के बीज पाठ्यक्रम 'नाटक और अन्य गद्य विधाएँ' की छब्बीसवीं और अंतिम इकाई है। इस इकाई में आप 'साक्षात्कार : ऑक्टेवियो पॉज़' का अध्ययन करेंगे। इसमें हम साक्षात्कार विधा तथा ऑक्टेवियो पॉज़ से लिए गए साक्षात्कार में उठाए गए प्रश्नों को विवेचित-विश्लेषित करेंगे। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप :

- साक्षात्कार का आशय समझ सकेंगे,
- साक्षात्कारदाता-कवि और कला चिंतक ऑक्टेवियो पॉज़ के विषय में जान सकेंगे,
- बीसवीं शताब्दी के सम्मुख उपस्थित प्रमुख सांस्कृतिक समस्याओं से अवगत हो सकेंगे,
- कवि-कलाकार की वैचारिक दृष्टि से परिचित हो सकेंगे, और
- विवेच्य साक्षात्कार के स्वरूप एवं लेखन-शैली की विशेषताओं को समझ सकेंगे।

12.1 प्रस्तावना

एम.ए. हिंदी पाठ्यक्रम-4 'नाटक और अन्य गद्य विधाएँ' के अंतर्गत नाटकों के साथ-साथ इस पाठ्यक्रम में आप निबंध, रेखाचित्र, संस्मरण, जीवनी, आत्मकथा, यात्रा-वृतांत, रिपोतार्ज़ आदि से संबंधित इकाइयाँ पढ़ चुके हैं। प्रस्तुत इकाई में आप गद्य की एक अन्य विधा साक्षात्कार का अध्ययन करेंगे। इस इकाई का आधार हिंदी के वरिष्ठ कवि और कथाकार श्रीकांत वर्मा द्वारा लैटिन-अमेरिकी कवि और कला चिंतक ऑक्टेवियो पॉज़ से लिया गया साक्षात्कार है। आप इसके बारे में विस्तार से पढ़ेंगे। यहाँ साक्षात्कार लेने वाले साक्षात्कारकर्ता हैं : आधुनिक हिंदी कवि श्रीकांत वर्मा और साक्षात्कारदाता हैं : स्पेनी भाषा के विश्वप्रसिद्ध कवि ऑक्टेवियो पॉज़। श्रीकांत वर्मा ने इनसे अनेक महत्वपूर्ण प्रश्नों पर वार्तालाप किया है। यह साक्षात्कार श्रीकांत वर्मा की निबंध पुस्तक -'बीसवीं शताब्दी के अंधेरे में : ऑक्टेवियो पॉज़' शीर्षक से संग्रहीत है।

साक्षात्कार पत्रकारिता की एक महत्वपूर्ण विधा है और आमतौर पर सभी साक्षात्कारों को साहित्यिक स्तर का नहीं कह सकते। साक्षात्कार लेना पत्रकारों का व्यवसाय है। लेकिन लेखक भी साक्षात्कार लेते हैं, ले सकते हैं। साक्षात्कार प्रायः महत्वपूर्ण व्यक्तियों का लिया जाता है। ऐसे व्यक्ति का जिसके विचारों को लोग जानना चाहते हैं। जिसके विचारों का समाज पर प्रभाव पड़ता है। लेकिन साक्षात्कार कितने भी महत्वपूर्ण व्यक्ति का क्यों न लिया जाए, साक्षात्कार को महत्वपूर्ण बनाना सिर्फ साक्षात्कार देने वाले पर निर्भर नहीं करता। साक्षात्कार की कामयाबी साक्षात्कार लेने वाले पर ज्यादा निर्भर करती है। किस व्यक्ति से कैसे सवाल पूछे

जाने चाहिए, उसके दिल की बात को कैसे बाहर निकालना चाहिए यह साक्षात्कार लेने वाले पर निर्भर करता है।

श्रीकांत वर्मा हिंदी के वरिष्ठ कवि और कथाकार थे। लेकिन वे कई साल तक हिंदी के श्रेष्ठ समाचार-साप्ताहिक 'दिनमान' से भी संबद्ध रहे। बाद में, वे कांग्रेस पार्टी के सदस्य, उसके महासचिव और राज्यसभा सदस्य रहे। उन्हें कई देशों की यात्रा करने का अवसर मिला, कई विश्व प्रसिद्ध लेखकों, कलाकारों और बुद्धिजीवियों के संपर्क में आने का भी मौका मिला। यही वजह है कि दक्षिण अमरीकी कवि ऑक्टेवियो पॉज़ से उनकी बातचीत बहुत सहज और समतल धरातल पर होती है उनके प्रश्न ऐसे हैं जो भारतीयों के लिए तो महत्वपूर्ण और प्रासंगिक हैं ही, सभी के लिए मूल्यवान हैं।

इस इकाई का अध्ययन करने से पूर्व आपने उक्त साक्षात्कार का अध्ययन अवश्य कर लिया होगा। अगर न किया हो तो अब कर लें, फिर आगे बढ़ें।

12.2 साक्षात्कार विधा का वैशिष्ट्य

आइए, ऑक्टेवियो पॉज़ से उनके विचार जानने-समझने से पहले यह जान लें कि साक्षात्कार विधा क्या है? इससे अपेक्षाएँ क्या हैं? हिंदी गद्य साहित्य में साक्षात्कार की विकास परंपरा क्या है एवं उसमें श्रीकांत वर्मा के ऑक्टेवियो पॉज़ साक्षात्कार का स्थान क्या है? सबसे पहले हम साहित्यिक विधा के रूप में साक्षात्कार के विषय में चर्चा करेंगे। समसामयिक हिंदी गद्य साहित्य में साक्षात्कार विधा बातचीत की शैली में या प्रश्नोत्तर के रूप में लिखी जाने वाली वह गद्य रचना है जो निरंतर लोकप्रिय होती चली जा रही है। प्रत्येक व्यावसायिक, गैर व्यावसायिक पत्र-पत्रिकाओं में किसी न किसी महत्वपूर्ण व्यक्ति से लिया गया साक्षात्कार पढ़ने को मिल जाता है। पत्रकारिता के क्षेत्र में ही नहीं, साहित्यिक पत्रकारिता के क्षेत्र में भी, साहित्य, कला और चिंतन के क्षेत्रों में काम कर रहे व्यक्तियों से लिए गए साक्षात्कार आज अत्यंत रुचिपूर्वक पढ़े जाते हैं। कुछ समय पहले तक यह माना जाता था कि रचनाकार को जो कुछ कहना था, वह उसने अपनी रचना में कह दिया। किंतु जैसे-जैसे जीवन की गति तेज़ होती गई है, विचारों में भी बदलाव तेज़ी से आया है। साथ ही, समयाभाव बढ़ा है। पाठक किसी विद्वान द्वारा दिए गए साक्षात्कार में उसके सूक्ष्म विचार-विश्लेषण, तर्क-वितर्क को जानने का प्रयास करता है, विषय को गहराई से समझ लेना चाहता है। वैसे भी, संवाद शैली में किया गया विचार-विश्लेषण आपेक्षाकृत अधिक संप्रेषणीय हो जाता है। आमने-सामने, रू-ब-रू बातचीत के मध्यम से दी गई जानकारी अपेक्षाकृत आसानी से हृदयंगम हो जाती है। संभवतः यही कारण है कि आज साक्षात्कार लोकप्रिय विधा बन गई है तथा हिंदी गद्य की भी महत्वपूर्ण विधा बन गई है।

अब विधा की दृष्टि से साक्षात्कार को समझने का प्रयास करें। हिंदी गद्य की नवीन विधा होने के कारण अभी तक यह कोई स्थिर रूपाकार ग्रहण नहीं कर पाई है। यहाँ तक कि इसके नामकरण में स्थिरता-एकरूपता नहीं मिलती। कहीं इसके लिए अंग्रेज़ी शब्द 'इंटरव्यू' प्रचलित हैं तो कहीं साक्षात्कार, कहीं भेंटवार्ता तो कहीं विशेष-परिचर्चा। फिर भी हम समझते हैं कि इस विधा के लिए अब 'साक्षात्कार' शब्द रूढ़ हो चला है जो प्रचलित होने के साथ-साथ उपयुक्त भी है।

आइए, अब 'साक्षात्कार' शब्द के मूल आशय को समझने का प्रयास करें। साहित्य में इससे क्या अपेक्षाएँ हैं, हिंदी में इसकी विकास परंपरा क्या है, इसकी चर्चा बाद में की जाएगी। प्रसिद्ध कोशकार वामन शिवराम आप्टे कृत संस्कृत-हिंदी कोश में साक्षात्कार को 'साक्षात्' (अव्य.) - (सह+अक्ष+अति) ... के सामने, आँखों के समाने, दृश्य रूप में, हू-ब-हू के रूप में व्याख्यायित किया गया है। स्पष्टतः इसमें लेखक का व्यक्ति विशेष के सामने उपस्थित होना दर्शाया गया है। साथ ही इसमें अपनी आँखों से देखना, स्वयं जान लेना अपेक्षित है। कोशकार

आप्टे ने 'साक्षात्कार : प्रत्यक्ष ज्ञान, समझ, जानकारी' (संस्कृत हिंदी कोश - वामन शिवराम आप्टे) के माध्यम से अपनी आँखों के सामने आकार ग्रहण करते ज्ञान पर अधिक बल दिया है। कहना न होगा कि हिंदी साहित्य और पत्र-पत्रिकाओं में 'साक्षात्कार' से यही काम लिया जा रहा है।

अंग्रेज़ी में 'इंटरव्यू' शब्द विषय-सापेक्ष या ज्ञान-सापेक्ष नहीं है। 'चैम्बर्स इंगलिश डिक्शनरी' के अनुसार यह शब्द 'इंटर' और 'व्यू' दो शब्दों के मेल से बना है। जिसका अर्थ है : 'म्यूचुअल व्यू' और साइट। अर्थात् पारस्परिक विचार। चैम्बर्स कोश के अनुसार इसका आशय है : किसी औपचारिक बैठक में उल्लेखनीय व्यक्ति से उसके विचार या कार्य-कलाप को प्रकाशित-प्रसारित करने हेतु प्रश्न पूछे जाना। इसमें पारस्परिक संवाद पर बल है। 'द ऑक्सफोर्ड गाइड टू द इंग्लिश लैंग्वेज' में इंटरव्यू शब्द को और अधिक स्पष्ट करते हुए कहा गया है : 'Formal meeting or conversation with a person to asses his merits or obtain information' (द ऑक्सफोर्ड गाइड टू द इंग्लिश लैंग्वेज) अर्थात् किसी व्यक्ति से औपचारिक संवाद जिससे कि उस व्यक्ति की गुणवत्ता को मापा जा सके तथा सूचनाएँ ग्रहण की जा सके।

साक्षात्कार लेने वाले की विशेषताएँ

इससे स्पष्ट हुआ कि 'साक्षात्कार' में विशिष्ट व्यक्ति से किसी विषय पर प्रामाणिक जानकारी ली जाती है तथा बाचतीत के द्वारा उसके दृष्टिकोण, मन्तव्यों-मान्यताओं को समझने का प्रयास किया जाता है। उल्लेखनीय है कि विवेच्य विधा में किसी भी क्षेत्र के विशिष्ट व्यक्ति से प्राप्त ज्ञान पर अधिक बल है, जिसका माध्यम है : संवाद। इस पारस्परिक वार्तालाप के दौरान साहित्य-संस्कृतिकर्मी अपने समय, अपने युग की अनेकायामी समस्याओं, साहित्य-सृजन-प्रक्रियाओं, राष्ट्रीय-अंतर्राष्ट्रीय समस्याओं, सांस्कृतिक-दार्शनिक परिदृश्यों पर अपने विचारों, अपने सरोकारों, पीड़ाओं-चिंताओं अनुभवों को अभिव्यक्ति प्रदान करता है। जिसे साक्षात्कार लेने वाला प्रश्नोत्तर शैली में लिपिबद्ध कर लेता है। कभी साक्षात्कर्ता के पास पूर्वनिर्धारित प्रश्नावली होती है तो कभी बहस-मुबाहसों के बीच नए-नए प्रश्न उठते हैं जो साक्षात्कार को नया रूप दे देते हैं। समालोचक डॉ0 रमेश कुंतल मेघ के अनुसार इसमें - 'प्रत्यक्ष पात्र के सम्मुख प्रश्नोत्तर रूप में समस्याएँ, दृष्टिकोण और विचारों पर बहस की जाती है तथा उसका केंद्रीकरण किया जाता है। (सामयिक हिंदी साहित्य - संकलन, नगेंद्र और भारतभूषण अग्रवाल) यहां यह बताना भी उचित होगा कि कभी-कभी एक व्यक्ति की अपेक्षा अनेक व्यक्ति एवं विषय पर विस्तृत परिचर्चा, बहस-मुबाहिसा करते हैं तथा उस विषय के विविध पक्षों को तर्क-वितर्क द्वारा उद्घाटित करते चले जाते हैं। बाद में, कोई भी उसे लिखित रूप प्रदान कर देता है। यह भी साक्षात्कार का एक रूप है।

आशय और अपेक्षाएँ

अब आइए, यह भी जान लें कि साक्षात्कार विधा से अपेक्षाएँ क्या हैं? उसकी विशेषताएँ क्या हैं? यदि एक प्रश्नमाला विशिष्ट व्यक्ति/व्यक्तियों के पास भेज दी जाए, जिससे वह उत्तर दे दे तो क्या वह 'साक्षात्कार' कहलाएगा? ये ऐसे प्रश्न हैं जो कहीं न कहीं इस विधा के विकासशील स्वरूप से जुड़ते हैं। दरअसल, जैसे-जैसे साक्षात्कार की उपयोगिता बढ़ी है उसकी संभावनाएँ बढ़ी हैं - पत्रकारिता, साहित्य, रेडियो, टेलीविजन ने इसे अपनाया है। इस विधा में अस्थिरता, गतिशीलता के चिह्न उभरे हैं। यह स्वाभाविक भी है। दूसरे, विशिष्टता की दृष्टि से देखें तो पाते हैं कि साक्षात्कार लेने वाले व्यक्ति का इस विधा में, महत्वपूर्ण स्थान होता है। कहना होगा कि अब इस विधा में काम करने वाले लेजतर्रार, चाक-चौबंद व्यक्ति सामने आ रहे हैं। फिर भी इतना स्पष्ट है कि यदि सामान्य जानाकरी के बल पर साक्षात्कार लिया जाएगा तो उत्तर भी उसी के अनुरूप सतही, तथ्यों तक सीमित सूचनाओं का जंगल भर बन जाएगा। अतः साक्षात्कार लेने वाले व्यक्ति यहाँ महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। यदि साक्षात्कार लेने वाला गंभीर

दृष्टि-संपन्न, सुचिंतित व्यक्ति है तो वह इस प्रकार के प्रश्न-प्रति प्रश्न पूछेगा कि विषय की गहराई में जाए बिना विचार-विमर्श संभव नहीं हो सकेगा।

पत्रकारिता के क्षेत्र में कभी-कभी ऐसा हुआ है कि साक्षात्कर्ता इस प्रकार के बेधक और पैने प्रश्न पूछता है कि सामने वाला व्यक्ति कुछ छिपाना चाहकर भी नहीं छिपा पाता। इस दृष्टि से इतालवी पत्रकार फेल्लाची का नाम स्मरणीय है, जिसके सामने बड़े-से-बड़ा तानाशाह, राजनीतिज्ञ, नौकरशाह थर-थर काँपते थे कि कहीं विषय की इतनी गहराइयों में न उलझ जाएँ कि वे ही समाज में षड्यंत्रकर्ता के रूप में नज़र आने लगें। कहीं-कहीं बातों ही बातों में चुटकियाँ लेते हुए बातों को उगलवा लेना भी साक्षात्कार की विशेषता हो जाती है। उदाहरण के लिए टी.वी. के 'ज़ी' चैनल पर 'आपकी अदालत' कार्यक्रम इसी विधा का प्रमाण प्रस्तुत करता है। स्पष्ट है कि साक्षात्कार लेने वाले व्यक्ति पर साक्षात्कार की विशिष्टता निर्भर करती है। ध्यान रहे कि कहीं साक्षात्कारकर्ता साक्षात्कारदाता के समक्ष स्वयं को तुच्छ बौना तो नहीं महसूस कर रहा। प्रश्नकर्ता जितना सुचिंतित, आत्मविश्वासयुक्त, विवेचन-विश्लेषण करने वाला होगा - साक्षात्कार उतना ही जीवंत, तथ्यात्मक, ठोस, विविधायामी, अनेक पक्षों का उद्‌घाटन करने वाला होगा। साहित्यिक साक्षात्कार की भी यही विशेषताएँ हैं जो उसे महत्वपूर्ण बनाती हैं।

हिंदी में साक्षात्कार की परंपरा

हिंदी साहित्य के इतिहास में यदि साक्षात्कारों की परंपरा खोजें तो इस विधा की शुरुआत हिंदी के प्रसिद्ध पत्रकार श्री बनारसीदास चतुर्वेदी ने अपने पत्र 'विशाल भारत' में 'रत्नाकर जी से बातचीत' (1931) तथा 'प्रेमचंद जी के साथ दो दिन' (1932) के साथ की। (हिंदी साहित्य का इतिहास - सं. डॉ. नगेंद्र) इसके पश्चात् हिंदी में साक्षात्कारों का सिलसिला चल निकला। बेनीमाधव शर्मा की पुस्तक 'कवि दर्शन' इस विधा की प्रथम स्वतंत्र कृति मानी जाती है जिसमें तत्कालीन प्रसिद्ध साहित्यकारों - अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध', श्यामसुंदर दास, रामचंद्र शुक्ल, मैथिलीशरण गुप्त आदि से लिए गए साक्षात्कार, संग्रहीत हैं। साक्षात्कारों से संबंधित सर्वाधिक चर्चित कृति डॉ. पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश' कृत 'मैं इनसे मिला' (1952) ग्रंथमाला है। इसके दो भागों में साहित्यकारों से तत्कालीन साहित्यिक परिवेश तथा उनके रचनाकर्म पर बातचीत करके लेखक के मन पर पड़े प्रभावों को लिपिबद्ध किया गया है। भले ही, इनमें विषय-विस्तार सीमित हो अथवा कुछ ही समस्याओं का निदर्शन-केंद्रीकरण किया गया हो किंतु संग्रहीत साहित्यकारों के कृतित्व तथा उनके जीवन दर्शन को समझने क लिए यह कृति महत्वपूर्ण है। डॉ. रमेश कुंतल मेघ के अनुसार - 'अब इंटरव्यू में अतीतकालीन पात्रों से भी फैंटेसी या स्वप्न पद्धति में साक्षात्कार मिलता है। इस शैली में देशकाल की काफी उलट-पुलट (टाइम शिफ्ट) हो जाती है। यहाँ लेखक प्रश्नकर्ता के रूप में आता है और खुद भी एक पात्र होता है। (समसामयिक हिंदी-साहित्य - सं. नगेंद्र, भारत भूषण अग्रवाल) मेघजी ने इसके उदाहरण रूप कथाकार राजेंद्र यादव की कृति - 'एंटन चेखव : एक इंटरव्यू' का उदाहरण दिया है जिसे इस विधा की प्रौढ़ उपलब्धि मानते हुए उन्होंने लिखा है : 'यह एक काल्पनिक इंटरव्यू है जो चेखव से संबद्ध और चेखव की कुछ अत्यंत प्रसिद्ध रचनाओं, पात्रों, संस्मरणों, आलोचनाओं आदि पर आधारित है। इस कृति में महान् रूसी कहानीकार का जीवन कृतित्व, देश, कृतियों के पात्र, कला की समस्याओं, साहित्य आलोचनाओं आदि का भी सर्वेक्षण हुआ है। आधार भी प्रामणिक है, जैसे चेखव द्वारा व्यक्तियों को लिखे गए पत्र, कुप्रिन, तॉलस्तॉय, गोर्की, स्टेनिलोव्स्की आदि के संस्मरण। इसी प्रकार इधर लक्ष्मीचंद जैन, शरद देवड़ा आदि ने साक्षात्कार संबंधी पुस्तकें लिखी हैं। इधर कुछ साहित्यिक व्यक्तित्वों को केंद्र में रखकर स्वतंत्र साक्षात्कार पुस्तकें भी प्रकाशित हुई हैं, तो, महत्वपूर्ण पत्र-पत्रिकाओं मे साहित्यकार-कलाकार चिंतकों से सीधा विचार-विमर्श भी किया गया है। ये सभी साक्षात्कार विधा की गतिशीलता को घोषित करते हैं।

आशा है, अब आप साक्षात्कार-विधा तथा हिंदी में साक्षात्कार-विधा के विकास के बारे में जान गए होंगे। अब हम इस इकाई के मुख्य पक्ष पर आते हैं। अर्थात् श्रीकांत वर्मा द्वारा ऑक्टेवियो

पॉज़ से लिए गए साक्षात्कार के अध्ययन-विश्लेषण पर ध्यान केंद्रित करते हैं। इस क्रम सर्वप्रथम यह जानना आवश्यक है कि ऑक्टेवियो पॉज़ कौन हैं? यदि रचनाकार हैं तो उनके व्यक्तित्व-कृतित्व का महत्व क्या है? जीवन-जगत के प्रति उनकी दृष्टि क्या है?

12.3 साक्षात्कारदाता-पात्र-के चयन का औचित्य

ऑक्टेवियो पॉज़ लैटिन अमेरिका के प्रसिद्ध विद्वान कवि-चिंतक हैं। इनकी गिनती 'लैटिन अमेरिकी दुनिया के दो बड़े' कवियों में की जाती है। पहले हैं चिली के पाब्लो नेरूदा, जो समाजवादी थे और दूसरे हैं, मेक्सिकों के ऑक्टेवियो पॉज़, जो अतियथार्थवादी और स्वच्छंतावादी थे। श्रीकांत वर्मा ने प्रस्तुत साक्षात्कार के प्रारंभ में दोनों कवियों का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है जो सूचनात्मक होने के साथ-साथ रोचक भी है। श्रीकांत वर्मा ने पॉज़ से दो बार लंबी बातचीत की। पहली बार तब जब वे मेक्सिकों के राजदूत बनकर (1962-68) भारत आए थे। दूसरी बार तब जब उन्होंने 1968 में मेक्सिको के छात्र असंतोष के दमन के मुद्दे पर अपनी सरकार के विरोध में राजदूत पद से त्यागपत्र दे दिया था।

आक्टेवियो पॉज़ - कवि और कला चिंतक के रूप में

आइए, अब इनके साहित्यिक-सांस्कृतिक व्यक्तित्व को थोड़ा और गहराई से जानें। पॉज़ अपने समय से गहरे में जुड़े बीसवीं शती के ऐसे बुद्धिजीवी कवि हैं जिन्होंने अपने सुदीर्घ जीवनकाल में अनेकानेक काव्यांदोलनों, कलाचिंतन, दर्शन, प्राचीन धर्म, नृविज्ञान, मनोविज्ञान, राजनीति में गहरी रुचि ली। राजनयिक-कर्म किया। मेक्सिको की राजनीति में सक्रिय भूमिका निभाई। स्पेनी-अमेरिकी साहित्य के अतिथि प्रोफेसर के रूप में कार्य किया। पूर्वी धर्म-दर्शन में रुचि ली। जिसका इनके साहित्य पर स्पष्ट प्रभाव पड़ा। कविता-संग्रहों के अतिरिक्त इनके बीस से अधिक निबंध संग्रह प्रकाशित हैं जो इनके साहित्य-संस्कृति संबंधी दृष्टिकोण को समझने की अंतर्दृष्टि प्रदान करते हैं तथा मैक्सिकों के जातीय इतिहास एवं संस्कृति को उद्घाटित करते हैं। उल्लेखनीय है कि इन्हें 1970 में साहित्य के लिए नोबल पुरस्कार से भी सम्मानित किया गया।

श्रीकांत वर्मा ने ऑक्टेवियो पॉज़ से बातचीत ऐसे दौर में की है जब विश्व स्तर पर बुद्धिजीवियों के बीच एक तरह का बौद्धिक संकट व्याप्त था। खास तौर पर वे लेखक और बुद्धिजीवी जो एक ओर पूंजीवादी व्यवस्था से असंतुष्ट थे, लेकिन जिन्हें मार्क्सवाद और समाजवादी व्यवस्था में भी मानव सभ्यता के संकट का समाधान नज़र नहीं आता था। श्रीकांत वर्मा और ऑक्टेवियो पॉज़ में कई वैचारिक समानताएँ हैं। वे दोनों ही वर्तमान समय के संकट को बौद्धिक और दार्शनिक धरातल पर देखते हैं और उसी स्तर पर उसका समाधान प्राप्त करने की कोशिश करते हैं। जबकि दुनिया का और खासतौर पर तीसरी दुनिया का संकट उनकी गरीबी, भुखमरी और बदहाली में है। यदि इस समस्या का समाधान समाजवाद के पास नहीं है, तो पूंजीवाद के पास तो बिल्कुल भी नहीं है क्योंकि वही तो इस संकट का कारण है। ऐसे में अपने समय के संकट को नैतिक और बौद्धिक स्तर पर समझने का प्रयास एक तरह से उससे पलायन करना है। इस साक्षात्कार में हम प्रश्नकर्ता और उत्तरदाता दोनों में इस प्रवृत्ति को देख सकते हैं।

लेकिन ऑक्टेवियो पॉज़ में दूसरे तरह का अंतर्विरोध भी हैं। वे राजनीति को नकारते हैं। एक तरह से उन सभी लेखकों को अवमूल्यित करते हैं जो साहित्य और कला को समाज से निरपेक्ष होकर नहीं देखते। लेकिन उनका अपने देश की बूर्जुआ राजनीति से गहरा संबंध भी है। जापान और भारत में उनका राजदूत बनना इसी संबंधों का परिणाम है। यह भी जानना दिलचस्प है कि ठीक ऐसा ही संबंध बाद में श्रीकांत वर्मा का भी बना। छात्र आंदोलन के दमन के विरोध में ऑक्टेवियो पॉज़ का राजदूत के पद से त्यागपत्र दे देना सत्ता और जनता के बीच के द्वंद्व का भी प्रतीक है। वे छात्र आंदोलन को ऐसे राजनीति-निरपेक्ष विद्रोह के रूप में देखते हैं, जैसा विद्रोह आठवें दशक में हमारे यहां भी 'संपूर्ण क्रांति' के नाम से उठा था और हम सभी जानते हैं कि उसकी परिणिति क्या हुई। 'संपूर्ण क्रांति' का नेतृत्व करने वाले प्रायः सभी

गत्र नेता बाद में सत्ता-प्रतिष्ठानों के हिस्से बन गए और वे परिस्थितियों में कोई सकारात्मक दलाव लाने में कामयाब नहीं हो सके।

ऑक्टेवियो पॉज़ कवि और चिंतक हैं इसलिए यह स्वाभाविक है कि वे अपनी बात को बौद्धिक विमर्श में रखें। लेकिन उनके दृष्टिकोण में उस स्तर आधुनिक विचारों की झलक देखी जा सकती है जो आधुनिकता के कथित विरोध में सामने आए लेकिन जिस पर शीतयुद्धीय विचारों का भी प्रभाव था।

यहाँ यह रेखांकित करना होगा कि इन्होंने अपने साहित्य में आधुनिकता के स्वरूप की व्याख्या की तथा अपने समय के विश्व की असमंजसपूर्ण खंडित किंतु सच्ची तस्वीर उभारी। इनके साहित्य में जहाँ आधुनिक सभ्यता एवं साहित्य पर मंडराते संकट को अभिव्यक्ति मिली वहीं सृजन के क्षेत्र में लैटिन-अमेरिकी अस्मिता की बेचैनी और दर्प को स्वर मिला। पॉज़ के लिए कविता मनुष्य को सार्थक बनाने का रास्ता दिखाती है। यहीं उनका यह भी मानना है कि विज्ञान और टैक्नोलॉजी के रास्ते पर चलती मनुष्यता अपने लक्ष्य से भटक गई, अराजक हो गई है। द्वितीय विश्व युद्ध से क्षतिग्रस्त मानव सभ्यता, मानव मूल्य तहस-नहस हो गए हैं। पॉज़ अपने साहित्य में इससे निरंतर जूझते हैं पॉज़ के विचारों में भले ही राजनीति-विरोध झलकता हो, पर वे राजनीति का विरोध नहीं, राजनीति में आती मूल्यहीनता का विरोध करते हैं। अधिकांश वामपंथी लैटिन-अमेरिकी बुद्धिजीवियों के बीच वे निष्पक्ष बुद्धिजीवी की भूमिका निभाते हैं। वे चाहते हैं कि मनुष्य विज्ञान और तकनीक का उपयोग अपने ढंग से करे। पर ऐसा हो नहीं पा रहा। लैटिन-अमेरिका, अफ्रीका व एशिया के देश अपनी-अपनी अस्मिता के लिए आर-पार की लड़ाई लड़ रहे हैं। नई उपभोक्ता संस्कृति ने इनके सामने अनेक समस्याएँ खड़ी कर दी हैं। पूंजीवादी औपनिवेशिक ताकतें नया-नया रूप धारण कर जोश-खरोश के साथ खड़ी हो रही हैं। मनुष्य आज भौंचक है। संस्कृति भ्रंश और मूलयहीनता का अंधेरा गहरा रहा है। जिसे ऑक्टेवियो पॉज़ ने भी अपने साहित्य में यथाशक्ति उजागर किया है।

12.4 साक्षात्कार में उठे प्रश्नों का विवेचन

अब आते हैं श्रीकांत वर्मा द्वारा लिए गए ऑक्टेवियो पॉज़ के साक्षात्कार पर। साक्षात्कार में श्रीकांत वर्मा ने यह बताया है कि 'पॉज़ सिर्फ एक कवि नहीं हैं। वह एक महान् विचारक भी हैं। उन्होंने कला पर जो पुस्तकें लिखी हैं वे अमूल्य दस्तावेज़ हैं। दुशां पर उनकी पुस्तक एक अनोखी कला-व्याख्या है। [मार्सल दुशां (1887-1968) फ्रांस मे जन्मे अमेरिकी चित्रकार] दूसरे, उनमें सभी प्रकार की व्यवस्थाओं के प्रति प्रश्नाकुलता, विद्रोह तथा मानव गरिमा की प्रतिष्ठा वेद्यमान है। बल्कि ये ही उनके चिंतन के आधार हैं। तीसरे, पॉज़ पर भारत की अमिट छाप है। जेनका प्रमाण उनकी भारत संबंधी अनेक कविताओं में मिलता है। चौथे, भारतीय संगीत को वे वेश्व सभ्यता की महान् उपलब्धि मानते हैं। भारतीय मूर्तिकला पर उन्होंने अनेक अनोखी टिप्पणियाँ की हैं। उक्त सभी विशेषताएँ उनके समृद्ध सांस्कृतिक व्यक्तित्व को उभारती हैं। पॉज़ का अभी कुछ अर्सा पहले ही निधन हुआ है, लेकिन वे अंत तक बौद्धिक दृष्टि से सक्रिय रहे।

वैचारिक प्रतिबद्धता

साक्षात्कार में सबसे पहला और सबसे महत्वपूर्ण प्रश्न वैचारिक प्रतिबद्धता को केंद्र में रखकर उठाया गया है। उस समय विश्व के बौद्धिक परिदृश्य पर इस विषय पर गंभीर बहस चल रही थी। जिसकी अनुगूँज भारतीय बौद्धिक जगत में भी विद्यमान थी। श्रीकांत वर्मा ने इस प्रश्न पर अपेक्षाकृत लंबी बहस की। पॉज़ ने स्पष्ट किया कि वे इसे साहित्यिक समस्या नहीं मानते। वे इसे पश्चिम में 'दो महायुद्धों के बीच कम्युनिस्ट पार्टी के उठान के दिनों में और नात्सी खतरों के संदर्भ में उठाया गया' सवाल मानते हैं। उनके अनुसार 'उस समय यह सवाल राजनीतिक कारणों से और राजनीति में पैदा हुआ था।..... उस समय भी साहित्य को कमिटमेंट के नाम

पर राजनीति और शिविरों में घसीटा गया था। साहित्य के लिए कमिटमेंट तथा 'एण्टीकमिटमेंट जैसी बात कोई अर्थ नहीं रखती। श्रीकांत वर्मा द्वारा प्रति प्रश्न किए जाने पर कि 'कमिटमेंट एक राजनीतिक ही क्यों नैतिक सवाल भी हो सकता है। राजनीतिक और नैतिक दोनों ही धरातलों पर इसे उठाने की कोशिश पिछले दिनों सार्त्र ने की है।' इस पर इतिहास का हवाल देते हुए पॉज़ स्पष्ट करने का प्रयास करते हैं कि सन् तीस से चालीस के बीच जब सारा यूरोप 'इन्गेज्ड' की बात कर रहा था, सार्त्र 'डिस इन्गेज़' कला की बात कर रहे थे और अब जब इंग्लैंड और फ्रांस के कुछ लेखकों को छोड़ पश्चिम के अधिकांश लेखकों के लिए यह प्रश्न कोई प्रश्न नहीं रहा, तब (जर्मन आधिपत्य के दिनों से) सार्त्र के लिए यह समस्या साहित्य की सबसे बड़ी समस्या बनी हुई है।' अपने एक अन्य मित्र और अस्तित्ववादी चिंतक अल्बेयर कामू का उदाहरण देते हुए पॉज़ बताते हैं कि वे भी सार्त्र के इन विचारों से सहमत नहीं हैं। उनका निष्कर्ष है कि 'सार्त्र पर राजनीति सवार है।' इसी राजनीतिक आग्रह के चलते पॉज़ सार्त्र के साहित्य से प्रभावित नहीं हैं। उनकी मान्यता है कि 'सार्त्र और कामू दोनों ही महान् लेखक नहीं है .... मैं उन्हें एक महत्वपूर्ण रचनाकार नहीं, मगर मौलिक विचारक जरूर मानता हूँ और मेरे मन में अगर उनके प्रति आदर है तो वह उनके साहित्य के कारण नहीं, बल्कि उनके आदर्श के कारण है, जो सही या गलत जैसे भी हों, उनके अपने हैं। पॉज़ के कथन में यह अंतर्विरोध है कि वे सार्त्रक साहित्य से वैचारिक प्रतिबद्धता के कारण प्रभावित नहीं है या उनके साहित्य में ही कोई दम नहीं है, इसका खुलासा नहीं करते।

ऑक्टेवियो पॉज़ का स्पष्ट मत है कि 'कोई भी आदर्श (या विचार) कला का प्रतिमान नहीं हो सकता।' वे श्रीकांत वर्मा के इस मत से सहमत नहीं होते कि जर्मन नाटककार ब्रेख्त तथा रूसी कवि मायकोव्स्की के विचार व साहित्य 'इस प्रकार संगठित हो गए कि कला के लिए एक नया ही प्रतिमान तैयार हो गया।'। उनके अनुसार 'ब्रेख्त की कला का रहस्य साम्यवाद नहीं बल्कि ब्रेख्त के अंदर का विद्रोही है। स्वभाव में, रचना में, यह विद्रोह ही लेखक को लेखक बनाता है, फिर इस विद्रोह की कर्मभूमि कुछ भी हो। विद्रोह अपने अंदर होता है, बाहर से उसे जुटाया नहीं जा सकता।' विचारधारा के नाम पर उसे बाहर से आयातित नहीं किया जा सकता। इसी से पॉज़ साहित्य के लिए 'बड़ा खतरा तब महसूस करते हैं जब 'कमिटमेंट' को साहित्य के मूल्यांकन के लिए एक मानदंड मान लेने का आग्रह किया जाता है।' पॉज़ पूछते है कि क्या विचारधारा किसी लेखक के बड़े होने का निर्णयात्मक कारण होती है? उदाहरणों से पुष्ट करते हुए वे कहते हैं : 'खजुराहों, साँची और कोणार्क के कारीगर और कलाकार, कलाकार थे या प्रचारक? धर्म अगर उनकी कला की परिणति है तो यह न उनका दोष है, न उपलब्धि। वॉन गॉग किसके प्रति 'कमिटेड' थे?' इसलिए उनकी यह मान्यता है कि 'कमिटमेंट हमेशा मनुष्य का मनुष्यता के प्रति कलाकार का कला के प्रति होगा।' दरअसल पॉज़ साहित्य को अपने परिवेश से काटकर समाज निरपेक्ष, मात्र कलाकृति के रूप में देखने का आग्रह कर रहे हैं जब कि सार्त्र या उनके जैसे अन्य अनेक लेखक, रचनाकार को अपने समय, परिवेश व इतिहास का प्रतिनिधि मानते हैं। उसके द्वारा प्रयुक्त शब्द महज शब्द भर न होकर गतिशील कर्म बन जाता है। प्रतिबद्ध लेखक मानता है कि ऐसा लेखक जो कुछ भी अपने साहित्य में उद्घाटित करता है उससे पाठक प्रभावित होता है, वह उसमें बदलाव लाता है। सार्त्र का मन्तव्य है कि जब तक लेखक के पास बदलाव लाने की कोई निश्चित योजना न होगी, वह अपने साहित्य में क्या उद्घाटित कर सकेगा? मगर पॉज़ इस 'योजनाबद्ध' साहित्य को साहित्य ही नहीं मानते। उनकी दृष्टि में विचारधाराएँ समाज के चेहरे पर पड़ा हुआ झूठा पर्दा है। धीरे-धीरे वे उतर रही हैं। विचारधाराओं का युग समाप्त हो रहा है और अब हम यथार्थ को अधिक नज़दीक से देख सकते हैं।

भारतीय कला और साहित्य पर विचार

अतियथार्थवाद से प्रभावित होने के कारणा ऑक्टेवियो पॉज़ प्रचलित सिद्धांतों से विरोध प्रकट करते हैं। वे स्वप्न तथा अवचेतन मानस पर अधिक विश्वास करने वाले कवि-चिंतक दिखाई देते हैं। इसीलिए वे राजनीतिज्ञों और इतिहासकारों को सतह पर घटित होते सत्य को देखने वाले

तथा कवि-कलाकार को भीतर के अविज्ञप्त सत्य को पहचानने वाले लेखक मानते हैं। उनकी दृष्टि में तमाम इतिहासशास्त्रियों की अपेक्षा जॉर्ज ऑरवेल जैसे लेखक सत्य के अधिक नज़दीक हैं। वे भारतीय लेखकों से भी यही आशा करते हैं कि वे राजनीति से दिग्भ्रमित नहीं होंगे। ब्रिटेन और अमेरिका को ही पश्चिम या काफी हद तक संसार मानकर नहीं चलेंगे। उनकी यह मान्यता भी दिलचस्प है कि 'भारतीय लेखक पश्चिमी साहित्य के संपर्क में पूरी तरह आए ही नहीं।' इसलिए उनके विचार खंडित है तथा वे आधे-अधूरे सत्य को ही पाकर संतुष्ट हो जाते हैं। विवेच्य साक्षात्कार में उनका यह मत है कि भारतीय बुद्धिजीवियों में बौद्धिक वातावरण का बड़ा अभाव है। प्रतिभा के अभाव से लेकर इसके दूसरे अन्य अनेक कारण हो सकते हैं। वे कहते हैं : 'मुझे तो सबसे अधिक हैरानी और निराशा होती है। छोटे-छोटे देशों के समाचार-पत्र भी देश-विदेश के साहित्य और कला में गहरी दिलचस्पी रखते हैं। मगर यहाँ आकर मैंने देखा कि उन्हें राजनीति की ओछी से ओछी बातों में रुचि है, साहित्य से उन्हें कोई सरोकार नहीं। यहाँ तक कि उनके 'साप्ताहिक संस्करण' भी साहित्य और कला का मखौल जान पड़ते हैं। एक लोकप्रिय पत्र लोकरुचि को आधुनिक बनाने में कितना सहायक हो सकता है, इसका उन्हें अंदाज़ ही नहीं।' उक्त कथन कुछ अंश में सही होते हुए भी सच्चाई की पूरी तस्वीर पेश नहीं करता। दरअसल पॉज़ इन्हें परिचालित करने वाली शक्तियों, उन कारणों की खोज में नहीं जाते या उसे दबा जाते हैं, जिस कारण यह स्थिति पैदा हुई है। संपादक और पत्रकार पत्र मालिक के सामने स्वयं को क्यों पंगु महसूस करते हैं? वे उनके हाथों की कठपुतली बनने को क्यों विवश हो जाते हैं? जब तक इन प्रश्नों में गहरे नहीं उतरा जाएगा - विचार-विश्लेषण सही दिशा की ओर उन्मुख नहीं हो सकेगा और न ही सही निष्कर्ष निकलेंगे।

पॉज़ प्रसिद्ध कला-समीक्षक रहे हैं। अतः साक्षात्कर्ता श्रीकांत वर्मा ने उनसे अमूर्त कला आंदोलन पर उनके विचार जानने चाहे। उन्होंने इस विषय की सोदाहरण चर्चा करते हुए कहा कि 'अमूर्त कला की दुनिया में अत्यधिक नकल है और इसका कारण यही है कि उसकी खोज का क्षेत्र संवेदना नहीं, फॉर्म है।' इसका अर्थ यह नहीं कि चित्रकला की दुनिया में अवरोध या सांस्कृतिक संकट आ गया है। दरअसल, वहाँ 'गतिरोध (उतना) नहीं, (जितनी) गति है (या) भयानक गति है।'

साक्षात्कार के उत्तरांश में बहस छात्र-असंतोष, उनकी सरकार द्वारा उसके दमन तथा इसके विरोध स्वरूप पॉज़ के त्यागपत्र पर केंद्रित हो जाती है। इस बहाने पॉज़ अपने समय के ज़बरदस्त संकट से गुज़रते संसार का गहन विश्लेषण करते हैं और मानते हैं कि राजनीतिक क्रांतियां अपना अर्थ खो चुकी हैं, क्योंकि उनका लक्ष्य किसी न किसी तरह सत्ता तक पहुँचना था। इसीलिए पॉज़ का यह निश्चित मत है कि 'समाज को बदलने के लिए विद्रोह' आवश्यक है, क्रांति नहीं। विद्रोही गहरे अर्थों और समग्र व्यक्तित्व की तलाश करता है। सजग व्यक्तित्व के लिए एकमात्र रास्ता रह गया है विरोध और विद्रोह का।' स्पष्ट है कि यह विरोध और विद्रोह समाज में कला और बुद्धिजीवियों द्वारा स्वरूप ग्रहण करता है। पश्चिमी सभ्यता के खोखले वायदों-कथनों का पर्दाफ़ाश भी वे ही कर सकते हैं। पॉज़ स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि 'भारत यदि भुखमरी के कगार पर खड़ा है तो पश्चिम परमाणु बमों के ढेर पर खड़ा है इसलिए पश्चिमी सभ्यता का यह गर्व झूठा है कि उसने इतिहास के प्रश्नों को सुलझा लिया है। प्रश्न सुलझने की बजाय उलझ गए हैं।' 'पिछली शताब्दी का दार्शनिक और द्रष्टा कार्लमार्क्स' भी इन प्रश्नों को सुलझाने में सफल नहीं हो पाया। 'मार्क्स ने वर्ग सत्ता की स्थापना का स्पष्टीकरण किया था। किंतु आगे चलकर वर्ग सत्ता निर्मम राज्य सत्ता में परिणत हो गई। आज मनुष्य के 'एलीनिएशन' के लिए राज्य सत्ताएँ जिम्मेदार हैं।' उनके अनुसार भारत इन सबसे अछूता शायद इसलिए बना रह सका क्योंकि उसने अपने अस्तित्व के लिए राजनीति के स्तर पर नहीं, बल्कि दर्शन के स्तर पर संघर्ष किया।

श्रीकांत वर्मा ने जब यह प्रतिप्रश्न किया कि आज के अर्थ और राजनीति के दाँवपेंची युग में लड़खड़ाते भारत से क्या यह आकांक्षा करना उचित है कि वह मात्र दर्शन के स्तर पर जीवित

रहे तो इस पर प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए पॉज़ कहते हैं कि वे भारत से राजनीति या आर्थिक विकास के क्षेत्रों से संन्यास ले लेने की अनुशंसा नहीं कर रहे हैं। वरन् 'आज हमें एक ऐसी विश्व सभ्यता की आवश्यकता है जो वैज्ञानिक आकांक्षा और कविता के आंतरिक अनुशासन का समन्वय हो' जिसकी संभावना उन्हें भारत में ही नज़र आती है। विश्व को भविष्य के लिए दृष्टि संभवतः भारत से ही मिल सकती है। उनके मतानुसार यह अतीतोन्मुख भविष्य दृष्टि नहीं है। वैसे भी जीवन-प्रवाह को अतीत और भविष्य में बाँटकर नहीं देखना चाहिए। बौद्ध धर्म का उदाहरण देते हुए वे कहते हैं कि 'बौद्ध धर्म अतीत ही नहीं, आज को लिए भी प्रासंगिक है। मैं सभी धर्म तंत्रों में बौद्ध धर्म से सबसे अधिक प्रभावित हुआ क्योंकि वह अधिक से अधिक दर्शन और कम से कम धर्म है, जबकि इस्लाम अधिक से अधिक धर्म और कम से कम दर्शन है। जो धर्म जितना अधिक दर्शन होगा वह उतना ही कालजयी होगा और जो दर्शन जितना ही अधिक धर्म होगा वह उतना ही अधिक क्षणभंगुर होगा।'

साक्षात्कार के अंतिम चरण में पॉज़ भारतीय धर्म-संस्कृति ही नहीं भारतीय कलापद्धतियो से भी स्वयं को प्रभावित मानते हैं। भारतीय लोक कला को भारत के जीवन का अविभाज्य अंग मानते हुए वे कहते हैं कि भारतीय बूर्जुआ इस लोक संस्कृति को नष्ट कर रहा है। इस जघन्य कृत्य का दोषी वे उस अंग्रेज़ी पढ़े-लिखे वर्ग को मानते हैं जो सत्ता में बैठा हुआ है - 'मुझे सबसे अधिक घृणा यहाँ के अंग्रेज़ी पढ़े वर्ग से है, जो एक ओर साहित्य और संस्कृति का स्वांग करता है, दूसरी ओर अपने ही देश की सांस्कृतिक आकांक्षाओं को नष्ट करता है। इसने कला को संग्रहालय की चीज़ बना दिया है। इसकी रुचि घटिया और भद्दी है। और यही यहाँ का शासक बन बैठा है। यह पाखंडी और नक्काल वर्ग है। इसने अंग्रेजी साहित्य का भी अधूरा अध्ययन किया है। शेक्सपीयर उसके लिए ड्राइंग रूम की सजावट की चीज़ है जब तक यह वर्ग बना रहेगा तब तक भारत का साहित्य और कला विकसित नहीं हो सकते।' बल्कि इससे भी आगे जाकर उन्हें लगता है कि ब्रिटेन और अमेरिका भारत के इन अंग्रेजीपरस्त शासक वर्ग के माध्यम से आज भी भारत में पूर्ववत् बने हए हैं।

भारत के बुद्धिजीवियों से पॉज़ को गहरा असंतोष है क्योंकि वे अक्सर राजनेताओं के पिछलग्गू या अकर्मण्य दास बन जाते हैं। जबकि 'राजनीति को बदलने के लिए राजनीति से विद्रोह और समाज को बदलने के लिए समाज की आलोचना, गहरी शंका आवश्यक होती है।' उन्हें चित्रकार स्वामीनाथन, पत्रकार शामलाल, साहित्यकार नीरद चौधरी सरीखे बुद्धिजीवियों और कलाकारों से आशाएँ हैं क्योंकि ये प्रतिष्ठित मूल्यों से उदासीन हैं, इनमें शंका की प्रवृत्ति है और ये आलोचनात्मक दृष्टि रखते हैं किंतु ऐसा प्रतीत होता है कि पॉज़ भारत के उन्हीं संस्कृतिकर्मियों से परिचित थे जो अंग्रेज़ी के माध्यम से अपनी पहचान बना सके हैं। जनता के बीच निरंतर सक्रिय साहित्यकारों-बुद्धिजीवियों के विषय में उन्हें जानकारी नहीं है। अन्यथा वे उपर्युक्त तीन नाम या इन जैसे लेखकों के नाम लेकर संतुष्ट न हो जाते। निश्चय ही, यह भारतीय परिदृश्य का एकांगी रूप है, पूरी तस्वीर नहीं।

सारांश यह कि विवेच्य साक्षात्कार में मात्र कवि, कला-समीक्षक, के रूप में उपस्थित न होकर पॉज़ एक ऐसे विचारक के रूप में उभरते हैं जो अपने समय, सभ्यता के ज्वलंत प्रश्नों से टकराता है, अपने समय में आ रही खामियों को गहराई से पहचानता है। उन्हें दूर करने की चिंता में ऊभचूभ होता, झुंझलाता उन्हें विश्लेषित कर एक रोशनी खोजने का प्रयास करता है। वह वर्तमान सभ्यता की एकांगिता को रेखांकित कर उसका विरोध करता पाया जाता है। उनका स्पष्ट मत है कि राजनीतिक क्रांतियों, विचारधाराओं, सभ्यताओं ने अपना दायित्व पूरा नहीं किया। वे समग्र मानव-जीवन पर, उसकी प्रतिष्ठा पर ध्यान नहीं दे पाई है। यही कारण है कि वर्तमान समय अराजक, मूल्यहीन और राज्यसत्ताएँ निरंकुश होती चली गई हैं। राजनीति अपने को सत्ता-प्रतिष्ठानों में सुरक्षित रखने की रणनीति अपनाती जन-निरपेक्ष होती चली गई है। साहित्य-संस्कृति-कला, जो मानव जीवन को मूल्यवत्ता प्रदान करती है, उसे इन्होंने अपना पिछलग्गू बना लिया है। इस जड़ व्यवस्था को तोड़ने का सिर्फ़ एक ही उपाय है : सचेत

संस्कृति-कर्मियों द्वारा विरोध और विद्रोह। इस विरोध-विद्रोह की संभावनाएँ पॉज़ को वि- कलाकारों-बुद्धिजीवियों में ही नजर आती हैं।

कथनीय है कि हिंदी की नई कविता के सुपरिचित हस्ताक्षर श्रीकांत वर्मा स्वयं मोहभंग, आस्था-अनास्था के बीच झूलते, प्रतिष्ठित मान मूल्यों का विरोध करते, प्रतिबद्ध प्रगतिशील विचारों को खारिज कर आगे बढ़ने वाले कवि हैं। वैचारिक प्रतिबद्धता की अपेक्षा संशय, शंकाकुल दृष्टि, बेचैनी को वे अपने साहित्य के लिए अधिक प्रामाणिक एवं प्राणवान् मानते रहे हैं। विश्व स्तर पर चल रहे द्वंद्व और घटनाएँ - द्वितीय विश्वयुद्ध, लोकतंत्र, पूंजीवाद का विकास, साम्यवाद, उपभोक्ता संस्कृति उन्हें बार-बार सोचने को विवश करते हैं। वे अपने साहित्यिक कर्म में भी इधर से उधर भटकते हैं, कोई निश्चित राह नहीं खोज पाते हैं। ऐसे में उन्हें ऑक्टेवियो पॉज़ जैसा व्यक्तित्व आकर्षित करता है, जो मार्क्स विरोधी तो नहीं है पर मार्क्स और उसके दर्शन को अपर्याप्त मानता है। यही कारण है कि श्रीकांत वर्मा ऑक्टेवियो पॉज़ से प्रतिबद्धता के सवाल पर बातचीत करते हैं पर उसे ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में उठा नहीं पाते, कोई दिशा नहीं दे पाते। इससे हानि यह होती है कि जो साक्षात्कार एक सार्थक बहस का रूप ग्रहण कर सकता था, वह कहीं सतही, कहीं अधूरा रह जाता है। इतना अवश्य है कि विश्व स्तर पर साहित्य, संस्कृति के क्षेत्र में चल रही हलचलों, गतिविधियों, घटनाओं की सूचना इससे एक जगह मिल जाती है। लेकिन कोई गहरी अंतर्दृष्टि इससे नहीं मिल पाती।

12.5 साक्षात्कार की लेखन-शैली

अब, एक दृष्टि उक्त साक्षात्कार के स्वरूप-संयोजन पर डालें। श्रीकांत वर्मा सर्वप्रथम साक्षात्कारदाता ऑक्टेवियो पॉज़ के व्यक्तित्व, उनके विचारों-निष्ठाओं, उनके सांस्कृतिक महत्व को उजागर करते हैं। साथ ही, विश्व के बुद्धिजीवियों के बीच चल रहे 'कमिटमेंट' संबंधी प्रश्न को वे इस रूप में प्रस्तुत करते हैं कि वह यथासंभव पाठकों के समक्ष स्पष्ट हो जाय। इसके लिए अतियथार्थवादी कला-आंदोलन तथा दार्शनिक हीडेग्गर या सार्त्र, कामू, काफ्का के संदर्भों से बहस के पक्ष-प्रतिपक्ष को उभारते हैं। भले ही, प्रति प्रश्न के रूप में वे उन बिंदुओं या उस समय के अंतर्विरोधों को नहीं उभार पाते पर बहस को शब्दों के जाल में भी नहीं उलझाते। एक उदाहरण द्रष्टव्य है :

'हाँ! शायद आपको नहीं मालूम होगा और मैं आपको बतलाना चाहता हूँ कि अपने अन्य सुर्रियलिस्ट दोस्तों की तरह मैं भी एक अर्से तक मार्क्सवादी रहा हूँ और अंत में मैंने पाया कि इतिहास ने हमें धोखा दिया और हमने अपने-आपको। ऐसी अवस्था को प्राप्त हो जाने के बाद ही लेखक के सामने सबसे बड़ा संकट उपस्थित होता है। सबसे बड़ा संकट यही अनुभव है कि सोचने के लिए आगे क्या है? मगर यही एक और भी नयी सृष्टि की शुरुआत है।....'

वे अपनी साफ़-सुथरी बातचीत की भाषा शैली में विश्व कविता के महत्वपूर्ण कवियों-साक्षात्कारों के उदाहरणों (ब्रेख्त, मायकोव्स्की, बीट कविता) से विषय को स्पष्ट करने का प्रयास करते हैं। इससे पाठक विषय को भली-भाँति हृदयंगम कर लेता है। यही शैली उनके समूचे साक्षात्कार में विद्यमान है। श्रीकांत वर्मा का भाषा की दृष्टि से कहीं यह आग्रह नहीं है कि वे शुद्ध साहित्यिक शब्दावली का प्रयोग करें। संप्रेषणीयता पर उनका ध्यान बराबर बना रहता है। इसलिए पाठक शीघ्र ही साक्षात्कार पढ़ते समय साक्षात्कर्ता के साथ हो लेता है। कथनीय है कि हिंदी-उर्दू का झगड़ा उनके यहाँ नहीं मिलता। यही नहीं, प्रचलित अंग्रेज़ी शब्द भी सहज प्रवाह में उनके यहाँ आ जाते हैं। आशय यह है कि किसी विशेष प्रकार का शब्दभंडार या भाषा शैली का आडम्बर रचने का प्रयास श्रीकांत वर्मा नहीं करते। अतः यह कहा जाए कि संप्रेषणीयता इस साक्षात्कार के गद्य की पहचान है, तो अनुचित न होगा।

12.6 सारांश

एम.ए. हिंदी के बीज पाठ्यक्रम 'नाटक और अन्य गद्य विधाएँ' के अंतिम खंड की अंतिम इकाई है। इस इकाई में आपने हिंदी के वरिष्ठ कथाकार और कवि श्रीकांत वर्मा द्वारा मेक्सिको के कवि और कला चिंतक ऑक्टेवियो पॉज़ से लिए गए साक्षात्कार की विशेषताओं का अध्ययन किया है।

साक्षात्कार पत्रकारिता की एक महत्वपूर्ण विधा है। इसमें पत्रकार किसी महत्वपूर्ण व्यक्ति से बातचीत करता है, उससे सवाल पूछता है। पाठक महत्वपूर्ण लोगों के विचारों को जानना चाहते हैं। साक्षात्कार में जिनसे साक्षात्कार लिया जाता है, वह तो महत्वपूर्ण होता ही है, साक्षात्कार लेने वाला भी कम महत्व नहीं रखता। साक्षात्कार की सफलता इस बात पर निर्भर करती है कि किस तरह के प्रश्न-प्रतिप्रश्न पूछ गए हैं।

हिंदी में साक्षात्कार लेने की परंपरा बहुत पुरानी नहीं है। लेकिन अब इसकी एक समृद्ध परंपरा बन गई है। बनारसीदास चतुर्वेदी से लेकर वर्तमान साहित्यिक-असाहित्यिक पत्रकारिता तक साक्षात्कार लेने की परंपरा गतिशील है। आमतौर पर जब तक लेखक दूसरे लेखक से साक्षात्कार लेता है तो वह एक तरफा बातचीत नहीं रहती बल्कि वहाँ सवाल पूछने वाला भी उतना ही महत्वपूर्ण हो जाता है।

जिस साक्षात्कार का आपने अध्ययन किया है वह साहित्यिक साक्षात्कार का एक उत्कृष्ट उदाहरण है। यह एक भारतीय लेखक (श्रीकांत वर्मा) द्वारा दूसरे देश (मेक्सिको) के लेखक (ऑक्टेवियो पॉज़) से लिया गया साक्षात्कार है। इसलिए स्वाभाविक है कि इस साक्षात्कार के केंद्र में साहित्य और कला संबंधी प्रश्न हैं। लेकिन साक्षात्कार इन सवालों तक ही सीमित नहीं है। वह राजनीति, धर्म, दर्शन और संस्कृति के व्यापक सवालों से भी जुड़ता है। इसमें व्यक्त चिंताएँ भारत और मेक्सिको तक सीमित नहीं है बल्कि सभी देशों और संपूर्ण मानवता से संबंधित है। ऑक्टेवियो पॉज़ की अपनी एक स्पष्ट विश्व दृष्टि है। संभव है कि हम उससे पूरी तरह सहमत न हों।

इस साक्षात्कार में श्रीकांत वर्मा ने ऑक्टेवियो पॉज के सामने प्रश्न ही रखे हैं, अपना मत प्रायः नहीं रखा है। लेकिन उनके प्रश्नों में ही उनके वैचारिक दृष्टिकोण को हम कुछ हद तक पहचान जाते हैं।

श्रीकांत वर्मा द्वारा लिया गया यह साक्षात्कार जितने व्यापक प्रश्नों को अपने दायरे में लाता है, वह इसे एक महत्वपूर्ण साक्षात्कार बना देता है, लेकिन प्रायः साक्षात्कारकर्ता ऐसे प्रतिप्रश्न पूछने में असफल रहा है जिससे कि ऑक्टेवियो पॉज़ को अपनी बात ज्यादा स्पष्ट रूप में कहने का अवसर मिलता या उनके दृष्टिकोण में निहित अंतर्विरोधों को उजागर किया जा सकता।

इन सीमाओं के बावजूद यह एक महत्वपूर्ण साक्षात्कार है जो हिंदी पाठकों के वैचारिक दायरे का विस्तार करता है।

अभ्यास

1. उपर्युक्त साक्षात्कार में जिन महत्वपूर्ण मुद्दों पर ऑक्टेवियो पॉज ने अपने विचार प्रस्तुत किए हैं, उनका संक्षिप्त विवेचन कीजिए।
2. एक साहित्यिक विधा के रूप में साक्षात्कार के महत्व और प्रासंगिकता पर प्रकाश डालिए।